

BIBLIOTHECA INDICA :
A
COLLECTION OF ORIENTAL WORKS

PUBLISHED BY THE
ASIATIC SOCIETY OF BENGAL.

NEW SERIES, NOS. 1201, 1202, 1213, 1237, 1255.

THE CATAPATHA BRĀHMAṆA
OF THE WHITE YAJURVEDA

WITH THE
COMMENTARY OF SAYANA CR YA

EDITED BY

ĪĀRYA SATYAVRATA SĀMAŚRAMĪ. F. A. S. B., (HONV.)

*Lecturer and M. A. Examiner of the Vedas in the University
of Calcutta. Honourary Member and Member of the
Philological Committee of the Asiatic Society
of Bengal, Member and Moderator of the Vedic
and the Philosophical Examinations of
the Board of Sanskrit Examinations,
Bengal, Behar & Orissa, Editor,
Author, Commentator, Anno-
tator, Compiler, Translator.
& Publisher of different
Vedic Works &c. &c.*

VOL. VII. KANDA VII.

~~~~~  
CALCUTTA :

Printed by Hitavrata Chattopādhyāya,  
at the ~~Satya Press~~, 27, Ghose Lane.





# ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥

॥ शुक्लयजुर्वेदस्य माध्यन्दिनशाखीयम् ॥

श्रीमत्सायणाचार्यकृत-‘वेदार्थप्रकाश’-नामभाष्येण  
सहितम् ।

वङ्गदेशीयास्यायितिकसमितेरनुमत्या व्ययेन च,

सामग्रमीतियशोनामाचार्यसद्व्रतश्रमैर्वा

यथामति संशोध्य सण्ठीक्य च सम्पादितम् ।

॥ ७ भा० । ७ का० ॥

( सप्तमकाण्डात्मकः सप्तमो भागः )



कलिकाता-राजन्वत्याम् ,

१८६७-संवत्समायां सत्ययज्ञेण यज्ञतो मुद्रितम् ॥

|                 |         |
|-----------------|---------|
| RMIC LIBRARY    |         |
| Acc. No. 47,650 |         |
| Class No.       |         |
| Date            | 22.9.62 |
| St. Card        | M.B.    |
| Class.          | G.G.    |
| Cat.            | ✓       |
| Rk. Card        | Je      |
| Checked         | Ad      |

## ॥ अथ सम्पादकोक्तिः ॥



अथैतस्य सप्तमकाण्डस्याभिधानं हस्तिघट मिति । क्वचित् पुस्तके 'हस्तिघट्'-इति च दृश्यते । त मनुसृत्य डा० वेबर्-महादयेन स्वकृतैतत्काण्डीयस्वल्पभूमिकायाष्टीपन्यां लिखितं हस्तिघट्शब्दबोधनम्, तद्यथा—

"The name of this kanda is rather questionable the one above mentioned is taken from M. as the best authority. The other manuscripts in the Mādhyandina as well as the Kānva Cākhā call it Hastighata. Is hastin=one ? hastishat=seven ?"

परं न तत्र किं मपि प्रमाणं दर्शितम्, नापि किञ्चित् फलं तादृशपाठस्य प्रकाशितम् । षष्ठे काण्डे भस्मावहरणान्त सुखासम्भरणं विहितम्, विधास्यति चाष्टमे सोमयागशेषभूतं चयनव्यापारम्, इह तु सप्तमे सन्ति व्युद्भूतनादीनि चयन-पूर्वकृत्यानि ।

तानीमानि तैत्तिरीयकसंहितायाः पञ्चमकाण्डीय-द्वितीय-प्रपाठकस्य तृतीयाद्यनुवाकेषु द्रष्टव्यानि, तत्तद्वाङ्मयेषु च विशेषतः ।

तस्यैतस्य सप्तमकाण्डस्य पाठान्तरादिसम्पादनाय सङ्गृहीतानां मादर्शपुस्तकानां मेवं नामधेयानि कल्पितानि—

क = संवत्-१६८०-लिखितं २५-पत्रात्मकं पुस्तकं पूर्णम् ।  
 ख = स्यात्पुस्तकसमकालिकम् हीनाम्यकतिपय मपरपुस्तकम् ।  
 ग = डा०-वेबर्-सम्पादितं ( ख० १८४८-मुद्रितम् ) पूर्णम् ।  
 घ = भाजमेर-प्रकाशितम् ( सं० १८५८-मुद्रितम् ) पूर्णम् ।  
 ङ = भा० सं० पु०, १६८१-संवत्लिखितम्, १३१-पत्रात्मकम् पूर्णम् ।  
 च = भा० सं० पु०, ४८-पत्रात्मकम् , सं० १८६८-लि०, पूर्णम् ।  
 छ = भाषायितिकसमितितो लब्धं (ग०६०)८८-पत्रात्मकं पूर्णम् ।  
 ज = डा०-वेबरेणाविलुप्तमाक्षराणि विचित्य ग-पुस्तके समाहृतम् ।  
 एष्वष्टस्वादृशपुस्तकेषु प्रथमचतुष्कं मूलस्यापरचतुष्कं भाष्यस्येति  
 विवेकः ॥

कालीकोठा-राजन्वती ।  
 सं० १६६७ । ख० १६१० । } श्रीसत्यव्रतशर्मा ।  
 ( आवसथः, सामञ्जस्य, आचार्यश्च. )

अथ

## शतपथब्राह्मणसप्तमकाण्डीय- सूचीपत्राणि ।

### ॥ अथ प्रपाठकसूची ॥

|                                             |                    |       |
|---------------------------------------------|--------------------|-------|
| अथ प्रथमः प्रपाठकः ( गार्हपत्यवेद्यन्—      | १ अ० १ ब्रा० ) ... | १ पृ० |
| अथ द्वितीयः प्रपाठकः ( अथ दर्भस्तम्बसुप—    | २ अ० ३ ब्रा० ) ... | १२३   |
| अथ तृतीयः प्रपाठकः ( आत्मन्नग्निं गुह्यीते— | ४ अ० १ ब्रा० ) ... | २२७   |
| अथ चतुर्थः प्रपाठकः ( क्रूर्म सुप्रदधाति—   | ५ अ० १ ब्रा० ) ... | ३२५   |

### ॥ अथाध्यायसूची ॥

|                                           |                      |       |
|-------------------------------------------|----------------------|-------|
| अथ प्रथमाध्यायः ( गार्हपत्यं चेद्यन्—     | १ प्र० १ ब्रा० ) ... | १ पृ० |
| अथ द्वितीयाध्यायः ( अथातो नैर्ऋतीर्—      | १ प्र० ३ ब्रा० ) ... | ७६    |
| अथ तृतीयाध्यायः ( चितो गार्हपत्यो—        | २ प्र० २ ब्रा० ) ... | १५१   |
| अथ चतुर्थाध्यायः ( आत्मन्नग्निं गुह्यीते— | ३ प्र० १ ब्रा० ) ... | २२७   |
| अथ पञ्चमाध्यायः ( क्रूर्म सुप्रदधाति—     | ४ प्र० १ ब्रा० ) ... | ३२५   |

## ॥ अथ ब्राह्मणसूची ॥

| सङ्ख्या | ब्राह्मणनाम.             | प्र० ब्रा० | अ० ब्रा० | पृष्ठे |
|---------|--------------------------|------------|----------|--------|
| १ ...   | युद्धनब्राह्मणम्.        | १ १ ...    | १ १ ...  | १      |
| २ ...   | प्रजापतिविक्षेपब्रा०     | १ २ ...    | १ २ ...  | ४६     |
| ३ ...   | नैर्ऋतिब्राह्मणम्.       | १ ३ ...    | २ १ ...  | ७६     |
| ४ ...   | प्रायणीयब्राह्मणम्.      | १ ४ ...    | २ २ ...  | ६८     |
| ५ ...   | दर्भस्तम्बब्राह्मणम्.    | २ १ ...    | २ ३ ...  | १२३    |
| ६ ...   | उदयमसब्राह्मणम्.         | २ २ ...    | २ ४ ...  | १३३    |
| ७ ...   | सोमब्राह्मणम्. .         | २ ३ ...    | ३ १ ...  | १५१    |
| ८ ...   | व्यातिय्यब्राह्मणम्.     | २ ४ ...    | ३ २ ...  | २००    |
| ९ ...   | अग्निग्रहणब्राह्मणम्.    | ३ १ ...    | ४ १ ...  | २२७    |
| १० ...  | उपधानब्राह्मणम्.         | ३ २ ...    | ४ २ ...  | २७८    |
| ११ ...  | .तदेव                    | ४ १ ...    | ५ १ ...  | ३२५    |
| १२ ...  | पशुशीर्षोपधानब्राह्मणम्. | ४ २ ...    | ५ २ ...  | ३६७    |

## ॥ ऋषिनामसूची ॥

| ऋषिनाम.    | प्र. ब्रा. क. | पृष्ठे |
|------------|---------------|--------|
| वामकशायणः  | १. १. ११.     | ५२     |
| शाङ्खिल्यः | ४. २. ४२.     | ३८४    |

## ॥ अथ कण्डिकासूची ॥

| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                  | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| अक्रान्तिमं पितरो लोकं ... २        |        | अथ पुरुषशीर्षं मभिवृहोति ३७५      |        |
| अग्ने तव श्रवो वय इति ... १५६       |        | अथ पुरुषशीर्षं सुहृन्नाति ... ३७१ |        |
| अग्ने दिवो अर्णं मच्छा जिगासीति ८   |        | अथ पुष्करपर्णं सुपदधाति ... २२६   |        |
| अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति ... ७     |        | अथ पूर्वाह्णेन दक्षिणाम् ... १०१  |        |
| अग्ने युद्धवा हि ये वृव ... ३३६     |        | अथ प्रायणीयं निर्वपति ... ६८      |        |
| अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषं मसीति ४ |        | अथ यदन्तराह्वनीयं च ... ५३        |        |
| अथ गार्हपत्य एवोषा ... १५२          |        | अथ याः पञ्चोत्तराः ... ३८३        |        |
| अथ गोः। इमं साहसं ३७८               |        | अथ ये एते हे यजुषी ... ५५         |        |
| अथ जघनाह्वेनोदीचीम् ... १००         |        | अथ रुक्मं सुपदधाति ... २३०        |        |
| अथ जघनेन परीत्य। उत्तरतो ६          |        | अथ रेतस्त्रिंशोऽपदधाति २८५        |        |
| अथ तेनैव पुनः परीत्य ... १०         |        | अथऽर्चयेऽपदधाति ... २८८           |        |
| अथ दक्षिणतः। अभ्यावर्त्तस्व १५६     |        | अथ लोकम्पुणा सुपदधाति ... ११      |        |
| अथ दक्षिणतो गाम् ... ३७३            |        | अथ लोमेष्टका उपदधाति ... १५४      |        |
| अथ दक्षिणतोऽजम् ... ३७४             |        | अथ विश्वज्योतिषं सुपदधाति २८७     |        |
| अथ दर्भस्तम्बं सुपदधाति ... १२३     |        | अथ सत्यं साम गायति ... २२८        |        |
| अथ दूर्वष्टका सुपदधाति ... २८१      |        | अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत इमे ... २३६  |        |
| अथ द्वियजुषं सुपदधाति ... २८३       |        | अथ सर्वाँषधं वपति। एतद्दे १३५     |        |
| अथ पञ्चात्। अग्ने यत्ते ... १५७     |        | अथ साम गायति। एतद्दे ... २३५      |        |
| अथ पुरीषं निर्वपति ... १२           |        | अथ सिकता निर्वपति ... ४           |        |
| अथ पुरुषं सुपदधाति ... २३२          |        | अथ सुचाऽपदधाति ... २४०            |        |



| कण्डिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                  | पृष्ठे |
|------------------------------------|--------|-----------------------------------|--------|
| अथाजस्य । अजो ह्यने ... ३८०        |        | अथैन मेजयति ... ३२८               |        |
| अथातः सम्पदेव । एकविंशति-          |        | अथैनं परिश्रिङ्गिः परिश्रयति ४    |        |
| रिष्टका नव यजूंषि ... ५४           |        | अथैनं प्रसलयावर्त्तयति ... ३३७    |        |
| अथातः सम्पदेव । चतस्रो ... १६६     |        | अथेना आप्यानवनीभ्यां ... १६५      |        |
| अथातोऽधिरोहणस्यैव ... २०६          |        | अथेनां विमुञ्चति । अप्रदाहाय १४   |        |
| अथातो निरुक्तानिरुक्ताना मेव १३६   |        | अथेनान् विमुञ्चति । आप्मा तं १०३  |        |
| अथातो नैर्ऋतीर्हन्ति ... ७६        |        | अथेनानुपदधाति ... ३७१             |        |
| अथात्मानं विवृणोति ... १०२         |        | अथेना मभिजुहोति ... ३३५           |        |
| अथान्तरेणोदचमसं निनयति ८१          |        | अथेनौ सन्निवपति ... १३            |        |
| अथावेः । इम मूर्णायु- ... ३७६      |        | अथेषु हिरण्यशकलान् ... ३६६        |        |
| अथाश्वः शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति २०३ |        | अथोखा उपदधाति ... ३३४             |        |
| अथाश्वस्य । इमं मा हिंसी- ३७८      |        | अथोत्तरतः । इष मूर्जं महं १५७     |        |
| अथाषाढा उपदधाति ... २८६            |        | अथोत्तरतोऽविम् । वरुत्रौ ... ३७४  |        |
| अथासन्दीः शिक्वः ... ८०            |        | अथोत्तरतोऽश्वम् । वातस्य ... ३७२  |        |
| अथास्याः सिकता आवपति १३            |        | अथोत्तर मर्हर्षं मनुदुह्य ... ३७६ |        |
| अथास्यां पय आनयति ... १४           |        | अथोत्तरवेदिं निवपति ... १५६       |        |
| अथाहवनीयऽएव पुष्करपर्णं १५३        |        | अथोत्तराम् । अयं ते योनिः ... ६   |        |
| अथाहवनीयऽएवाप्यानवतीभ्यां १५४      |        | अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् ... १०१  |        |
| अथाहानिभ्यः प्रद्वियमाणेभ्यः २०१   |        | अथोत्तरार्द्धेन पतिष्ठते ... ३७६  |        |
| अथैतः साये भूतेऽञ्चं ... २०६       |        | अथोदचमसाम्निनयति ... १३३          |        |
| अथैते द्वे यजुषी ... ५५            |        | अथोपश्रयां पिष्ट्वा ... ३३४       |        |
| अथैनं विवृणोति ... ६६              |        | अथोलूखलमुसलेऽउपदधाति ३२६          |        |
| अथैन मतश्चिनोति ... ६              |        | अथोषाम्निवपति । अयं वै ... ३      |        |
| अथैन मभिजुहोति ... १२४             |        | अथौदुम्बरी सुत्तरत उपदधाति ।      |        |
| अथैन उपविश्यामभिजुहोति ... २३८     |        | इन्द्रस्य त्वौजसा ... २४२         |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                   | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठं |
|------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| अथौदम्बरी मुत्तरत उपदधाति          |        | आर्मे यीरन्वाह ... ..                | २०३    |
| ऊर्वे रसं उदम्बर ... २४१           |        | आव्येन जुहोति ... ..                 | २३६    |
| अदादमोऽवसानं पृथिव्या ... २        |        | आत्मन्नग्निं गृहीति चेध्यन् ... २२७  |        |
| अपां गम्भन्त्वदीति । एतद्वापां ३२७ |        | आप्यानवतीभ्या मभिन्द्य ... २००       |        |
| अपां त्वा क्षये सादयामीति ३८६      |        | आप्यायस्व समेतु ते ... १६६           |        |
| अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति ३८५   |        | आरुह्याग्निं जघनेन स्वयमावृत्तां ३८२ |        |
| अपां त्वा पाथसि सादयामीति ३८७      |        | इरव्यन्नमे प्रथयस्व जन्तुभिः १६१     |        |
| अपां त्वा पुरीषे सादयामीति ३८७     |        | इषे राये रमस्व ... ..                | ३३५    |
| अपां त्वा भस्मन्सादयामीति ३८५      |        | इष्कर्त्तारं मद्धरस्य प्रचेतसं १६१   |        |
| अपां त्वायने सादयामीति ... ३८५     |        |                                      |        |
| अपां त्वा योनौ सादयामीति ३८७       |        | उत्तानं मुपदधाति ... ..              | २३३    |
| अपां त्वा सद्ने सादयामीति ३८६      |        | उदचमसा भवन्ति ... ..                 | १३३    |
| अपां त्वा सधस्थे सादयामीति ३८७     |        | उदरमुखा । योनिरुलूखलम् ३३७           |        |
| अपां त्वा सधिवि सादयामीति ३८६      |        |                                      |        |
| अपां त्वेमन्त्सादयामीति ... ३८४    |        | ऊर्जिं गृहीतायाम् ... ..             | ३३१    |
| अपां त्वोद्गन्त्सादयामीति ... ३८५  |        | ऊर्ज्जोऽनपाप्मातवेदः ... ..          | १६०    |
| अपाम्युष्ठं ममि योनिरघे ... २३०    |        |                                      |        |
| अपेतं वीतं वि च सर्पतात इति १      |        | ऋचे त्वेतीह । प्राणो वा ... ३७०      |        |
| अयं सोऽग्निः । यस्मिन्त्वोमं ७     |        | ऋतावान् मिति ... ..                  | १६२    |
| अर्थवे त्वा सद्ने सादयामीति ३८५    |        |                                      |        |
| अश्वं चाविं चोत्तरत । एतस्यां ३७१  |        | एकविंशतिर्वैव परिश्रितः ।            |        |
| अष्टाष्टसि सहमानेति ... २६१        |        | यजुर्द्वाविंशं ... ..                | ५४     |
| अष्टाविष्टका उपदधाति ... ११        |        | एकविंशतिर्वैव परिश्रितः ।            |        |
| असुन्वन्तं मयजमानं मिच्छेति ७८     |        | द्वादशं मामाः पञ्च ... १२०           |        |
| अस्थीनि वै परिश्रितः .. ५          |        |                                      |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                 | पृष्ठे |
|---------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| एतयोरुभयोर्गृहीतयोः ...         | ३३१    | त५ रुक्म उपदधाति । असौ           | २३३    |
| औदम्बरं भवति । जग्वै ...        | ६८     | तं वा उपपन्नमय मादित्यस्य        | २०७    |
| औदम्बरे भवतः । जग्वै ...        | ३३०    | तं वा एतम् । अत्र पक्षपुच्छ-     | ६      |
| काण्डात् काण्डात् प्ररोहन्ती    | २८२    | तं वा एतम् । इत जग्वै प्राचं     | ३३७    |
| काश्चर्यमर्थी दक्षिणत उप- ...   | २४०    | तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम्   | ७      |
| कूर्मं मुपदधाति । ...           | ३२५    | त५ ह्येके त्रिचितं चिन्वन्ति ... | ५४     |
| गां चार्जं च दक्षिणत ...        | ३७२    | त एतत् सद्यःसाम पुरस्ताद्        | २२८    |
| गायत्रेण त्वा हृन्दसा सादयामि   | ३८७    | त एतानि सर्पनामान्यपश्यन्        | २३६    |
| गार्हपत्यं चिच्छन् पलाश-        | १      | त एते पशवः । ताम्रानौप-          | ३७५    |
| चतसः सीता यजुषा कृषति ।         |        | त एते सर्वे प्राणा यदवाप्ता      | २६०    |
| तद्य इमे श्रीर्षश्चत्वारो ...   | १०३    | तत् प्रादेशमात्रं भवति ...       | ३३२    |
| चतसः सीता यजुषा कृषति ।         |        | तथैवैतद्वजमानः । आत्मानं         | ७७     |
| तद्यच्चतसृषु ...                | १०५    | तथैवैतद्वजमानः । यत् सद्यः       | २२८    |
| चतुर्भिः सन्निवपति । तद्य       | १३     | तदग्रेण गार्हपत्यम् ...          | २००    |
| चित्तं स्थिति । चिन्वति ह्येनाः | ५      | तदाहुः । कथं मस्येता अहो-        |        |
| चित्तो गार्हपत्यो भवति ...      | १५१    | रात्राभ्यां सुपहिता ...          | १६३    |
| चित्तं देवानां मुदगादनीकं       | ३७६    | तदाहुः । कथं मस्येता अहो-        |        |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।     |        | रात्रैः सम्पन्ना अम्यूना ...     | १६३    |
| तदस्मिन्नेतत् सर्वं ...         | ३३३    | तदाहुः । कथं मस्येतावात्मानौ     | २८४    |
| तं यत्र देवाः समस्तुर्वन् ।     |        | तदाहुः । कथं मस्येताः पक्षाः     | १५८    |
| तदस्मिन्नेतं प्राणं ...         | २८२    | तदाहुः । कथं मस्येताः प्रथङ्     | १६३    |
|                                 |        | तदाहुः । कथं मस्येताः सर्वे      | १६४    |
|                                 |        | तदाहुः । कथं मस्येता पक्षा       | ३३४    |
|                                 |        | तदाहुः । कथं मेघ पुरुषः ...      | २८१    |
|                                 |        | तदाहुः । कस्मादभिस्त्रयमावृत्त   | २६१    |

| कडिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठ | कडिकाप्रतीकम्.                      | पृष्ठ |
|-------------------------------------|-------|-------------------------------------|-------|
| तदाहुः । केतासा मसङ्गातानां १६४     |       | ०—० नु तत् तमः ... ७६               |       |
| तदाहुः । नैतस्य पुरुषस्य ... २४४    |       | तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा         |       |
| तदाहुः । यत् प्रजा विश्वज्योतिः २६१ |       | ०—० नु तानि ... २०२                 |       |
| तदाहुः । यत् प्रथमा मेव ... २०१     |       | तद्दे योनिः परिश्रितः । उख-         | ६     |
| तदाहुः । यद्यं लोको गार्हपत्यो ५६   |       | तं देवा अग्नौ प्रावृज्जन् ... ५०    |       |
| तदाहुः । यद्सावेव ... २८२           |       | त मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना ... ३२६   |       |
| तदाहुः । यदाद्रक्ष रेतः ... १६२     |       | त मुत्तरार्द्धनाभिः अन्तरेण २०४     |       |
| तदाहुः । यदिमा आप एतानि ३८३         |       | तं पुष्करपर्शं ऽउपदधाति ... २३१     |       |
| तदाहुः । यद्वोनिः परिश्रितो १५३     |       | तं प्रत्यक्षं यन्तम् । एतां ... २०४ |       |
| तदाहुः । यद्वेतः सिकता ... १६२      |       | तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः ५२        |       |
| तदाहुः । यां वै तत् प्रजा ... ३८१   |       | तस्य यदधरं कपालम् अयम् ३२५          |       |
| तदेतद्वक्षः शृङ्गा । पुरस्तात् ३६६  |       | तस्य शिर एवाह्वयनीयः । अथ ५३        |       |
| तदेव लोकोऽभ्युक्तः । तद्दे ... ३३१  |       | तस्याय मेव लोकः प्रतिष्ठा ५०        |       |
| तदेवा वै सा प्रतिष्ठा । यां ... ५१  |       | तां वै प्रजापतिनोऽपदधाति ... २७६    |       |
| तद्वैके । उभयत्रैव अलाश ... १५२     |       | ता उत्तरवेदौ निवपति । योनि १५६      |       |
| तद्वैके ऽन्वाहुः । पुरीषासो २०२     |       | ता उभय्य एकविंशतिः सम्पदान्ति १२    |       |
| तद्वैकेऽपि । यद्वैकः ... ३७०        |       | ता उभय्यः षोडश सम्पदान्ति १०२       |       |
| तद्वैके । यं य मेव पशु सुप० ३७६     |       | ता एता अङ्गुलयः ... ३८८             |       |
| तदात् तत् सत्यम् । आप ... २२६       |       | ता एता एकयाख्यानाः ... १३६          |       |
| तदादग्निभ्य इति । बहवो ... २०२      |       | ता एता दिशः । ताः सर्वत- १५८        |       |
| तदादेते ऽअचोपदधाति ... २८८          |       | ता एता यजुश्च इहकाः ... १६५         |       |
| तदाः पञ्चदशपूर्वाः । ता अपस्या ३८२  |       | ता एता यजुश्च इहकाः ... १५८         |       |
| तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा         |       | ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति १५३     |       |
| ०—० नु अस्मात् ते ... ३६८           |       | तां न रिक्ता मवेहेत नेदिक्तां १३    |       |
| तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा         |       | तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति ३६८   |       |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                 | पृष्ठं |
|-----------------------------------------|--------|----------------------------------|--------|
| ताभ्येताभ्यन्योऽभ्येन गृहीतानि          | ३३१    | यथास्मिन् पुरुषे ...             | २३५    |
| ताभिरेतां दिशं यन्ति ...                | ७८     | तेऽब्रुवन् । उपतज्जानीत् यथेदं   |        |
| ता मयौ प्रवृण्वन्ति । यथेवेनं ...       | ५१     | तमः पाप्मान- ...                 | ७६     |
| तावन्नीवत् । उप मेतं ...                | २४१    | ते रेतस्त्रिचोर्विलयोपदधाति      | ३२६    |
| तावत्येताविन्नामी ऽएव बाहू              | २४३    | ते ह्येके तिरश्चा ऽउपदधाति       | २४३    |
| ता वा ऽएतास्त्रिचोऽब्रुवन् भः           | ५५     | त्रयोदशैता आहृतयो भवन्ति         | १२६    |
| ता वै सायं प्रातरादधाति ...             | ५२     | त्रिभिरुपतिष्ठते । त्रय इमे लोका | २३८    |
| ता ह्येके परस्तादवीचीरुपदधाति ८०        |        | त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे        | ३२६    |
| तिष्ठभिः कष्टे चाकष्टे च वपति ।         |        | त्रीन् कष्टे चाकष्टे च निनयति ।  |        |
| ०—० एतदन्नं दधाति ...                   | १३६    | ०—० अपो दधाति ...                | १३५    |
| तिष्ठभिः कष्टे चाकष्टे च वपति ।         |        | त्रीन् कष्टे चाकष्टे च निनयति ।  |        |
| ०—० एतद् भिषग्व्यति                     | १३८    | ०—० वृष्टिं दधाति ...            | १३४    |
| तिष्ठभिस्त्रिद्विभिर्गृभिर्वपति ।       |        | त्रींस्त्रीगुदचमसान्निनयति ।     |        |
| ०—० एतदन्नं दधाति                       | १३६    | ०—० अपो दधाति ...                | १३४    |
| तिष्ठभिस्त्रिद्विभिर्गृभिर्वपति ।       |        | त्रींस्त्रीगुदचमसान्निनयति ।     |        |
| ०—० एतद् भिषग्व्यति                     | १३७    | ०—० वृष्टिं दधाति ...            | १३३    |
| तिस्र इष्टका उपदधाति । त्रिष्टद् ८०     |        | त्वं यविके दाशुष इति ।           |        |
| तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दी ८१         |        | यजमानो ...                       | ३८२    |
| तिस्रस्त्रिषः सीताः कषति                | १०२    | अस्रस्त्रिष्वन्द् एषिवी मनु ...  | २३४    |
| तेऽग्नि मब्रुवन् । न वा ऽइतोऽग्न्या ४६  |        | दादशभिर्गृभिः कष्टे वपति ।       |        |
| ते चेतयमानाः । एतत् सामा २३५            |        | ०—० एतदन्नं दधाति ...            | १३६    |
| ते चेतयमानाः । एता इष्टका               | ७६     | दादशभिर्गृभिः कष्टे वपति ।       |        |
| ते देवा अब्रुवन् । न वा ऽइतोऽग्न्या ४६  |        | ०—० एतद् भिषग्व्यति              | १३७    |
| तेऽब्रुवन् । अन्नं वा ऽअयं प्रजापतिः ४१ |        | दादशसीताक्षूष्णीं कषति           | १०२    |
| तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत्               |        |                                  |        |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                     | पृष्ठे |
|----------------------------------------|--------|--------------------------------------|--------|
| रादशोदक्षमसान् लष्टे निनयति ।          |        | पुरीष्यासोऽव्यय इति ...              | ८      |
| ०—० अग्नौ दधाति ...                    | १३४    | पुरुषस्य प्रथमं सुत्वृजति ...        | ३७७    |
| रादशोदक्षमसान् लष्टे निनयति ।          |        | प्रजापतिः प्रजा व्यहृजत ...          | ४६     |
| ०—० वृष्टिं दधाति ...                  | १३३    | प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयं ...        | १३६    |
| वाभ्या सुपदधाति । सिपाव्यज-            | २३     | प्रजापतिद्व्या सादयत्विति । ०—०      |        |
| भ्रुवांसि धरयेति । तस्योक्तो बन्धुः ३३ |        | समुद्रस्येमन्त्रिषां ह्रीमं          | २७६    |
| नमः सु ते निर्वृते तिम्रतेज इति ७६     |        | प्रजापतिद्व्या सादयत्विति । ०—०      |        |
| नमोऽस्तु सर्पेभ्यो ये के च ...         | २३७    | पृथिव्या ज्योतिष्मती मिति            | २८७    |
| नानोपदधाति । ये नानाकामा               | ६५     | प्रत्येव प्रायणीयेन प्रचरति ...      | ६८     |
| निवेशनः सङ्गमनो वक्ष्णा मिति           | ८२     | प्रत्येवामि सुपतिष्ठते । एतद्वा      |        |
| नोपसृशति । पाप्मा वे निर्वृतिः         | ८०     | ०—० सामिचित एतां ...                 | ८२     |
| पञ्चदशोदक्षमसान्नियति ।                |        | प्रत्येवामि सुपतिष्ठते । एतद्वा ०—०  |        |
| पञ्चदशभिर्ऋग्भिर् ...                  | १३८    | सामिचिते वह्निर्वेदेति ...           | ३८१    |
| पञ्चदशोदक्षमसान्नियति ।                |        | प्रादेशमाचं भवतः । प्रादेश-          | ३३०    |
| पञ्चदशो वे वज्रः ...                   | १३५    | प्राणो गृह्यतेऽस्मादन्नसुदक्षिण-     | ३३१    |
| पयसि पुरुष सुपदधाति ...                | ३७२    | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आप्ता     | १५५    |
| पलाशशाखया व्युदूहति ...                | २      | वह्निर्वेदिरियं वे वेदिः । आप्तो     | १५५    |
| पशुरेष यदग्निः । सोऽन्नैव ...          | ३३६    | बाहूऽव्यस्येते । ते नानोपदधाति       | १०     |
| पशुशीर्षाण्युपदधाति पशवो               | ३६७    | बाह्वेनाग्निं माह्वरति । आप्ता       | १५४    |
| पञ्चादग्नेः प्राङ्मासीन. ...           | २४०    | बाह्वेनाग्निं माह्वरति । आप्तो वा    | १५५    |
| पादमाचो भवन्ति । अधस्यादं              | ७७     | बाह्वेनेवाग्निं सुत्वृजेत् । इमे ... | ३७७    |
| पावकवर्चाः शुक्लवर्चा इति ...          | १६०    | ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति    | २३२    |
|                                        |        | भूरसीति । भूर्ह्येयं भूमिरसीति       | २८०    |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठं | कण्डिकाप्रतीकम्.                        | पृष्ठं |
|-----------------------------------------|--------|-----------------------------------------|--------|
| मधुवाता ऋतायत इति ...                   | ३२६    | यद्देव यतिव्रजति । ०—० प्राणः १५२       |        |
| मह्यौ द्यौः पृथिवी च न इति              | ३२८    | यद्देव यतिव्रजति । ०—० रसः १५२          |        |
| मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्य मिति १४     |        | यद्देव सर्वनामैरुपतिष्ठत ...            | २३७    |
| मुखे प्रथमं प्रवस्यति ...               | ३७०    | यद्देव सर्ववैषधं वपति । एतद्वा १३७      |        |
| यद्देवस्याः पञ्चपुरस्तादुपदधाति         | २६०    | यद्देव सिकता निवपति । अग्ने ४           |        |
| यद्देव कूर्मं सुपदधाति । प्राणो         | ३२७    | यद्देव सिकता निवपति । प्रजा- १६४        |        |
| यद्देव चित्ते गार्हपत्ये ०—० प्राणः १५१ |        | यद्देव सुचा उपदधाति ...                 | २४१    |
| यद्देव । चित्ते गार्हपत्ये ०—० रसः १५१  |        | यद्देव स्वयामाढ्या सुपदधाति ।           |        |
| यद्देव । दर्भस्तम्ब सुपदधाति            | १२३    | प्रजापतिं ...                           | २७८    |
| यद्देव । दूर्वाष्टका सुपदधाति           | २८१    | यद्देव स्वयमाढ्या सुपदधाति ।            |        |
| यद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति ।            |        | प्राणो वै ...                           | २७८    |
| प्रजापतिर्वा ...                        | ३६८    | यद्देवात्मानं विक्रवति । य एवे- १०३     |        |
| यद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति ।            |        | यद्देवेवापस्या उपदधाति ...              | ३८४    |
| या वै ताः ...                           | ३६७    | यद्देवेवावप्रापयति । अग्निर्देवेभ्य २०५ |        |
| यद्देव पुरुष सुपदधाति ...               | २३३    | यद्देवेवावप्रापयति । असौ वा २०५         |        |
| यद्देव पुष्करपर्ण उपदधाति ।             |        | यद्देवेवाषाढा उपदधाति । वाग्वा २८६      |        |
| इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा ...             | २३१    | यद्देवेवेता नैर्ऋतीर्हरन्ति । प्रजा- ७७ |        |
| यद्देव पुष्करपर्ण उपदधाति ।             |        | यद्देवेवेते अत्रोपदधाति ...             | २८८    |
| प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णमियं             | २६१    | यद्देवेवेनं विक्रवति । एतद्वा ...       | १०३    |
| यद्देव पुष्करपर्ण सुपदधाति              | २२६    | यद्देवेवेन मभि जुहोति । शीर्षं ३७५      |        |
| यद्देव प्रोचति । हविर्वा एतत्           | २०१    | यद्देवेवेन मभि जुहोति । एतद् वा         |        |
| यद्देव रेतस्मिन्ना उपदधाति              | २८६    | देवा अविमयुः ...                        | १२५    |
| यद्देव लोगेष्टका उपदधाति                | १५५    | यद्देवेवेन मभि जुहोति । एतद् वा         |        |
| यद्देव विश्वज्योतिष सुपदधाति            | २८७    | देवा एतमात्मानः ...                     | २३८    |

| कण्डिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.                       | पृष्ठे |
|----------------------------------------|--------|----------------------------------------|--------|
| यद्वेवेन मभिजुहोति । एतद् वै           |        | विश्वस्मै प्राणायानाय ।                |        |
| यत्रैतं प्राणः ... १२४                 |        | यानायोदानायेति ... २८०                 |        |
| यद्वेवेन मभिजुहोति । एतद् वै           |        | विष्णोः कर्माणि पश्यतेति ३३३           |        |
| यान्येतस्मिन्नग्नौ ... १२५             |        | याममात्रौ भवति । याममात्रौ १३          |        |
| यद्वेवेनं परिश्रद्धिः परिश्रयति ४      |        | शतं वा ऽअम्ब धामानि ... १३८            |        |
| यद्वेवोखा मुपदधाति । यो वै स ३३४       |        | स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः ... १६२        |        |
| यद्वेवोखायाम् । योनिर्वा ... ३६७       |        | स काश्वर्यमयी दक्षिणत- ... २४२         |        |
| यद्वेवोदक्षमसान्नियति । एतद् १३४       |        | स कथावस्येते । ते नानोपदधाति १०        |        |
| यद्वेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको ८२       |        | स गृह्णाति । मयि गृह्णाम्यग्रे २२७     |        |
| यद्वेवोखलमुसले ऽउपदधाति ३३०            |        | स क्षतसः पूर्वा उपदधाति आत्मा ७        |        |
| यद्वेवोषान्नियति । प्रजापतिः ३         |        | स क्षतसः प्राचीरुपदधाति ६              |        |
| यस्यास्ति घोर ऽआसनं जुहोमीति ७         |        | स जूरब्द इति चितिः ... १२५             |        |
| या इषवो यातुधानाना मिति २३७            |        | स ज्ञान मसीति । समजानत ३               |        |
| या ओषधीः पूर्वा जाताः ... १३८          |        | स दक्षिण मेवाग्ने युनक्ति । अथ ६६      |        |
| या श्रुतेन प्रतनोषि । स हस्तेण २८२     |        | स दक्षिणाङ्घ्रिनाग्नेः । अन्तरेण १००   |        |
| यास्ते ऽअग्ने स्वर्यं रुचो ... २८५     |        | स पुरस्तादाहरति ... १५५                |        |
| युनक्त सौरा वि युगा तनुध्वं ६६         |        | सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै श्रौषन् ३६६ |        |
| ये वामी रोचने दिवो ... २३७             |        | समुद्रेत्वा सदने सादयामीति ३८५         |        |
| राजानं क्रीत्वा पर्युह्य । अथास्मा १५२ |        | स यः स क्रुर्मोऽसौ स आदित्यः ३२७       |        |
| विपरिक्राम मु ह्येक ऽउपतिष्ठन्ते ३७७   |        | स यः स प्रजापतिर्यस्यसत् ।             |        |
| वेराङ् व्योतिरधारयदिति २८५             |        | ०—० अथ या अस्मात् ता ३८४               |        |
| विश्वस्मै प्राणायानाय ।                |        | स यः स प्रजापतिर्यस्यसत् ०—०           |        |
| यानायेति प्राणो वै ... २८८             |        | अथ या सा प्रतिष्ठे वा २७६              |        |



| कण्डिकाप्रतीकम्.                    | पृष्ठे | कण्डिकाप्रतीकम्.               | पृष्ठे |
|-------------------------------------|--------|--------------------------------|--------|
| स यः स प्रजापतिर्यस्यसत ।           |        | स शुक्लः स्यात् । तद्धेतस्य    | १०६    |
| ०—० तद्वदेषाखा ... ५१               |        | स जेवाच । यस्मानेत ...         | २०५    |
| स यत् कूर्मां गम । एतद् ... ३६२     |        | सा यदघाटा गम । देवाच्चा०       | २८६    |
| स यदमू मेवापदध्यात् ... २८४         |        | सीतासमरी । वाग्व सीतासमरः      | १२४    |
| स यदि संवत्सरभृतः स्यात् । ३३६      |        | स्यं वामभृत । प्राणा वै ...    | २६०    |
| स यन्नानूपदध्यात् । न हेतं ... २८४  |        | सैषा चैषा विहिता । वागनुष्टुप् | ५६     |
| स योऽस्मात् प्राणो मध्यत उदक्रा- ५० |        | सैषा वृष्टयेव । ये वै ई ...    | ५६     |
| सरित्वा सद्ने सादयामीति ३८६         |        | सोऽपेर्द्दिनिगा५ अणिम् ...     | ६८     |
| सर्वौषधं भवति । सर्व मेतद् १३७      |        | सोऽन्नवीत् । अयं वाव मा धूर्वो | २८२    |
| सर्वौषधं भवति । सर्व मेव १३५        |        | सोऽन्नवीत् । अयं वाव मा        |        |
| स वै ऽव्यात्मान मेव विज्ञपति १००    |        | सर्वसात्                       | ३३२    |
| स वै लष्टे निनयति । तस्मात् १३३     |        | स्फेगनाहरति । वस्त्रो वैस्फेग  | १५५    |
| स वै लष्टे निनयति । प्राणेषु १३४    |        | खयमाहसा मुपदधाति ...           | २७८    |
| स वै लष्टे वपति । तस्मात् ... १३६   |        |                                |        |
| स वै लष्टे वपति । प्राणान् ... १३७  |        | हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्ने ... | २३४    |

## ॥ स्मर्त्तव्यालोच्यवचनसूची ॥



अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत् सोऽपः प्राविशत्, २का०, ४प्र०, १४ब्रा०  
अग्निर्वै महिषः, २, ३, २३,

अग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां ह्रीदं सर्वं यतम्. १. ३. १०.

अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म, यत् सिकता. १. १. ८.

अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता. १. १. १०.

अन्तरिक्षं वा अपां सधस्यम्. ४. २. ५७.

अन्नं वा अपां पाथः. ४. २. ६०.

अन्नजीवनं ह्रीदं सर्वम्. ४. १. २०.

अभ्रं वा अपां भस्म. ४. २. ४८.

अमृतं हिरण्यं ममृतं मन्त्रिः. ३. १. १५.

अश्वं चाविं चोत्तरतः । एतस्यां तद्दिश्येती पशू दधाति ;

तस्मादेतस्यां दिश्येती पशू भूयिष्ठौ. ४. २. १५.

आग्नेयं वै घृतम्. ३. १. ४१.

आत्मन्मग्निं गृह्णीत. २. ४. १७.

आत्मा ह्येवाये सम्भवतः सम्भवति. १. १. २१.

आपो वै पुष्करं तासा मिथं पर्णम्. ३. १. ८.

[ इमे वै लांकाः सर्पाः, ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च,

३. १. २५.

इयं वा अपा मयनम्. ४. २. ५०.

जग्वै रस उदुम्बरः. ३. १. ३८.

ऋतवो वै विश्वेदेवाः. १. १. ४३.

एतद्वै रूपं (कूर्मरूपं) कृत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत , यदसृजता-  
करोत् , तद्यदकरोत् तस्मात् कूर्मः. ४. १. ५.

एष उभे पृणक्ति ,—धूमेनामू वृष्ये माम्. २. ३. ३०.

एषा वै नैर्ऋतोर्दिङ् , नैर्ऋत्या मेव हि तद्दिशि निर्ऋतिं दधाति  
स यत्र स्वकृतं वेरिणं श्वभ्रप्रदरो वा स्यात् , तदेना उप-  
दध्याद् । यत्र वा अस्मा अवदीर्यते , यत्र वास्या ओषधयो  
न जायन्ते , निर्ऋतिर्हास्ये तद् गृह्णाति. १. ३. ८.

ओषधयो वा अपा मोघ. ४. २. ४७.

क्षत्रं वै यमः. १. १. ३.

काश्यो वै कूर्मेस्तस्मादाहुः सर्वाः प्रजाः काश्यप्य इति. ४. १. ५.  
किम्युक्तो वै मधुः ०—० गौर मारण्यम् ०—० गवय मारण्यम्  
०—० उष्ट्र मारण्यम् ०—० शरभ मारण्यम् ०—० त एत  
उत्क्रान्तमेधा अमेध्या अवस्रियास्तेषां ब्राह्मणो नाश्रीयात्.

४. २. ३२—३७.

कौतासा मसङ्गतातानां सङ्गति ? हे इति ब्रूयात् ; हे हि सिकते,

शुक्रा च कृष्णा च. २. ३. ४३.

क्षो हि तद् वेद, यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः. १. ४. २.

गन्धर्वाविश्व दक्षिणतः । एतस्मां तद्दिश्येती पशू दधाति ; तस्मा-

देतस्यां दिश्येती पशू भ्रूयिषी. ४. २. १६.

या मविं प्रफर्ष्यश्च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मिलेतहि सर्वं सीतो-

हपति. १. ४. ११.

चक्षुर्वा अपां क्षयः, ४, २, ५४.

ज्योतिर्वै हिरण्यं ज्योतिरग्निः, ३, १, १५.

तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेता इति, ४, १, ८.

तेषां मेक मन्त्र मुहुरेत् तस्य नाश्रीयाद्यावज्जीवम्, २, २, १४.

त्रीन्समुद्रान्समसृपत् स्वर्गानितीमे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकाः,

४, १, ८.

द्यौर्वा अपां सदनम्, ४, २, ५६.

द्राघीयो हि देवायुषं क्रसीयो मनुष्यायुषम्, २, ३, १०.

द्वाभ्यां युनक्ति ०—० षड्गवं भवति, द्वादशगवं वा, १, ४, ६.

है वै योनी इति ब्रूयाद्, देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः,

३, २, ४०.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूपविश्य विजायते,

३, १, २.

पशुरेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुक्षिरुन्नततरो

भवति, ४, १, ३८.

पुरुषस्य प्रथमं सुत्सृजति ०—० द्विपाद्वा एष पशुर्यत् पुरुषः,

४, २, ३२.

प्रजापतिर्वा इदं मय आसीदेक एव, सोऽकामयतां सृजिय प्रजा-

येयेति स प्राणेभ्य एवाधि पशून् निरमिमीत, ४, २, ६.

प्रजापतिर्विश्वकर्मा, १, १, ४३.

प्रजापतेर्विस्त्रस्तस्य यानि लोमान्मयीयन्त, ता इमाः (दूर्वाः)

ओषधयोऽभवन्, ३. २. ११.

प्राचीप्रजनना वै देवाः, प्रतीचीप्रजनना मनुष्याः, ३. २. ४०.

प्राणो वा अर्णवः, ४. २. ५१.

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति, ३. १. १४.

ब्रह्म वै पलाशः, १. १. ५.

ब्रह्म वै मन्त्रः, १. १. ५.

मनुष्या वा आपञ्चन्द्राः, २. ३. २०.

मनो वै समुद्रः, ४. २. ५२.

य एवेषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति, ३. १. २८.

यदिमा आप एतानि मांसानि ०—० अन्नं वाव पशोस्त्वक्,

अन्नं लोम, ४. २. ४३.

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेति, २. २. २४.

ये विद्वांसस्ते कवयः, ते सीरश्च युञ्जन्ति युगानि च वितन्वते,

१. ४. ४.

येन रूपेण यत् कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्, तेन रूपेण तत्

कर्म कृत्वाऽन्नादोऽसानीति, ४. १. १२.

रसो वै कूर्मः ०—० यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविष्टानां

पराङ् रसोऽत्यक्षरत्, स एव कूर्मः, ४. १. १.

वज्रो वा अण्वम्. ३. १. ३४.

वायुर्वा अपा मेम. ४. २. ४६.

विद्युद्वा अपां ज्योतिः. ४. २. ४८.

विशः पितरः १. १. १.

शिरो वै प्राप्तनं योनिः. ४. १. २२.

श्रोत्रं वा अपां सधिः. ४. २. ५८.

सत्यं साम गायन्ति. २. ४. १७; ३. १. ३.

समुद्रो वा अपां योनिः. ४. २. ५८.

समुद्रो ह्रीमा मभितः पिबन्ते. ३. १. ८.

स यः स कूर्मोऽसौ स आदित्यः. ४. १. ६.

सर्वेषां सु हैष देवानां माता यदग्निः. ३. १. २५.

सह हैवेमावणे लोकावासतुः, तयोर्वियतोर्याऽन्तरिक्षाकाश आसीत्,  
तदन्तरिक्षं मभवत्. १. २. २३.

सिकता वा अपाम्पुरीषम्. ४. २. ५८.

सोऽब्रवीत्— अयं वाव मा धूर्वीदिति, यदब्रवीदधूर्वीमेति  
तस्माद् धूर्वा; धूर्वा ह वै ता दूर्वेत्याचक्षते परोक्षम्. ३. २. १२.

हिरण्यं ह वै तद्धिरण्यं मित्याचक्षते. ३. १. १६.

## ॥ अथ विषयसूची ॥



|                                                                     |     |     |           |     |     |
|---------------------------------------------------------------------|-----|-----|-----------|-----|-----|
| अभिचयनारम्भः                                                        | ... | ... | १. १. १.  | ... | १५  |
| अजशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यानादि.                                  | ... | ... | ४. २. २१. | ... | ४०२ |
| अजस्य श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                 | ... | ... | ४. २. ३६. | ... | ४१० |
| अनङ्गोचनमन्त्रतद्याख्याने.                                          | ... | ... | १. ४. २१. | ... | १२१ |
| अनुद्दिष्टानां मयुप्रभृतीनां पशूनां ब्राह्मणा-<br>मन्त्रतानिरूपणम्. | ... | ... | ४. २. ३७. | ... | ४११ |
| अनुमन्त्रणाभिमन्त्रणलक्षणे ( भाष्ये )                               | ... | ... | १. ४. ४.  | ... | १०७ |
| अनुष्टुप्सम्पदवर्णनम्.                                              | ... | ... | १. २. १६. | ... | ६७  |
| अपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्वसमानानम्.                                  | ... | ... | ४. २. ६२. | ... | ४२२ |
| अपस्यानां पञ्चदशैकानामुपधानरूचनादि.                                 | ... | ... | ४. २. ४०. | ... | ४१४ |
| अपस्यैकानां मन्त्रास्तद्याख्यानादिकञ्च.                             | ... | ... | ४. २. ४६. | ... | ४१८ |
| अभिमर्शनमन्त्रव्यविधियाख्यानादि.                                    | ... | ... | २. ३. ४६. | ... | १६८ |
| अभिमर्शनस्य रुददोहसाधिवदनात्मत्ववर्णनम्.                            | ... | ... | २. ३. ४५. | ... | १६८ |
| अभिहोममन्त्रावयवानां आहूतिरूपत्वम्.                                 | ... | ... | २. १. ६.  | ... | १३१ |
| अमन्त्रकं कर्षणविध्यादि.                                            | ... | ... | १. ४. १४. | ... | ११७ |
| अविशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि च.                                 | ... | ... | ४. २. २०. | ... | ४०१ |
| अवेः श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                                  | ... | ... | ४. २. ३५. | ... | ४१० |
| अश्वशिरस उपधानमन्त्रस्तद्याख्यादि च.                                | ... | ... | ४. २. १८. | ... | ३६६ |
| अश्वस्य श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्.                               | ... | ... | ४. २. ३३. | ... | ४०६ |
| अघाटिकाया उपधानविध्यादि.                                            | ... | ... | ३. २. ३२. | ... | ३१८ |
| अघाटोपधानमन्त्रविधियाख्याने.                                        | ... | ... | ३. २. ३६. | ... | ३२२ |
| आनिकसौमिकयोः अतिषड्गप्रदर्शनम्.                                     | ... | ... | २. ४. १.  | ... | २०७ |

आतिथ्यहविष्कृदन्ते आहवनीयचिति-

|                                                           |               |     |
|-----------------------------------------------------------|---------------|-----|
| संस्कारविधिः. ... ..                                      | २. ३. ४. ...  | १६८ |
| आत्मन्यग्निग्रहणप्रकारोपदेशादि. ...                       | ३. १. १. ...  | २४४ |
| आहवनीयचितावृषाणां निवपननिषेधः. ...                        | २. ३. ८. ...  | १७० |
| आहवनीयचितौ पुष्करपर्णोपधानविधिः. ...                      | २. ३. ६. ...  | १७० |
| आहवनीयचितौ सिकतानिवपनविधिः ...                            | २. ३. ११. ... | १७३ |
| इष्टकाचतुष्टयोपधानमन्त्राणां विधियाख्याने                 | १. १. २२. ... | २६  |
| इष्टकामन्त्रिषु पुरीषनिवपनविध्यादि ...                    | १. १. ३६. ... | ४२  |
| इष्टकाहरणममये जेतस्याश्वस्य पुरतो नयनादि. २. ४. १०. ...   | २. ४. १०. ... | २१६ |
| उखोपधानविध्यादि. ... ..                                   | ४. १. २६. ... | ३५७ |
| उखोपधाने मन्त्रविधिस्तद्वाख्यानञ्च. ...                   | ४. १. ३०. ... | ३५६ |
| उखरूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराटरूपप्रजा-                   |               |     |
| पथात्मकताप्रतिपादनारम्भः. ...                             | १. २. १. ...  | ५७  |
| उखाग्नेर्गाहपत्यचितिमध्ये निवपनविध्यादि. १. १. ३६. ...    | १. १. ३६. ... | ४५  |
| उत्तरवेदिनिवपनाद्युपदेश. ... ..                           | २. ३. २७. ... | १८४ |
| उपसर्गनसादनसूददोहसां नेर्कतीयु निषेधः. १. ३. १२. ...      | १. ३. १२. ... | ६१  |
| उपहितपुरुषशिरस्यभिहोमविध्यादि. ४. २. २३. ...              | ४. २. २३. ... | ४०३ |
| उपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशुशिरसां सुत्सर्गनामके-    |               |     |
| र्मन्त्रैरुपस्थानविधिस्तन्मन्त्रविध्यादि च. ४. २. २८. ... | ४. २. २८. ... | ४०६ |
| उलूखलमुसलयोरुपधानविध्यादि. ...                            | ४. १. १२. ... | ३४६ |
| ऊषाणां निवपनविधिः. ... ..                                 | १. १. ६. ...  | १६  |
| ऊषाविधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                       | १. १. ८. ...  | २०  |
| ऋग्यजुस्सामलक्षणप्रदर्शनम् ( भाष्ये ) ...                 | ३. २. १६. ... | ३०६ |
| ऋतथयोरिष्टकयोरुपधानविधिः. ...                             | ३. २. २६. ... | ३१५ |



|                                                                                                                                                             |           |     |     |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| ऋतयोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                                                                                                                         | ३. २. २६. | ... | ३१५ |
| कर्षणविधिस्तत्रकारोपदेशश्च. ...                                                                                                                             | १. ४. ६.  | ... | १११ |
| कर्षणस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...                                                                                                                            | १. ४. १३. | ... | ११६ |
| कूर्माभ्यञ्जनमन्त्राद्युपदेशः. ...                                                                                                                          | ४. १. ३.  | ... | ३३६ |
| कूर्मैष्टकोपधानविध्यादि. ...                                                                                                                                | ४. १. १.  | ... | ३३८ |
| कूर्मोपधानमन्त्रविधिस्तद्व्याख्यानादि. ...                                                                                                                  | ४. १. ८.  | ... | ३४४ |
| क्षुद्रप्रदेशेऽपि निगयनानन्तरं वपनविधिः. ...                                                                                                                | २. २. १६. | ... | १४३ |
| क्षुद्रे क्षेत्रे उद्वमसकरणविध्यादि. ...                                                                                                                    | २. २. १.  | ... | १४० |
| गार्हपत्यचिते; परिमाणविधानादि. ...                                                                                                                          | १. १. ३७. | ... | ४३  |
| गार्हपत्याग्नीध्रीयाहुवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्त-<br>रिच्छद्युक्तोक्त्यात्मकत्वात् क्रमेणैव संस्कारस्य<br>युक्तत्वेऽपि व्युत्क्रमेणानुष्ठानस्योपपादनम्. ... | १. २. २३. | ... | ७३  |
| गार्हपत्योपस्थानविधिः. ...                                                                                                                                  | १. ३. १६. | ... | ६६  |
| गार्हपत्योपस्थानमन्त्रव्याख्याने. ...                                                                                                                       | १. ३. २०. | ... | ६७  |
| गोः श्लोकोत्सर्गमन्त्रप्रदर्शनम्. ...                                                                                                                       | ४. २. ३४. | ... | ४०६ |
| गोशिरस उपधानमन्त्रस्तद्व्याख्यादि च. ...                                                                                                                    | ४. २. १६. | ... | ४०० |
| चयननिष्पत्तये दृष्टकानां सुपधानप्रकारोपदेशः. ...                                                                                                            | १. १. १८. | ... | २७  |
| चितिप्राप्त्यादिविधानम्. ...                                                                                                                                | २. ४. ४.  | ... | २११ |
| चित्वाग्निहोत्रमध्ये विकर्षणविध्यादि. ...                                                                                                                   | १. ४. ७.  | ... | १११ |
| चित्वाग्निरूपप्रजापतेः निरुक्तानिरुक्तरूपेण<br>परिमितापरिमितरूपेण च वैद्व्यवर्णनम्. ...                                                                     | २. २. ३०. | ... | १४८ |
| चित्वाग्नेः स्वयमाहस्यादिषु त्रयोदशस्त्रिकालासु<br>हस्तपञ्चाकारत्वसम्पादनादि. ...                                                                           | ४. १. ३५. | ... | ३६४ |
| हस्तस्याख्यानां पञ्चेष्टकानां वर्णनादि. ...                                                                                                                 | ४. २. ४२. | ... | ४१५ |

|                                              |               |     |
|----------------------------------------------|---------------|-----|
| दर्भस्तम्भाभिधानविध्यादि. ... ..             | २. १. ४. ...  | १२८ |
| दर्भस्तम्बोपधानविध्यादि ... ..               | २. १. १. ...  | १२६ |
| दूर्वैष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ... .. | ३. २. १४. ... | ३०३ |
| दूर्वैष्टकोपधानविध्यादि. ... ..              | ३. २. १०. ... | ३०१ |
| द्वियजुर्नामेष्टकाया उपधानविध्यादि. ... ..   | ३. २. १६. ... | ३०५ |
| द्वियजुरुपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. ... ..  | ३. २. २१. ... | ३०८ |
| निवपनमन्त्राणां विधियाख्याने. ... ..         | २. ३. २८. ... | १८५ |
| नैऋतीष्टकामन्त्राणां विधियाख्याने. ... ..    | १. ३. ६. ...  | ८७  |
| नैऋतीष्टकासु व्यासव्यादीनां विधानम्. ... ..  | १. ३. १५. ... | ६२  |
| नैऋतीष्टकासूक्तनिनयनम्. ... ..               | १. ३. १७. ... | ६४  |
| नैऋतीष्टकाहरणप्रकारादि. ... ..               | १. ३. १. ...  | ८३  |
| नैऋतीष्टकोपधानप्रकारादि. ... ..              | १. ३. ८. ...  | ८६  |
| नैऋतीष्टकोपधानाख्यायिका. ... ..              | १. ३. १. ...  | ८३  |
| परिश्रयणमन्त्रविधियाख्याने. ... ..           | १. १. १४. ... | २४  |
| परिसर्पणप्रकारोपदेशादि. ... ..               | ३. १. ३५. ... | २७० |
| पलाशशाखया युद्धनम्. ... ..                   | २. ३. ७. ...  | १६६ |
| पशुसुखादौ शकलप्रक्षेपविषयः. ... ..           | ४. २. ११. ... | ३६३ |
| पशुश्रीर्षसु सुवर्णशलाकाप्रक्षेपादि. ... ..  | ४. २. ८. ...  | ३६२ |
| पशुश्रीर्षाणां सुपधानविध्यादि. ... ..        | ४. २. १. ...  | ३८८ |
| पुरुषभिरस उदग्रह्यादिकम्. ... ..             | ४. २. १३. ... | ३६६ |
| पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानविधिः. ... ..      | ३. १. २२. ... | २६२ |
| पुष्करपर्णस्थोपधानविध्यादि. ... ..           | २. ४. १७. ... | २२३ |
| पुष्करपर्णस्थोपधानसुत्यादि. ... ..           | ३. १. १२. ... | २५३ |
| पुष्करपर्णस्थोपधानविधिसूचनादि. ... ..        | ३. १. ७. ...  | २४८ |

|                                               |           |     |     |
|-----------------------------------------------|-----------|-----|-----|
| पुष्करपर्णीपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने ...     | ३. १. ६.  | ... | २५० |
| प्रजापतिचिन्ताम्योक्तादात्म्यप्रतिपादनम्.     | १. २. ६.  | ... | ६१  |
| प्रजापतिशरीरविश्लेषप्रतिपादनम्. ...           | १. २. १.  | ... | ५७  |
| प्रजापतेराध्यात्मिकाधियन्त्रिकरूपत्ववर्णनम्.  | १. २. १३. | ... | ६५  |
| प्रत्युपस्थानस्य विधितन्मन्त्रतद्व्याख्यादि.  | ४. २. ३८. | ... | ४१२ |
| पाश्चात्यैकादयोपधानमन्त्रयोर्विधियाख्याने.    | १. १. २८. | ... | ३५  |
| प्राणान्नविषयकमन्त्रपाठस्तद्ध्याख्यानञ्च.     | ४. २. २१. | ... | ३५४ |
| प्रायणीयेष्टिविधानम्. ...                     | १. ४. १.  | ... | १०४ |
| ऋहृतीमस्यद्वर्णनम्. ...                       | १. २. ६२. | ... | ७१  |
| रक्तामध्ये हिरण्यमयपुरुषोपधानविध्यादि.        | ३. १. १५. | ... | २५६ |
| रक्तोपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...              | ३. १. १४. | ... | २५४ |
| रेतस्त्रिगुपधानमन्त्रविधियाख्याने. ...        | ३. २. २३. | ... | ३११ |
| रेतस्त्रिचोरुपधानविध्यादि. ...                | ३. २. २२. | ... | ३१० |
| लोकमृगाख्याया इष्टकाया उपधानविधिः.            | १. १. ३३. | ... | ३६  |
| लोकमृगादीष्टकानां सुपधाने मन्त्रविचारादि.     | १. १. ३४. | ... | ४१  |
| लोकेष्टकानां सुपधानविध्यादि. ...              | २. ३. १३. | ... | १७४ |
| लोकेष्टकोपधानमन्त्राणां कृन्दसो नामविचारः.    | २. ३. ३६. | ... | १६३ |
| विश्वज्योतिरिष्टकोपधानस्य मन्त्रविधियाख्याने. | ३. २. २७. | ... | ३१४ |
| विश्वज्योतिष उपधानविध्यादि. ...               | ३. २. २५. | ... | ३१२ |
| वौजावापस्य मन्त्रविधियाख्याने. ...            | २. २. १७. | ... | १४५ |
| युद्धह्न मन्त्रस्य विधियाख्याने. ...          | १. १. २.  | ... | १७  |
| युद्धह्न विधानम्. ...                         | १. १. १.  | ... | १५  |
| युद्धह्ने पलाशशाखायाः करणत्वविधिः.            | १. १. ४.  | ... | १६  |

ॐ

## ॥ शतपथब्राह्मणम् ॥



॥ अथ ॥

## ॥ सप्तमकाण्डम् ॥

॥ अथ प्रथमः प्रपाठकः ॥

॥ प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ अपिवा प्रथमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ हरिः ॐ ॥

गार्हपत्यं चेष्ट्यन् पलाशंशाखैश्चा व्युदूहति ।  
अवस्यति हैतद्यद् गार्हपत्यं चिनोति यऽउ वै के  
चाम्निचितोऽस्या मेव तेऽवसितास्तद्युद्गुदूहत्यवसि-  
तानेव तद् व्युदूहति नेदवसितानध्यवस्यानीति\* ॥१॥  
अपेतु वीत वि च सर्पतात इति । अप

\* '०नीति'—इति क, '०नीति'—इति ग ।

चैवेत वि चेतु व्यु च सर्पतात इत्येतद्य उदर-  
सर्पिणस्तानेतदाह ये ऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतना  
इति ये,त्र स्थ सनातना ये च धिनातना  
इत्येतत् \* ॥ २ ॥

अदाद्यमोऽवसानं पृथिव्या इति । यमो ह  
वा ऽअस्या अवसानस्थेष्टे सु एवास्मा ऽअस्या मव-  
सानं ददाति † ॥ ३ ॥

अक्रन्निमं पितरो लोक मस्मा ऽइति । क्षत्रं  
वै यमो त्रिंशः पितरो यस्माऽउ वै क्षत्रियो  
त्रिंशा संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति तत्  
मुदत्तं तथी हास्त्रै क्षत्रं यमो त्रिंशा पितृभिः  
संव्विदानोऽस्या मवसानं ददाति ‡ ॥ ४ ॥

पलाशशाखया व्युदूहति । ब्रह्म वै पलाशो  
ब्रह्मणैव तद्वसितान् व्युदूहति मन्त्रेण ब्रह्म  
वै मन्त्रो ब्रह्मणैव तद्वसितान् व्युदूहति ता सु-  
दीची मुदस्यति ‡ ॥ ५ ॥

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

†, ‡ 'ददाति'—इति क ।

§ 'मुदस्यति'—इति क ।

अथोषान्निवपति । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
पशुव ऊषा अस्मिंस्तुलोके पशून् दधाति तस्मादि-  
मेऽस्मिंस्तुलोके पशवः ॥ ६ ॥

यदेवोषान्निवपति । प्रजापतिः प्रजा असृजत  
ता नानोल्वा असृजत ता न समजानतु सो-  
ऽकामयत सञ्जानीरन्निति ताः समानोल्वा अक-  
रोत्तासा मूषानुल्ब मकरोत्ताः समजानत तस्मा-  
दप्येतर्हि समानोल्वाः स मेव जानते देवैः  
समानोल्बोऽसानीत्यु वै यजते यो यजते तद्य-  
दूषान्निवपति देवैरेव तुत् समानोल्बो भवति ॥ ७ ॥

सञ्जान मसीति । समजानतु ह्येतेन काम-  
धरण मिति पशवो वा ऽऊषाः पशवः काम-  
धरणं मयि ते कामधरणं भूयादिति मयि ते  
कामधरणं भूयादिति मयि ते पशवो भूया-  
सुरित्येतत्तैः सुव्वं गार्हपत्यं प्रच्छादयति योनिव्वं  
गार्हपत्या चितिरुल्ब मूषाः सुव्वां तद्योनि मुल्बेन  
प्रच्छादयति \* ॥ ८ ॥

अथ सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
भस्म यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्ट्यन् भवति न वा ऽअग्निः स्वं भस्मातिदहत्य-  
नतिदाहाय ॥ ९ ॥

यद्वै सिकता निवपति । अग्नेरेतद्वैश्वानरस्य  
रेतो यत् सिकता अग्निं मु वा ऽएतं वैश्वानरं  
चेष्ट्यन् भवति न वा ऽअरेतस्कात् किञ्चन व्विक्रि-  
यतेऽस्माद्रेतसोऽधि व्विक्रियाता ऽइति ॥ १० ॥

अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीष मसीति । यातयाम  
वा ऽअग्नेर्भस्मायातयाम्नाः सिकता अयातयाम  
मेवैनदेतत् करोति ताभिः सर्वं गार्हपत्यं प्रच्छा-  
दयति योनिर्व्वं गार्हपत्या चित्ती रेतः सिकताः  
सर्व्वस्यां तद्योनौ रेतो दधाति \* ॥ ११ ॥

अथैनं परिश्रिद्भिः परिश्रयति । योनिर्व्वं  
परिश्रित इदु मेवैतद्रेतः सिक्तं योन्या परि-  
गृह्णाति तस्माद्योन्या रेतः सिक्तं परिगृह्यते ॥ १२ ॥

यद्वैैनं परिश्रिद्धिः परिश्रयति । अथं वै

लोको गार्हपत्य आपः परिश्रित इमं तं लोक  
मग्निः परितनोति समुद्रेण हैनं तत् परितनोति  
सर्व्वतस्तुच्छादिमं लोकं सर्व्वतः समुद्रः पर्येति  
दक्षिणावृत्तस्तुच्छादिमं लोकं दक्षिणावृत् समुद्रः  
पर्येति खातेन तुच्छादिमं लोकं खातेन समुद्रः  
पर्येति ॥ १३ ॥

चित् स्येति । चिनोति ह्येनाः परिचित  
स्येति परि ह्येनाश्चिनोत्यूर्ध्वचितः अथध्व मित्यूर्ध्वा  
उपदधदाह तस्मादूर्ध्व एव समुद्रो विजतेऽथ  
यत्तिरश्चीरुपदध्यात् सकृद्वेदेऽ सर्व्वं समुद्रो  
निर्मज्यान् \* सादयत्यसन्ना ह्यापो न खददो-  
हसाधिवदति ॥ १४ ॥

अस्थीनि वै परिश्रितः । प्राणः सूददोहा न  
वा ऽअस्थिषु प्राणोऽस्थ्येकेन यजुषा बह्वीरिष्टका  
उपदधात्येकं ह्येतद्रूपं यदापोऽथ यद् बह्वः  
परिश्रितो भवन्ति बह्वो ह्यापः ॥ १५ ॥

\* 'निर्मज्यान्' इति, 'निर्मज्यान्'—इति च दृष्टं डा० वेवर-  
महोदयेन । 'निर्मज्यान्'—इति तु सायणासम्मतः पाठः ।



तद्वै योनिः परिश्रुतः । उल्ब मूषा रेतः  
 सिकता बाह्याः परिश्रुतो भवन्त्यन्तरऽजषा बाह्या  
 हि योनिरन्तरं मुल्बं बाह्यऽजषा भवन्त्यन्तराः  
 सिकता बाह्या च्छुल्बं मन्तरं रेत एतेभ्यो वै  
 जायमानो जायते तेभ्य एवैनं मेतुञ्जनयति\* ॥ १६ ॥

अथैनं मृतश्चिनोति । इदं मेवेतद्रेतः सित्तं  
 व्विकरोति तस्माद्योनौ रेतः सित्तं व्विक्रि-  
 यते ॥ १७ ॥

स चतस्रः प्राचीरुपदधाति । द्वे पश्चात्  
 तिरश्चाद् द्वे पुरस्तात्तद्याश्चतस्रः प्राचीरुपदधाति । स  
 आत्मा तद्यत्ताश्चतस्रो भवन्ति चतुर्विधो ह्ययं  
 मात्माथ ये पश्चात्ते सुक्यौ ये पुरस्तात्तौ बाह्व  
 यत्र वा ऽआत्मा तदेव शिरः ॥ १८ ॥

तं वा ऽएतम् † । अत्र पक्षपुच्छवन्तं व्विकरोति  
 यादृग् वै योनौ रेतो व्विक्रियते तादृग् जायते  
 तद्यदेतं मृत्रं पक्षपुच्छवन्तं व्विकरोति तस्मादेष्टो  
 ऽमुत्र पक्षपुच्छवान् जायते ॥ १९ ॥

\* 'मेतुञ्जनयति'—इति क ।

† 'एतम्'—इति ग, घ ।

तं वै पक्षपुच्छवन्त मेव सन्तम् । न पक्ष-  
पुच्छवन्त मिव पश्यन्ति तस्माद्योनौ गर्भं न यथा-  
रूपं पश्यत्येथैन ममुन्न पक्षपुच्छवन्तं पश्यन्ति तस्मा-  
ज्जातं गर्भं यथारूपं पश्यन्ति ॥ २० ॥

स चतस्रः पूर्वा उपदधाति । आत्मा ह्येवाग्रे  
सम्भवतः सम्भवति दक्षिणत उदङ्ङासीन उत्त-  
रार्ध्यां प्रथमा मुपदधाति तथो हास्येषोऽध्यात्म  
मेवाग्निश्चितो भवति ॥ २१ ॥

अयं सोऽग्निः \* । यस्मिन्सोम मिन्द्रः  
सुतं दधेऽदृत्यं वै लोको गार्हपत्य आपः सो-  
मः सुतोऽस्मिन्सुलोकेऽप इन्द्रोऽधत्त जठरे व्वा-  
वशान इति मध्यं वै जठरं सहस्रियं व्वाज-  
मत्यं न सप्ति मित्यापो वै सहस्रियो व्वाजः स-  
सवान्त्सन्स्तूयसे जातवेद इति चितः संश्रीयसे  
जातवेद इत्येतत् † ॥ २२ ॥

अग्ने यत्ते दिवि वर्च इति । आदित्यो

\* 'ऽअग्निः'—इति ग, घ ।

† 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

वा ऽअस्य दिवि व्वचः पृथिव्या मित्यय मग्निः  
 पृथिव्यां यदोषधीष्वप्सा यजचेति य एवौष-  
 धिषु चाप्सु चाग्निस्तु मेतदाह येनान्तरिक्षं सु-  
 र्वीततन्येति व्यायुः स त्वेषः स भानुरर्णवो  
 नृचक्षा इति महान्तम् भानुरर्णवो नृचक्षा  
 इत्येतत् \* ॥ २३ ॥

अग्ने दिवो ऽअर्णं मुक्त्वा जिगासीति † । आपो  
 वा ऽअस्य दिवोऽर्णस्ता एष धूमेनाक्कैत्युक्त्वा-  
 देवाऽ२॥ ऽजचिषि ‡ धिष्णा य ऽइति प्राणा वै  
 देवा धिष्णास्ते हि सर्वा भिय दृष्णन्ति या  
 रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त  
 ऽआप इति रोचनो ह नामैष लोको यचैष  
 एतत् तपति तद्याश्चैतं परेणापो याश्चावरेण ता  
 एतदाह ॥ २४ ॥

पुरीष्यासो ऽअग्नय इति । पशुव्यासो ऽग्नय

\* 'इत्येतत्'—इति ग, 'इत्येतत्'—इति घ ।

† 'जिगासीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देवांश्चिषि'—इति, 'देवांश्चिषि'—इति च दृष्टं वेवर-  
 महोदयेन; परं 'देवाऽ२॥ ऽजचिषि'—इत्येव पाठस्तत्त्वमतः ।

इत्येतत् प्रावणेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं  
प्रायणं ॥ ह्येतदग्नेर्यद् गार्हपत्यो जुषन्तां यज्ञ  
मदुहोऽ नमीवा इषो महीरिति जुषन्तां यज्ञ  
मदुहोऽनशनाया इषो महीरित्येतत् \* ॥ २५ ॥

नानोपदधाति । ये नानाकामा आत्मंस्तान्-  
स्तुदधाति सक्तुत् सादयत्येकं तदात्मानं करोति  
सूददोहसाधिवदति प्राणो वै सूददोहाः प्राणे-  
नैवैन मेतत् सन्तनोति सन्दधाति ॥ २६ ॥

अथ जघनेन परीत्य । उत्तरतो दक्षिणा-  
सीनोऽपरयोर्दक्षिणा मय उपदधातीडा मग्ने पुरु-  
दस्य सनिं गोरिति पशवो वा ऽङ्गुडा पशूना  
मेवास्मा ऽएता माशिष माशास्ते शश्वत्तमं हव-  
मानाय साधेति यजमानो वै हवमानः स्यान्नः  
सूनुस्तनयो व्विजावेति प्रजा वै सूनुरग्ने सा  
ते सुमतिर्भूत्वस्मे ऽद्वत्याशिष माशास्ते ॥ २७ ॥

अथोत्तराम् । अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो  
जातो ऽअरोचथा इत्ययं ते योनिर्ऋत्व्यः सना-

\* 'महीरित्येतत्' -- इति ग, घ ।

तुनो यतो जातोऽदीप्यथा द्रुत्येतत् तं जानन्नग्न  
 ऽचारोद्वाया नो वर्द्धया रयि मिति यथैव यजु-  
 स्तथा वन्मुः ॥ २८ ॥

सुक्थ्यावस्यैते \* । ते नानोपदधाति नाना साद-  
 यति नाना सूददोहसाधिवदति नाना ह्रीमे  
 सुक्थ्यौ हे भवतो हे ह्रीमे सुक्थ्यौ पश्चादुप-  
 दधाति पश्चाद्द्वीमे सुक्थ्यावग्राभ्यां सुस्पष्टे  
 भवत एव ह्रीमे सुक्थ्यावग्राभ्यां सुस्पष्टे ॥ २९ ॥

अथ तेनैव पुनः परीत्य । दक्षिणत उदङ्ङा-  
 सीनः पूर्वयोरुत्तरा मग्न ऽउपदधाति चिदसि तया  
 देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेत्यथ दक्षिणां परिचिदसि  
 तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेति ॥ ३० ॥

बाहू ऽअस्यैते † । ते नानोपदधाति नाना  
 सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना ह्रीमौ  
 बाहू हे भवतो द्वौ ह्रीमौ बाहू पूर्वार्द्धे ऽउप-

\* 'सुक्थ्यावस्यैते'—इति ग, घ ।

† 'अस्यैते'—इति ग, घ ।

दधाति पुरस्ताद्भीमौ बाहू ऽभ्याभ्यां सृ-  
 ष्ठे भवत एव॑ ह्रीमौ बाहू ऽभ्याभ्यां सृ-  
 ष्ठौ स वा ऽद्वितीमा ऽउपदधातीतीमे ऽद्वितीमे  
 तद्वक्षिणावृत्तद्वि देवता \* ॥ ३१ ॥

अष्टाविष्टका उपदधाति । अष्टाक्षरा गाय-  
 त्री गायत्रोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतच्चिनोति पञ्चकृत्वः सादयति पञ्च-  
 चितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्नि-  
 र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतच्चिनो-  
 त्यष्टाविष्टकाः पञ्च कृत्वः सादयति तच्चयोदश  
 त्रयोदश मासाः संवत्सरस्त्रयोदशान्नेश्चितिपुरी-  
 षाणि यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद्  
 भवति ॥ ३२ ॥

अथ लोकम्पृणा मुपदधाति । तस्या उपरि  
 बभ्रुस्त्रिस्तः पूर्वांस्त्रिद्वदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
 तावन्त मेवैन मेतच्चिनोति दशोत्तरास्तासा मुपरि  
 बभ्रुर्द्वे वाग्रेऽथ दशायैका मेव॑ हि चितिं चि-

न्वन्ति तास्त्रयोदश सम्पद्यन्ते तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३३ ॥

ता उभय्य एकविंशतिः सम्पद्यन्ते । द्वादश मासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असा-  
वादित्य एकविंशोऽसुं तदादित्य मस्मिन्नग्नौ प्रति-  
ष्ठापयति \* ॥ ३४ ॥

एकविंशतिर्वैव परिश्रितः । द्वादश मासाः  
पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका अय मग्निरमुतोऽध्येक-  
विंश इमं तदग्नि ममुष्मिन्नादित्ये प्रतिष्ठापयति  
तद्यदेता एव सुपदधात्येतावेवैतदन्योऽन्यस्मिन् प्र-  
तिष्ठापयति तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ तौ  
वा ऽएतावत् द्वावेकविंशौ सम्पादयत्यत् ह्ये-  
वेमौ तदोभौ भवत आहवनीयश्च गार्ह-  
पत्यश्च ॥ ३५ ॥

अथ पुरीषं निवपति । तस्योपरि बन्धुस्तु-  
च्चात्वालबेलाया आहरत्यग्निरेष यच्चात्वालस्तथो  
हास्यैतदानेयमेव भवति सा समस्विला स्यात्  
तस्योक्तौ बन्धुः ॥ ३६ ॥

व्याममात्री भवति । व्याममात्री वै पुरुषः  
 पुरुषः प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसन्नितां तद्यो-  
 निं करोति परिमण्डला भवति परिमण्डला  
 हि योनिरथो ऽअयं वै लोको गार्हपत्यः परि-  
 मण्डल उ वा ऽअयं लोकः \* ॥ ३७ ॥

अथैनौ सन्निवपति । सञ्जा मेवाभ्या मेतत्  
 करोति समित् सङ्कल्पेयां सं वां मनांसि  
 सं व्रतान्ने त्वं पुरीष्यो भवतं नः समनसाविति  
 शमयत्येवैनावेतद्द्विंसायै यथा नान्योऽन्यत् द्विं-  
 स्याताम् ॥ ३८ ॥

चतुर्भिः सन्निवपति । तद्ये चतुष्पदाः पशव-  
 स्त्रैरेवाभ्या मेतत् सञ्जां करोत्यथो ऽअन्नं वै पशवो-  
 ऽन्नेनैवाभ्या मेतत् सञ्जां करोति ॥ ३९ ॥

तां न रिक्ता मवेक्षेत नेद्रिक्ता मवेक्षा ऽद्विति  
 यद्रिक्ता मवेक्षेत यसेत हैनम् ॥ ४० ॥

अथास्यां सिकता आवपति । अग्नेरेतद्-  
 वैश्वानरस्य रेतो यत् सिकता अग्नि मेवास्या मेतद्



वैश्वानरं रेतो भूतं सिञ्चति सा समम्बिला  
स्यात्तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४१ ॥

अथैनां विमुञ्चति । अप्रदाहाय यद्धि युक्तं  
न विमुच्यते प्र तद्वच्चत एतद्वा एतद्युक्ता रेतो-  
ऽभार्षीदेत मग्निं त मत्वाजीजनदथापरं धत्ते योषा  
वा ऽउखा तस्माद्यदा योषा पूर्वं रेतः प्रज-  
नयत्यथापरं धत्ते ॥ ४२ ॥

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्य मिति । मातेव  
पुत्रं पृथिवी पशव्य मित्येतदग्निं स्वे योनाव-  
भारुखेत्यग्निं स्वे योनावभार्षीदुखेत्येतत्तां विश्वै-  
र्देवैर्ऋतुभिः सञ्विदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा वि-  
मुञ्चत्वित्यूतवो वै विश्वे देवास्तदेनां विश्वैर्देवै-  
र्ऋतुभिः सञ्विदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमु-  
ञ्चति ता मुत्तरतो ऽग्नेर्निदधाल्यरत्विमात्रे तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ४३ ॥

अथास्यां पय आनयति । एतद्वा एतद्रेतो  
धत्तेऽथ पयो धत्ते योषा वा ऽउखा तस्माद्यदा  
योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्तेऽधराः सिकता

भुवन्त्युत्तरं पयोऽधरं हि रेत उत्तरं पयस्तन्-  
मध्य ऽऽनयति यथा तत् प्रति पुरुषशीर्षं  
मुपदध्यात् ॥ ४४ ॥ १ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे , 'त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उखासम्भरणार्थं तु भस्मावहरणान्तकम् ।

चित्तस्याग्नेर्वाह्यं मङ्गं प्रोक्तं षष्ठेऽथ सप्तमे ॥

इष्टकाचयनात् पूर्वं मग्निस्थानस्य संस्क्रिया ।

कर्त्तव्या या समासेन सेह विस्पष्ट मीर्यते ॥.

“अग्निं चिनुते”—इत्यनारभ्य विहितस्य अग्निचयनस्य \*

“अग्रातोऽग्निं मग्निष्टोमेनानुयजति”—इत्यादिवाक्येन † सोमयाग-  
शेषत्वावगतः सान्निकस्य सत्त्वन्धिनां गार्हपत्यादिधिष्णयानां सर्वेषां  
मेव चयनम् ; संस्कार्यत्वात् ‡ तत्र धिष्णोषु गार्हपत्याख्यस्य  
धिष्णस्यप्राथम्यात् तत्र प्रथमं चयनं विधित्सुस्ततः प्राच्यान्  
भूसंस्कारान् विधास्यन् तत्स्थानस्य समन्त्रकं व्युदूहनं  
विधत्ते—“गार्हपत्यं चेत्यत्रिति । गृहपतिना संयुक्तोऽग्निः

\* ते० सं० ५. ५. २, ३ अनुवाकौ द्रष्टव्यौ ।

† श्री० व्या० २. ३. १० अधिकरणं द्रष्टव्यम् ।

‡ 'संस्कर्त्तव्यत्वात्'—इति च दृष्टो वेवरेण ।

गार्हपत्यः ; “गृहपतिना संयुक्ते अग्नौ”-इति \* पाणिनिस्मृतः ।  
 इह तु तस्मान्नेः आधारभूतो भूप्रदेशः । आधाराधेययो-  
 रभेदोपचारेण आधेयवाचिना शब्देनोच्यते संस्कर्तव्यत्वप्रति-  
 पत्तये । अयं मर्थः । यस्मादेतत् स्थानं गार्हपत्यस्थानेः  
 अधिकरणम्, अतश्च चयनेन संस्कर्तव्यमित्यर्थः । संस्कारश्चात्र  
 प्राधान्यद्योतिव्या द्वितीयया “त्रीहीन् प्रोक्षति”-इत्यादाविव प्रति-  
 पाद्यते । चेष्टाकृतिरिति शब्दप्रत्ययः । “लक्षणहेत्वोः क्रियायाः”  
 -इति † । यतोऽस्मिन् स्थाने चयनं कर्तव्यम्, अतो हेतो-  
 रेतत् स्थानं पलाशवृक्षस्य शाखया “अपित”-इति वक्ष्यमाणेन  
 मन्त्रेण ‡ ‘व्युदूहति’ लोष्टृणादिकसम्भारजनेनापसारयतीत्यर्थः § ॥

व्युदूहनस्य प्रयोजनमाह— “अवस्यति हैतदिति । गार्हपत्य-  
 स्थाऽन्नेर्यत् स्थानं चयने संस्करोति मयात्र सोमेन यष्टव्यमिति,  
 ‘तत्’ तेन व्युदूहनेन ‘अवस्यति’ निश्चिनोत्येव । यद्वा, गार्हपत्यस्य  
 यज्ञयनं तदेव देवयजनाध्यवसानम् । तथाच ‘ये केचित्’ ‘अग्नि-  
 चितः’ अग्निश्चितवन्तो यजमानाः ‘ते’ ‘अस्या मेव’ पृथिव्या मेव  
 ‘अवसिताः’ अवसानं प्राप्तास्तत्रैव प्रवर्तन्ते, ‘तत्’ तथा सति  
 पलाशशाखया ‘यत्’ स्थानं ‘व्युदूहति’-इति यत् ‘तत्’ तेन  
 ‘अवसितानिव’ तत्र स्थितान् प्राक्तनान् यजमानान् ‘व्युदूहति’  
 विविधं निरस्यति ॥ ॥

\* पा० सू० ४. ४. ६ ।

† पा० सू० ३. २. १२६ ।

‡ अथुपह मेव द्वितीया कण्ठी द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ३ ।

॥ “व्युदूहति । गार्हपत्यस्थानेऽपतितं दृष्ट्वादि । शाखया बहि-  
 र्निस्सारयति”-इति कर्कः (का० श्रौ० सू० १७. १. ३.) ।

व्युद्धनं कुर्वतो यजमानस्याभिप्राय माह— “नेदिति ।  
अग्निचयन मनुष्याय तत्रैवावस्थितान् यजमानान् अत्रैव ‘नेत्  
अध्यवस्थानि’\* तेषां सुपरि अध्यवसान् मवस्थानं नैव करवाणि†  
‘इति’ अनेनाभिप्रायेणेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्मिन् व्युद्धने प्रतीकग्रहणेन मन्त्रं विधत्ते— “अपे-  
तेति‡ । अत्र चापेतवीतेतिवाक्यद्वयस्यार्थ माह— “अप चैवेतेति ।  
हे यज्ञविरोधिनो जनाः ! अस्मात् स्थानात् ‘अपेत’ अपगच्छत,  
अपगमनसमयेऽपि ‘वैत’ विविधं गच्छत । अनयोरपगमन-  
वेगमनयोः समुच्चयो विवक्षित इत्यसु मर्थं व्योतयितुं चकारयोः  
योगः । ‘वि च सर्पतात’-इत्येतदनूद्य व्याचष्टे— “व्यु चेति ।  
ये तु’ प्राणिनः उदरेणैव सर्पन्ति गच्छन्ति, तान् सर्पसरी-  
इपादीन् प्राणिनः प्रति अस्मात् स्थानात् अपगमन मनेन  
गार्थ्यते इत्यर्थः ॥

तथा च मन्त्रभागस्याय मर्थः— हे उदरेणैव सर्पणशीलाः  
व्रगादयः ! ‘अतः’ अस्मादग्निचयनस्थानाद् ‘विसर्पत’ विविधं  
गच्छतेति । द्वितीयपाद मन्तूय व्याचष्टे— “येऽत्र स्येति । पुरा अती-  
काले भवाः ‘पुराणाः’ । “सायश्चिरम्राज्ञेप्रगेऽव्ययेभ्यः”—इति §  
[राशब्दादव्ययात् व्यु-प्रत्ययः, “पुराणप्रोक्तोऽपि”—इति॥ निपातनात्  
[उभावः, तथा च सजातना इत्यर्थो भवति । नूतना इत्यस्यार्थं

\* ‘अध्यवस्थामि’ ङ, च, ज ।

† ‘करिष्यामि’ ङ, च, ज ।

‡ वा० ख० १२. ४५ ।

§ पा० ख० ४. ३. २३ ।

॥ पा० ख० ४. ३. १०५ ।

माह— “अधुनातना इति । ‘अधुना’ अस्मिन् वर्तमान-  
काले भवाः । तदयं मन्त्रभागस्यार्थः,— ‘अत्र’ अस्मिन् स्थाने  
ये पुराणाः सन्तः स्य, ये च नूतना अधुनातनाः स्य, ते सर्वे  
यूय मपेतेति ॥ २ ॥

तृतीयपाद मन्त्र व्याचष्टे— “अदाद्यम इति । अवस्यति  
अस्मिन्निति ‘अवसानं’ स्थानम्, ‘पृथिव्याः’ सम्बन्धि यत्, तत्  
‘यमः’ अस्मभ्यम् दत्तवान् । “यमो ह वा इत्यादि । ‘अस्याः’  
पृथिव्याः संबन्धिनः ‘अवसानस्य’ स्थानस्य यमः खलु ‘ईष्टे’,  
अतः स एव अस्मै यजमानाय ‘अस्याः’ पृथिव्याः, ‘अवसानं’ स्थानं  
‘ददाति’ ॥ ३ ॥

चतुर्थपाद मन्त्र व्याचष्टे— “अक्रन्निति । ‘पितरः’ पितृ-  
देवताः ‘यस्मै’ यजमानाय अग्निचयनार्थम् ‘इमं लोकं’ स्थानम्  
‘अक्रन्’ अक्षपत । “क्षत्रं वा इत्यादि । क्षत्रियजातिर्हि यमः,  
‘पितरस्तु तस्य ‘विशः’ प्रजाः । “यमः पितृणां राजा”—इति हि  
श्रुतिः \* । “यस्मा उ वा इति । लोके हि ‘क्षत्रियः’ राजा ‘विशः’  
स्वकीयया प्रजया ‘संविदानः’ सञ्ज्ञानानः, ऐकमत्यं प्राप्तः  
सन् ‘अस्यां’ पृथिव्यां यस्मै पुरुषाय अवसानं ‘ददाति’, तस्य  
‘तत्’ ‘सुदत्तं’ शोभनदत्तं भवति । यथायं दृष्टान्तः, तथैव खलु  
‘अस्मै’ यजमानाय ‘क्षत्रियः’ यमोऽपि पितृरूपया स्वकीयया  
‘विशः’ सञ्ज्ञानानः सन् ‘अस्मै’ यजमानाय ‘अस्यां’ पृथिव्याम्  
‘अवसानं’ स्थानं ‘ददाति’ ॥ ४ ॥

तस्मिन् व्युद्गहने पलाशशखायाः कारणत्वं यद् विद्भि-

---

\* “यावन्तो वै ऋतुबन्धवस्तेषां यम आधिपत्यं परीयाय”—  
इति तै० सं० ५. १. ८. ४ ; ऐ० ब्रा० ८. २. ३. १ इत्याद्यपि द्रष्टव्यम् ।

तम् \* , तदनूय स्तीति— “पलाशशाखेति । वृक्षेषु मध्ये पलाशवृक्षो ‘ब्रह्म’ ब्राह्मणजातिः । यहा , सीमाहरणसमये भूमी पतिवत्य पर्णस्य पलाशवृक्षरूपेणोत्पत्तेः † गायत्रीसम्बन्धात् पलाशवृक्षो गायत्रीमन्त्रात्मकः । तथा च तेनैव ‘ब्रह्मणा’ ‘तत्’ तत्र ‘अवसितान्’ अधसांय स्थितान् जनान् अस्मात् स्थानात् ‘व्युद्गृहति’ उच्चाटयति । मन्त्रकरणत्व मनूय स्तीति— ‘मन्त्रेणेति । “ब्रह्म वा इति । यद् ब्रह्म विवक्ति हि मन्त्रः , तथा च मन्त्रेण क्रियमाणं व्युद्गहनं ब्रह्मणैव कृतं भवतीत्यर्थः ।

तस्याः पलाशशाखाया निरसनं विधत्ते— “ता सुदीची मिति ‡ । ‘उदिचीम्’ उदगग्राम् , उदीचीं दिशं वा प्रति ‘ताम्’ पलाशशाखाम् ‘उदस्यति’ उत्क्षिपति , परित्यजतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

सम्भारजनानन्तर मूषाणां निवपनं विधत्ते— “अश्वेषानिति § । शारसृत्तिका जषाः । पृथिव्याः पशुसमृद्धिहेतुत्वेनैतत् प्रशंसति— “अयं वै लोक इति । जषरदेशस्य पशुभिरुपजीव्यत्वाद्मूषाणां पशुत्वव्यपदेश इति । “तस्मादिम इति । यस्माद्मूषाणां निवपनेन पशवोऽस्मिन् लोके स्थापिताः , तस्मादेव कारणात् तदाजी मपि ‘इमे’ ‘पशवः’ गवाद्याः ‘अस्मिन् लोके’ समृद्धा उपलभ्यन्ते ॥ ६ ॥

\* प्रथमा कण्ठौ द्रष्टव्या ( १ , १६ पृ० ) ।

† शत० ब्रा० १. ५. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ४ क ।

§ ता० श्रौ० सू० १७. १. ४ ख ।

जपनिवपनं प्रकारान्तरेण स्तोतु मनुवदति— “यद्ये-  
वेति । जषाणा मुखरूपत्वं माख्यायिकया प्रतिपादयन् सञ्ज्ञान-  
हेतुता माह— “प्रजापतिः प्रजा इति । “ता नान्नेल्वा इति ।  
नानाविधं परस्परं विभिन्नं मुखं गर्भवेष्टनं यासान्तास्तथोक्ताः ,  
ततो भिन्नजातीयत्वात् ‘ताः’ प्रजाः परस्परं ‘न तं समजानत’  
समानज्ञानाः नाभववन् । ‘सः’ च प्रजापतिः ‘अकामयत’ इमाः  
प्रजाः परस्परं ‘सञ्ज्ञानीरन्विति’ । एवं कामयित्वा भिन्नोल्ब-  
जनितत्वं दोष मालोच्य ‘ताः’ प्रजाः ‘समानोल्वाः’ समान  
मेक मेवोल्बं यासां तयाविधाः ‘अकरोत्’ । किं तत् समानं मुख  
मिति , तदाह— “तासां मूषानिति । उत्पद्यमानानां प्रजानां  
मुखत्वेनोषान् कृतवानित्यर्थः । तथा च एकोल्बजनित-  
त्वेन समानजातीयाः ‘ताः’ सर्वाः प्रजाः ‘समजानत’ ऐकमत्यं  
प्राप्ता आसन् । यस्मादेवं पुराहृतम् , ‘तस्माद्’ इदानीं मपि  
समानोल्बानां भेदमाहकाणां प्रजानां सम्प्रतिर्दृश्यत इत्यर्थः ।  
“देवैरित्यादि । देवैः सह समानजन्मा भवामीत्यनेनाभिप्रायेण  
हि ‘यः’ यजमानो ‘यजते’ ‘तत्’ तथा सति उल्बसंस्तुतानां  
मूषाणां निवपनेन तैरेव ‘देवैः’ ‘समानोल्बः’ समानजन्मा  
‘भवति’ इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मिन् निवपने मन्त्रं विधाय तदीयपदानि व्याचष्टे—  
“सञ्ज्ञानं मिति \* । करणे लुङित्याह †— “समजानतेति ।  
‘हि’ यस्माद् विप्रतिपन्नाः प्रजाः ‘एतेन’ जषरूपेणोल्बेन ‘समजा-  
नत’ समानज्ञाना अभवन् , तस्मात् हि जप ! त्वम् “सञ्ज्ञानं

\* वा० सं० १२. ४६. १ ।

† पा० सू० ३. ३. ११७ ।



मसीतिमन्त्रेण प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “पशवः कामधरणमिति । कामाः ध्रियन्ते धीयन्ते अनेन गोरूपत्वेन सुतेनोषेणेति व्युत्पत्त्या मन्त्रगतकामधरणशब्देन पशुविषयस्य कामस्य धारणं प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । “मयि त इत्यादि । हे ऊष ! यतः त्वं कामधरणमसि, अतः ‘ते’ तव सम्बन्धि पशुरूपं ‘कामधरणं’ कामप्रापणम् । “मयि भूयादितिमन्त्रवाक्यार्थस्य पर्यवसानमाह— “मयि ते पशव इति । ‘ते’ तव सम्बन्धिनः ‘पशवः’ ‘मयि भूयासुः’ इत्येतत् अत्र प्रतिपाद्यमित्यर्थः । न्युमेरुधैः प्रच्छादनं विधत्ते— “तैरिति \* । ‘गार्हपत्यं’ गार्हपत्याग्निस्थानम् । तत् प्रच्छादनं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । गार्हपत्याग्नि-सम्बन्धिनी या ‘चितिः’, सा ‘योनिर्वै’ सर्वोत्पत्तिकारणम् । गार्हपत्याग्नेराहवनीयान्युत्पत्तिहेतुत्वात् तदीयचयनस्यापि उत्पत्तिहेतुत्वात् योनित्वेन स्तुतिः । “उत्सव मूषा इति । “तासां मूषानुत्सवमकरोत्”—इत्यान्नातम् † । ‘तत्’ तेन ‡ ऊषैः प्रच्छादनेन ‘सर्वा’ कृत्स्ना मेव ‘योनिम्’ आहवनीयाद्युत्पत्तये ‘उत्सवेन’ प्रच्छादितवान् भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

सिकतानां निवपनं विधत्ते— “अथेति । ऊषवत् ‘निवपति’ निक्षिपति † । पृथिव्याः दाहुराहित्यहेतुत्वेनैतत् स्तौति— “अग्नेरेतदिति । ‘वैश्वानरस्य’ विश्वनरहितस्य ‘अग्नेः’ ‘एतद्’ भस्म ‘यत् सिकताः’ । ‘वैश्वानरं’ विश्वेषु नरेषु अवस्थितं

\* का० श्रौ० सू० १७. १. ५ ।

† एतत्पूर्वस्या मेव कण्ठां द्रष्टव्यम् ( ३४० ७ प० ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ६ । ‘सिकताभिर्मण्डलं द्वादयति’—

इति तत्र वृत्तिः ।



हिरण्यगर्भात्मकं 'अग्नि' खल्वसौ यजमानं 'चिन्त्यन् भवति' ।  
 यथा च चौयमानो वैज्ञानरोऽग्निः पृथिवीं न दहेत्,  
 तथा च सिकतानां निवपनं पृथिव्याः 'अनतिदुहाय' अति-  
 क्रम्य अतिशयितो वा दाहोऽतिदाहः \*, तद्दाहित्याय भवति ।  
 न खल्वग्निः स्वकीयं भस्मातीत्य दहति, किन्तु तेनैव ह्यनः  
 सन् दाहसमर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

एतदेवानूद्य प्रकारान्तरेण स्तौति— “यद्देवेति । “सिकता  
 इति । ‘यत् एतद्’ ‘अग्नेः’ वैज्ञानरस्य ‘रितः’; वर्षसादृश्यात् । “न  
 वा अरेतस्कादिति । ‘न’ खलु ‘अरेतस्कात्’ निर्धर्यात् पुरुषात् कि  
 मपीषदपि ‘विक्रियते’ उत्पद्यते †, अतश्चेष्ट्यमाणोऽग्निः ‘रितसः’  
 ‘अधि’ उपरि चितः सन् ‘विक्रियते’ नानाविधफलसाधन-  
 यागहेतुत्वेन विक्रतो भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण सिकता-  
 निवपनं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

तत्र मन्त्रं विदधाति— “अग्नेर्भस्मेति ‡ । “यातयाम  
 वा इति । ‘अग्नेर्भस्म’ ‘यातयाम’ गतसारम्, रितोरूपास्तु  
 ‘सिकताः’ ‘अयातयाम्नाः’ अगतसाराः; तथा चैतेन सिकता  
 निवपनेन ‘अयातयामम्’ अगतसारम्, सारवदेव ‘एतत्’ चयनं  
 ‘करोति’ इत्यर्थः ॥

सिकताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिरिति § । यतो रितः-  
 संस्तुताः सिकताः, तस्मात् तासां गार्हपत्यायतने सर्वत्र प्रक्षेपेण

\* ‘०ऽतिपाकः’—इति ड, च ।

† ‘उत्पाद्यते’—इति ज ।

‡ वा० सं० १२. ४६. २ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

सर्वस्या मिव योनी प्रजोत्पत्तिहेतुभूतं 'रेत एव दधाति'  
सक्तवान् भवति ॥ ११ ॥

शर्कराभिः परिश्रयणं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘एन’  
गार्हपत्यप्रदेशं परिश्रयत्येभिरिति ‘परिश्रितः’ शर्करापर-  
पर्यायाः शूक्ष्मपाषाणाः , तेः ‘परिश्रयति’ परितो वेष्टयति \* ।  
तत् परिश्रयणं प्रशंसति— “योनिर्वा इति । योनिस्थानीयाः ।  
‘इद मिव’ सिकतारूपं ‘सिक्तं रेतः’ ‘एतत्’ एतया परि-  
श्रिद्रूपया ‘योन्या’ ‘परिश्रज्जाति’ परितो धारयति , यथा न  
विपद्यते । यस्मादेवं वैदिके कर्मणि, ‘तस्मात्’ एव कारणात् यो-  
पित्तु गर्भाशये ‘सिक्तं रेतः’ ‘योन्या परिश्रज्जाते’ परितो धार्यते ।

एतदुक्तं भवति ,— गार्हपत्यचितिसकाशादेतदुत्पाद्यते आह-  
वनीयचितिः ; तदुत्पन्नावत् न्युक्ता ऊषा उलबं सिकता रेतः परि-  
श्रितो योनिः ; अतः परिश्रयणास्तैः संस्कारैः आहवनीयचितिः  
गर्भावस्था प्रतिपद्यत इति ॥ १२ ॥

एतदेव परिश्रयणं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति— “यद्दे-  
वेन मिति । “अयं वै लोक इति । ‘अयं’ भूलोकात्मकः  
खलु ‘गार्हपत्यः’ अग्निः ; तद्वाचिन्या भूरिति व्याहृत्या आ-  
हितत्वात् । “आपः परिश्रित इति । परिश्रयणार्थाः शर्कराः  
‘आपः’ उदकात्मिकाः ; शर्करायुक्ते हि भूप्रदेशे खननादाप  
उपलभ्यन्ते । तथाच गार्हपत्यस्य परिश्रिङ्गिः परिश्रयणे  
सति ‘इमम्’ एव भूलोकम् ‘अङ्गिः’ ‘परितनोति’ परितो  
वेष्टयति । केनोपापेनाङ्गिः परिवेष्टन मिति तदाह— “रुमुद्रे-

\* ‘परिश्रयति, परितो वेष्टयति’—इति ज ।

येति । “तस्मादिमं मिति । यस्मात् परिश्रिद्धिः गार्हपत्यस्य परिश्रयणं भूलोकस्य समुद्रेणावरणकारणम्, ‘तस्मात्’ ‘इमं लोकं’ ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पर्येति’ परितो व्याप्नोति । परिश्रयणस्य प्रादक्षिण्यं विधाय स्तौति — “दक्षिणावृत्तदिति । प्रदक्षिणम् ‘आवृत्’ आवर्तनं यथा भवति तथा परिश्रयेदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ कारणभूते परिश्रयणे दक्षिणावृत्तिदर्शनात् समुद्रोऽपि ‘इमं लोकं’ ‘दक्षिणावृत्’ प्रदक्षिणावर्तनेन ‘पर्येति’ परितो गच्छति । खाते देशे परिश्रयणं विधाय स्तौति — “खातेनेति । गार्हपत्यायतनस्य परितः खातेन प्रदेशेन परिश्रिद्धिः परिश्रयेत् ॥ १३ ॥

तस्मिन् परिश्रयणे मन्त्रं विधाय व्याचष्टे — “चितः स्थितिः \* । ‘हि’ यस्मात् ‘एनाः’ शर्कराः ‘चिनोति’ स्थापयति, तस्मात् हे शर्कराः ! यूयं ‘चितः स्थ’ चीयमाना भवथेति समवेतार्थो मन्त्रभागः । “परि ह्येना इति । यस्मादेताः परिश्रितश्चिनोति, तस्मात् ‘परिचितः स्थ’ परितश्चीयमाना भवथेति ॥

“जर्षा उददधदिति । परिश्रितः जर्षमुखा अवस्थापयन् “जर्षचितः श्रयध्व मिति” † मन्त्रभागं ब्रूयादित्यर्थः । तदेतत् भूजितं कात्यायनेन — “परिश्रिद्धिः परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चितः स्थितिः ‡ ।

“समुद्रो विजत इति । अब्रूपाणां परिश्रिता मूर्धमुखात् तत्समुदायरूपः समुद्रोऽपि जर्ष एव विजते । “ओ विजी

\* वा० सं० १२. ४६. ३ क ।

† वा० सं० १२. ४६. ३ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

भयचलनयोः” \* । कक्षोलैरुर्ध्वं चलति , समुद्र इत्यर्थः ; न तु तिर्यक् कृत्स्नां भूमि मावृणोति † ।

तिर्यगुपधाने दोष माह— “अथ यत् तिरश्चीरिति । ‘तिरश्चीः’ तिर्यगञ्चनाः । “सक्तश्चैवेद मिति । युगपदेव ‘इदं सर्वं’ जगत् ‘समुद्रो निर्मृज्यात्’ ‡ निःशेषेण प्रक्षालयेत् , सर्वं समुद्रे प्रविलीयेत § इत्यर्थः । सादनं सूददोहसाधिवदनञ्च इष्टकाधर्मतया प्रसक्तम् , अत्र निषेधति— “ज सादयतीति । उपधानकाले मन्त्रेणोपधाय ततस्तया देवतयैत्युपहितस्य सादनम् ; “ता अस्य सूददोहस इति मन्त्रः ॥ सूददोहाः , तेनाधिवदनं सुपरिष्ठाद् वदनम् , सर्वेष्टकासाधरणो धर्मः ¶ ; तदुभयं परिश्रितुपधाने न कर्त्तव्यम् । तत्र हेतुः— ‘असन्ना ह्यापः’ क्वचित् क्वचित् सोदन्ति ; प्रवहणशोलत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

सूददोहसो निषेधं सुपपादयति— “अस्त्रीणि वा इति । प्रस्थ्यात्मिका हि ‘परिश्रितः’ शर्कराः ; तस्मादृश्यात् । “अस्य सूददोहसः”—इति सूददोहः-शब्दयुक्तो मन्त्रः ‘सूददोहाः’ ; स च प्राणात्मकः खलु । सूदं शोभनं सुदकम् दीग्धि , येन सिक्तं सत् रसं न शुष्यति ; यस्मिन्वक्त्रे प्राणः सञ्जातो नास्ति , तत् काष्ठवत्

\* तु० आ० ६ धा० ।

† ‘जङ्घं एव विजते व्याप्नोति’ , न तु कृत्स्नां भूमि मावृणोति । विजति व्याप्तिकर्मा—इति च , ज ।

‡ ‘निर्मृज्यात्’—इति मूलपाठः ५ ए० ११ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ‘स च समुद्रे प्रति लीयेत’—इति ज ।

॥ वा० सं० १२. ५५ ।

¶ ‘मन्त्रः’—इति ज ।

शुष्क मेव भवति ; अतः प्राण एव सूददोहाः । तथा चास्थि-  
संस्तुतासु परिश्रित्सु नासो कर्तव्यः ; न खल्वस्थिषु प्राणोऽस्ति ,  
नाङ्गोऽप्येव हि तस्य सञ्चार इत्यर्थः । “चितः स्थित्येकेनैव यजुषा \*  
बद्धनां परिश्रितां स्थापनमुपपादयति—“एकेनेति । ‘उपदधाति’-  
चोदितत्वात् परिश्रिता मिष्टकात्वम् । अत एवाहापस्तम्बः—  
“स्तुची सम स्वयमावृक्षाः शर्करा हिरण्येष्टकाः पञ्च घृतेष्टका  
दूर्वास्तम्बः कूर्म उलूखलं मुसलं शूर्पं मश्मानः पशुशिराः सि  
सर्पशिराः मृन्मयीरेष्टकाः”—इति † । “एकं ह्येतदिति । आप  
इति यत् , तदेक मेव हि रूपम् , एकरूपा एव हि  
लक्ष्यन्ते , अतः ‘एकेन यजुषा’ परिश्रिद्रूपाणां मया उपधानं  
युक्तमिति ।

“बद्धो ह्येति । ‘हि’ यस्मात् ‘आपः’ ‘बद्धाः’ बहुविधाः ,  
तस्मात् तदात्मिकाः ‘परिश्रितः’ अपि ‘बद्धो भवन्ति’ बहुशब्दाद्  
“वोतो गुणवचनात्”—“बद्धादिभ्यश्च”—इति ‡ डोप् ॥ १५ ॥

परिश्रिद्रूपसिकतानां बाह्याभ्यन्तरभावं विधाय स्तौति—  
“तद्वै योनिरित्यादिना । ‘तद्वै’ तत्र जपसिकतापरिश्रित्सु मध्ये  
‘परिश्रितः’ शर्कराः ‘योनिः’ गर्भनिर्गमणमार्गः । उल्ब-संस्तुता  
जपाः , रेतः-संस्तुताः सिकताः , अतो योनि-संस्तुतानां परिश्रिता  
मुल्बाल्लकेभ्यो बाह्यत्वम् , जपाणाञ्च तत आन्तरत्वमुपपन्न-  
मित्यर्थः । “बाह्य जपा भवन्तीत्यादि । उल्बसंस्तुतत्वादृषाणां  
बाह्यदेशवर्त्तित्वम् , रेतःसंस्तुतत्वात् सिकतानां मध्यन्तरत्वं

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† आप औ० सू० १६. १३. १० ।

‡ पा० सू० ४. १. ४४ , ४५ ।

युक्तं मित्यर्थः । “बाह्यं ह्येति । लोकप्रसिद्धोपपादनम् ।  
“एतेभ्यो वा इति । योन्युत्पत्तयेभ्यः खलु जायमानो जन्तुर्जायते  
लोके । तथा च ‘एनम्’ अग्निं ‘तेभ्य एव’ योन्यादिभ्यः इदानीं  
‘जनयति’ ॥ १६ ॥

इत्थं संस्कृतगार्हपत्यायतनस्येष्टकाभिष्वयनं विधत्ते — “अथैन  
मिति । ‘अथ’ अनन्तरम्, सिकतात्मना सित्तस्य रेतसः यस्मात्  
कार्यरूपेण परिणामोऽपेक्षितः, ‘अतः’ कारणात् ‘एन’  
व्युद्गहनादिभिः संस्कृतं गार्हपत्यदेश मिष्टकाभिः ‘चिनोति’ ।  
‘इद मेव’ सिकतारूपेण ‘सित्तं रेतः’ ‘एतत्’ एतेन चयनेन  
‘विकरोति’ विज्ञत मवयवयुक्तं करोति । “तस्मादिति लौकिको-  
दाहरणम् ॥ १७ ॥

विहितस्य चयनस्य निष्पत्तये इष्टकानां सुपधानप्रकारं  
विधत्ते — “स चतस्र इति । गार्हपत्यायतनस्य मध्ये प्रथमं  
‘चतस्रः’ ‘प्राचीः’ प्रागायताः इष्टकाः उपदध्यात् । ततः  
‘पश्चात्’ पश्चाद्भागे ‘तिरश्चरौ’ तिर्यगायते ‘हे’ इष्टके उप-  
दध्यात् । तथा चतस्रणां ‘पुरस्तात्’ अपि हे तिरश्चरौ उपदध्यात् ।  
एतासु त्रिविधास्त्रिष्टकासु अवयववर्तुतिं करोति — “तद्या-  
श्चतस्र \* इत्यादिना । “स आत्मेति । मध्यदेह इत्यर्थः । “चतु-  
र्विधो ह्यय मिति । त्वगसृङ्मांसास्थिभेदेन, मनोबुद्धिहृद्धार-  
चित्तैर्वा, जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयेन वा आत्मनश्चातुर्विध्यम् ।  
सकृष्याविति । सकृथिः श्रोणिः, तेन च पादो लक्ष्यते ; पश्चा-  
दुपहिते इष्टके पादावित्यर्थः । पादपाण्युक्तस्यास्य शरीरस्य

\* ‘तद्याश्चतस्र’—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ; भाष्ये तु  
सर्वत्रैव ‘तद्याश्चतस्र’—इति ।

किन्तिहि शिर इत्यत आह— “यत्र वा इति । ‘यत्र’ खलु ‘आत्मा’ मध्यदेहो वर्तते , तत्रैव ‘शिरः’ आत्मन्येवान्तर्भूत मिति अतो न पृथग् वक्तव्य मित्यर्थः ॥ १८ ॥

“तं वा इत्यादि । ‘अत्र’ अस्मिन् गार्हपत्यस्थाने ‘तम्’ एव ‘एतम्’ अग्निं पादाभ्यां पुच्छेन च युक्त मेव ‘विकरोति’ ; मध्ये चतस्रः , उभयपार्श्वयोः द्वे द्वे , इत्येव सुपधीयमानत्वात् । “यादृग् वा इति । ‘योनी’ गर्भाशये अवस्थितं ‘रैतः’ गर्भः , यादृशाकारं ‘विक्रियते’ विशिष्टावयवं क्रियते , जननसमयेऽपि तादृशाकारविशिष्ट मेवापत्यं ‘जायते’ ।

इत्थं लौकिकीं स्थितिं मुक्ता प्रकृते योजयति— “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र ‘एतम्’ अग्निम् ‘अत्र’ गार्हपत्यायतनयोनी ‘यद्’ यस्मात् ‘पक्षपुच्छवन्तं विकरोति’ सूक्ष्मरूपेण निर्मिमीते , ‘तस्मात्’ ‘एषः’ अग्निः ‘अमुत्र’ आहवनीयस्थाने ‘पक्षपुच्छवान्’ जायते’ जायमान उपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

“तं वा इति । “न पक्षपुच्छवन्त मिव पश्यन्तीति । सता मपि पक्षपुच्छानां मदर्शनं योन्या मनभिव्यक्तेर्वा भवति \* । एतं लौकिकोदाहरणेनोपपादयति— “तस्मादिति † । “यथारूप मिति । विद्यमानं शिरःपादादिकं कृत्स्नं रूप मित्यर्थः । “अथैनं ममुवेति । ‘एतम्’ अनभिव्यक्तरूप मग्निम् ‘अमुत्र’ आहवनीयस्थाने अभिव्यक्तं ‘पक्षपुच्छवन्तं’ यस्मात् ‘पश्यन्ति’ , ‘तस्मात्’ एव कारणात् जननात् प्रागनभिव्यक्तावयवं गर्भजननात् ऊर्ध्वं ‘यथारूपम्’ अभिव्यक्तावयवं ‘पश्यन्ति’ इत्यर्थः ॥ २० ॥

“स चतस्र इति । “आत्मा ह्येवाग्र इति । यस्मात् शिरसा युक्तो मन्त्रदेहः ‘एव’ ‘सम्भवतः’ उत्पद्यमानस्य प्राणिनः ‘अग्रे’ प्रथमतः ‘सम्भवति अभिव्यक्तो भवति , तस्मादात्मसंस्तुता इष्टकाः पूर्वं सुपदध्यादिति युक्तम् । तस्मिन्नुपधाने धर्मविशेष माह— “दक्षिणत इति । गार्हपत्यायतनस्य दक्षिणदेशे उदङ्मुख आसीनः चतसृणां मध्ये ‘प्रथमाम्’ इष्टकाम् ‘उत्तरार्ध्याम्’ उत्तरार्धे भवाम् , उत्तरभागेऽवस्थिता सुपदध्यात् । “दिक्पूर्वपदादृष्टेति उत्तरार्द्धादित् प्रत्ययः \* । उत्तरार्ध्यायाः प्रथम सुपधाने प्रयोजन माह— “तथो हेति । तथैव खलु ‘अस्य’ दक्षिणतोऽवस्थितस्य अत्र्ययोः ‘एषः’ अग्निः ‘अभ्यात्मम्’ आत्माभिमुख मेव ‘चितो भवति’ ॥ २१ ॥

चतसृणां सुपधाने “अयं सो ऽअग्निरित्याद्याश्वत्वारी मन्त्राः †, इत्यभिप्रेत्य प्रतीकं सुपादत्ते— “अयं स इति । तथाच कात्यायनः— “मध्येऽर्द्धद्वहतीश्वतस्तो दक्षिणोत्तराः प्राचीरुपदधाति , दक्षिणत उदङ्मुखं सो ऽअग्निरिति प्रत्युच मिति ‡ ॥

तत्र प्रथमाया ऋचोऽयं मर्थः §,— ‘सः’ चीयमानो गार्हपत्योऽग्निः ‘अयं’ भूलोके एव । ‘यस्मिन्’ शरीरभूतेऽस्मिन् भूलोके जठरमध्ये ‘वावशानः’ कामयमान इन्द्रः ‘सुतम्’ अभिषुतं ‘सोमम्’ तत्कारणभूता वृष्टिलक्षणाः अपः ‘दधे’

\* पा० सू० ४. ३. ६ ।

† वा० सं० १२. ४७-५० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ८ । “अर्द्धद्वहतीरिष्टकाः ।

§ अयं पाठः,— “अयं सो अग्निर्यस्मिन्सोम मिन्द्रः सुतं दधे जठरे वावशानः । सहस्रियं वाज मव्यस्र सप्तिः ससवानस्त्यसे जातवेदः ॥”



अधत्त । 'सहस्त्रियं' सहस्रोपकारजनकं 'वाजम्' मबुद्धण मन्त्रम् ,  
'सप्ति' सरणशीलम् , 'अत्यं' सततगामिनम् , 'अत्यं न' अश्व  
मिव । नैत्युपमार्थे \* । 'ससवान्' सभक्तवान् । "वनपण  
सभक्तौ"—इत्यस्मात् † कसौ रूपम् । गार्हपत्यरूपेण प्रथमं चितः  
सन् हे 'जातवेदः' जातानां वेदितः अग्ने ! 'स्तूयसे' आह-  
वनीयात्मना चीयमानः तद्धारणमन्त्रैः प्रतिपाद्यसे इत्यर्थः ॥ ४७६ ॥

एतदर्थपरतां मन्त्रस्य प्रतिपादयति— "अयं वै लोक इत्या-  
दिना । "मध्यं वै जठर मिति । देहमध्यवाचिना जठरशब्देन  
भूलोकस्य मध्य मत्र लक्ष्यते । "आपो वै सहस्त्रिय इति । उप-  
काराणां सहस्रेण सन्धितः 'सहस्त्रियः' । "सहस्रेण सन्धितौ  
घः" ‡ । तथाविधो वाजोऽन्न मबुद्धणं विवक्षितम् ॥ २२ ॥

द्वितीयं मन्त्रं भागशोऽनूद्य व्याचष्टे— "अग्ने यत्त इति ।  
अस्य मन्त्रस्याय मर्थः §,— हे 'अग्ने !' 'यत्' 'ते' त्वदीयं  
'वर्चः' आदित्यात्मकं ज्योतिः 'दिवि' वर्त्तते , तथा 'पृथिव्यां'  
भूलोके 'यद्' वर्चः दाहपाकप्रकाशनसमर्थं मन्त्रात्मकं ज्योति-  
रस्ति , 'ओषधीषु' तरुगुल्माद्यासु , 'अप्सु' 'आ' आकारः  
समुच्चये , उदकेषु जाठरवाडवरूपेण , हे 'यजत्र' यजनीयाग्ने !  
त्वदीयं यत् तेजोऽस्ति , 'येन' वाय्वात्मना तदीयेन रूपेण 'उर'  
विस्तीर्णम् 'अन्तरिक्षम्' 'आततन्य' आतनोषि , हे अग्ने ! 'त्वेषः'

\* निरु० १. २. १ ।

† आ० प्र० ४६४ धा० ।

‡ पा० सू० ४. ४. १३५ ।

§ तस्यायं पाठः— "अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वस्मा  
यजत्र । येनान्तरिक्षं सुव्याततन्य त्वेषः स भातुरर्णवो वृक्षजाः"—इति ।

दीप्यमानो महानित्यर्थः । ‘सः’ अग्निः वाय्वादिरूपेण लोकात्रयं व्याप्य अवस्थितः, तदीयो ‘भानुः’ प्रकाशः ‘अर्णवः’ समुद्रोपमः सन्, ‘तृचक्षाः’ सर्वेषां तृणां द्रष्टा, प्रकाशको भवति ॥

अयं मेवार्थः श्रुत्या प्रतिपाद्यते— “आदित्यो वा अस्य दिवि वर्च इत्यादिना ॥ २३ ॥

तृतीयं मन्त्रं व्याचष्टे \*— “अग्ने दिव इत्यादि । हे ‘अग्ने !’ अस्य ‘दिवः’ अन्तरिक्षस्य सम्बन्धि ‘अर्ण’ मेघस्य सुदकं ‘अच्छ’ अभिलक्ष्य, धूमेन ‘जिगासि’ व्याप्नोषि । तथा अध्यात्मं ‘ये’ प्राण-रूपाः ‘देवान्’ धिष्णाः’ धियः ‘इणन्ति’ व्याप्नुवन्तो वर्त्तन्ते, तान् देवान् त्वं जाठराग्निरूपेण ‘जचिषे’ समवैषि । “उच सभवाये” —इति † धातुः । तथा ‘याः’ आपः’ ‘रोचने’ रोचमाने सूर्यलोके वर्त्तमानस्य ‘सूर्यस्य’ ‘परस्ताद्’ उपरिभागे वर्त्तन्ते, ‘याश्च’ ‘अवस्तात्’ अधोभागे ‘उपतिष्ठन्ते’ वर्त्तन्ते, आसा माश्रयित्वं प्राप्नोषीति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य दर्शयति— “आपो वा अस्य दिवोऽर्ण इति । “एष धूमेनेति । भूस्यां पार्थिवरूपेणावस्थितः ‘एषः’ अग्निरित्यर्थः । “प्राणा वै देवा इति । दीव्यन्ति विषयप्रकाशान् जनयन्तीति ‘देवाः प्राणाः’ इन्द्रियाणि । “ते हि सर्वा इति । ‘हि’ यस्मात् ‘ते’ प्राणाः ‘सर्वाः धियः’ शब्दादिविषयाणि सर्वाणि ज्ञानानि ‘इणन्ति’ आभीक्ष्णेन व्याप्नुवन्ति । “इष आभीक्ष्णे” —

\* तस्यायं पाठः— “अग्ने दिवो अर्ण मच्छा जिगास्यच्छा देवाश्च जचिषे धिष्णा ये । या रोचने परस्तात्सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः”—इति ।

† दि० प० ११७ धा० ।

इति क्रैधादिको धातुः \* । तस्मादेते धिष्ण्यशब्देन मन्त्रे विवक्षिताः । “याश्चैतं परेणेति । एतस्मात् सूर्याददूरेण परभागे इत्यर्थः । “एनबन्धतरस्याम्”—इत्येनप् †, “एनपा द्वितीया”—इति द्वितीया ‡ ॥ २४ ॥

“पुरीष्यासो अग्नय इति । चतुर्थो मन्त्रः § । अस्याय मर्थः,— पुरयति पयःप्रभृतिभिलोक मिति ‘पुरीष’ पशवः, तेभ्यो हिताः ‘पुरीष्याः’ । “आजसेरसुक् ॥” । तथाविधाः ‘अग्नयः’, ‘प्रावणेभिः’ प्रवनसम्बन्धिभिः सम्भजनयुक्तैस्तैदेवैः ‘सजोषसः’ समानप्रीतयः सन्तः अस्मदीयं ‘यज्ञं’ ‘जुषन्ताम्’ सेवन्ताम् । तदनन्तरम् ‘अदुहः’ द्रोहरहिताः, ‘अनमीवाः’ अमीवा अशनाया, तद्गृहिताः । ‘मह्यीः’ महतीः ‘इषः’ अन्नानि, अस्मभ्यं प्रयच्छन्त्विति शेषः ॥

उक्तार्थपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“पशव्यासो अग्नय इत्येतदित्यादिना । “प्रायणरूप मिति । ‘प्रावणेभिः’—इति मन्त्र-गतः ‘प्र’-शब्दः ‘प्रायणरूपम्’ प्रायणस्य प्रगमनस्य प्रारम्भस्य रूपम् । गार्हपत्यचितिश्व ‘अग्नेः’ अग्निचयनस्य प्रायणम् प्रारम्भः ; अतः प्रशब्दोपेतो मन्त्रोऽत्र योग्य इत्यर्थः । अनमीवा इत्यस्यार्थं माह—“अनशनाया इति । अशनेच्छा अशनाया क्षुत्पीडा,

\* ऋ० १० प० ५२ धा० ।

† पा० सू० ५. ३. ३५ ।

‡ पा० सू० २. ३. ३१ ।

§ तस्यार्थं पाठः—“पुरीष्यासो अग्नयः प्रावणेभिः सजोषसः । जुषन्तां यज्ञं मदुहोऽनमीवा इषो मह्यीः”—इति ।

॥ पा० सू० ७. १. ५० ।

न विद्यते सा यासां ताः 'अनशनायाः' । "अशनायोदन्यधनायाः"  
-इति \* बुभुक्षायां क्वचि त्वाभावो निपात्यते ॥ २५ ॥

एतासां मिष्टकानां क्रमेण कृतं सुपधानं मनूय स्तौति—  
'नानोपदधातीति । 'नाना' पृथगेकैकेष्टका सुपदध्यात् । तेन †  
'ये' 'आत्मन्' आत्मनि स्थिताः नानाविधाः कामाः, तान्  
सर्वान् सङ्कीर्णं पृथगेव 'दधाति' स्थापयति । सादनसूददो-  
हसोः सकृत्त्वं विधाय स्तौति— "सकृत् सादयतीत्यादिना ‡ ।  
तया देवतयेति यत् सादनम्, तत् चतसृणां मिष्टकानां  
सम्भूय सकृदेव कर्त्तव्यम् । 'तत्' तेन सकृत्त्वेन 'आत्मा-  
नम्' 'एकम्' एकाकारम् संहतं 'करोति' । पृथक् साद-  
नेन आत्मा विस्मिष्टः स्यात्, "ता अस्य सूददोहस इति § मन्त्रेण  
यदधिवदनम्, तदपि सादनस्य सकृत्त्वात् सकृदेव कर्त्तव्यं  
मित्यर्थः । अत एव सर्वेष्टकोपधानस्याधारणधर्मत्वेन सादनसूद-  
दोहसो कात्यायनेनोक्तौ— "नित्ये सादनसूददोहसा ऽउपधाना-  
दुत्तरे तथा देवतया ता अस्येत्यविशेषोपदेशात्"—इति ॥ । "प्राणि-  
नैवैन मिति । 'एनम्' आत्मानम् 'एतत्' एतेनाधिवदनेन 'सन्त-  
नोति' संयोजयति । तस्यैव विवरणम्— "सन्दधातीति ॥ २६ ॥

पश्चिमावर्त्योरिष्टकयोरुपधानप्रकारं माह— "अथ जघने-  
नेति ¶ । मध्येष्टकोपधानानन्तर्यं मथ शब्दार्थः । 'जघनेन परीत्य'

\* पा० सू० ७. ४. ३४ ।

† 'ततः'—इति ज ।

‡ का० औ० सू० १७. १. ६ ।

§ वा० सं० १२. ५३ ।

॥ का० औ० सू० १६. ७. १४, १५ ।

¶ का० औ० सू० १७. १. ११ क ।

गार्हपत्यस्थानस्य पश्चात् परिक्रम्य, 'उत्तरतः' उत्तरस्यां दिशि दक्षिणामुखः 'आसीनः' सन् 'अपरयोः' पाश्चात्ययोरिष्टकयोः 'दक्षिणां' दक्षिणभागस्या मिष्टकाम् 'अग्ने' प्रथमम् 'उपदधाति' ।

“इडा मग्न इति \* मन्वेण ॥

तस्याय मर्थः,— हे 'अग्ने !' 'हवमानाय' हवनं कुर्वते यजमानाय 'इडा' पशुः । जातावेकवचनम् † । गवा-  
श्वादिपशून् 'साध' साधय । पशुरेव ‡ विशेष्यते— “पुरुदंस  
मिति । दंस इति कर्मनाम §, बहुकर्महेतुभूतम्, अन्त्यलोप-  
स्थान्दसः । 'शश्वत्तमं' शाश्वतिकतमञ्च पुत्रपौत्रादिरूपेणा-  
विच्छेदेन सर्वदा वर्त्तमानम् ॥ । 'गोस्मनि' गवादिपशूनां  
दातारम् । 'अस्मै' यजमानाय 'साधय' सम्पादय । अपि च  
'नः' अस्माकं 'तनयः' पुत्रः, 'सूनुः' तत्पुत्रश्च, 'विजावा'  
विविधानां जनयिता स्यात्, उत्पाद्यता मित्यर्थः । जनेर्वि-  
पूर्वात् “अन्येभ्योऽपि दृश्यस्ते”—इति ¶ वनिप्, “विडुनोरनुनासि-  
कस्यात्”—इत्यात्वम् \*\* । किं बहुना हे 'अग्ने !' त्वदीया सा  
'सुमतिः' सर्वश्रेयोनिदानभूता कक्षाणी बुद्धिः 'अस्मै' अस्मासु  
'भूतु' भवत्वित्यर्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५१ ।

† पा० सू० १. २. ५८ ।

‡ 'एतदेव'—इति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

§ निघ० २. १. ३ ।

॥ 'पुत्रपौत्रादिरूपेण सर्वदा वर्त्तमानम्'—इति ङ, च, छ ।

¶ पा० सू० ३. २. ७५ ।

\*\* पा० सू० ४. ४. ४१ ।

एतदर्थपरत्वेन मन्त्रं व्याचष्टे— “पशवो वा इडेति । इडा खलु मनोर्दुहिता । तेनासु हुतैर्घृतदधिमस्वामिन्नारूपैर्द्रव्यै-  
रुत्पन्ना । इतच्च “तत्रापि पाकयज्ञेनेजि स घृतम्”—इत्यादिना  
प्रथमकाण्डे प्रतिपादितम् \* । तथा च पशुप्रभवद्रव्येभ्य उत्पन्न-  
त्वादिकायास्तद्वाचिनेडाशब्देन कारणभूताः पशव एवोच्यन्ते ।  
पुरुदंसादिविशेषणेषु लिङ्गव्यत्ययम्वान्दसः । पशूना मेवेति  
कर्मणि षंठी ; पशुविषयाम् ‘आशिषं’ प्रार्थनाम् ‘अस्मै’  
यजमानाय अध्वर्युः ‘आशास्ते’ । “यजमानो वै हवमान इति ।  
देवानाह्वयति , तेभ्यो जुहोतीति वा , हवमानशब्दो यजमान-  
वाचीत्यर्थः । “प्रजा वै स्रजुरिति । तनय-शब्देन पुत्रस्य  
प्रतिपादितत्वात् तत्पुत्रादिरूपाः प्रजाः स्रजु-शब्देन प्रति-  
पाद्यन्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अथ पाञ्चाल्ययोरुत्तरस्या इष्टकाया उपधानं विधत्ते—  
“अथोत्तरा मिति † । उपदधातीति शेषः । मन्त्रस्यायं मर्थः ‡ ,  
— हे ‘अग्ने !’ ‘ऋत्वियः’ ऋतौ भवः , ‘सनातनः’ ‘अयं’  
भूप्रदेशस्तव ‘योनिः’ उत्पत्तिकारणम् । ‘यतः’ यस्मादोनेः  
‘जातः’ सन् ‘अरोचथाः’ अदीप्यथाः , ‘तं’ योनिभूतं देशं  
‘जानन्’ ‘आरोह’ प्राप्नुहि । ‘अथ’ अनन्तरम् ‘नः’ अस्माकं  
‘रयिं’ धनं ‘वर्षेय’ ॥

मन्त्रस्यैत मर्थं प्रतिपादयति— “अयन्त इत्यादिना § ।

\* १ भा० ५२५ पृ० १५ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. ११ क ।

‡ वा० सं० १२. ५२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. ११ ख ।

“ऋत्विय इति । मन्त्रपदस्यार्थः माह \*— “ऋतव्य इति । ऋतो भव इति विगृह्य “ऋन्दसि घस्”—इति † घस्यत्यये ऋत्विय इति रूपम्, तथा च ऋतव्य इति तस्यार्थो भवति ‡ । ‘सनातनः’—इति ऋतव्यपदव्याख्यानम् ; ऋत्वात्मकस्य कालस्य सर्वदा विद्यमानत्वात् तत्र भवः अग्निः ‘सनातनः’ नित्य इत्यर्थः । तथा च ‘जातः’—इति प्रादुर्भावमात्रं विवक्षितम्, नोत्पत्तिः । “अदोष्यथा इत्येतदिति । “रुच दीप्तावभिप्रीत्याञ्चेति § रुचिधातो-रनेकार्थत्वादन दीप्तार्थो विवक्षित इति भावः । “यथैव यजुरिति । यजुर्मन्त्रो यथैव प्रतिपादयति, तथैव तस्य ‘बन्धुः’ बन्धनोऽयं व्याख्यानम् ॥ ; स्पष्टार्थतया न पृथक् व्याख्यायत इत्यर्थः ॥ २८ ॥

एतयोः पाश्चात्ययोः इष्टकयोरुपधानसादनादीनां पृथक् कर्तव्यता माह— “सकथ्यावित्यादिना । ‘अस्य’ अग्नेः ‘सकथ्यौ’ श्रीण्यौ ‘एते’ इष्टके ; अतः ‘ते’ ‘नाना’ पृथगुपदध्यात् । सादनसूददोहसाधिवदने अपि पृथक् कर्तव्ये । तत्र कारण माह— “नाना होमे इति । ‘इमे’ मनुष्यसम्बन्धिन्यौ सकथ्यौ ‘हि’ यस्मात् ‘नाना’ पृथगसंज्ञिष्टे भवतः, तस्मात् तत् संस्तु-

\* वा० सं० ३. १४ ; १२. ५२ ।

† पा० सू० ५. १. १०६ ।

‡ “ऋत्वियः । ऊपादनयोग्यः काल ऋतुरुच्यते । ऋतुः प्राप्नो-  
त्येति ऋत्वियः । ऋन्दसि घसिति ऋतुशब्दान्नदस्य प्राप्त मित्यर्थे  
घस्, तस्य इयादेशः । सायम्प्रातःकाले उत्पादनयोग्यः”—इति मही० ।

§ भा० आ० ७४५ धा० । ‘रुच दीप्तावतिप्रीतौ च’—इति तत्र पाठः ।

॥ ‘बन्धुः’ वञ्चनीयं ( ? बन्धनीयं ? ) व्याख्यातः—इति ज-पाठः ।

तयोः षष्टकयोरप्यसंज्ञेयो युक्त इत्यर्थः । “हे भवत इति ॥

पश्चाद्भागोपधानं मनूय स्वीति— “पश्चादिति । “पश्चाद्भौमे इति । ‘हि’ ‘यस्मात्’ ‘इमे’ दृश्यमाने पुरुषसम्बन्धिन्यौ सक्थ्यौ ‘पश्चाद्’ भागे शरीरस्यापरभागे भवतः, तस्मादनयोः पश्चादुपधानम् युक्तम् । अयप्रदेशेन तयोः परस्पर-संसर्गं विधत्ते— “अथाभ्या मिति । आत्मसमीपे अयदेशः, तत्रैते ‘संसृष्टे’ भवत इत्यर्थः । “एवं ह्येमे इति । लौकिकं निदर्शनम् ॥ २८ ॥

पूर्वाक्षयोरुपधानप्रकारमाह— “अथ तेनैवेति \* । येन मा-  
गेण पाश्चात्ययोरुपधाने परिक्रमणं कृतम्, तेनैव पुनः ‘दक्षिणतः’  
‘परीत्य’ परिक्रम्य, तत्रोदङ्मुखः ‘आसीनः’ ‘पूर्वयोः’ इष्टकयोः  
मध्ये ‘अग्रे’ प्रथमम् ‘उत्तरा सुपदधाति’ । “चिदसीति तस्य  
मन्त्रः † । अनन्तरम्, ‘दक्षिणाम्’ उपदधाति “परिचिदसीति ‡ ॥

तन्मन्त्रयोरयमर्थः,— भोगांश्चिनोति सम्पादयतीति चित् § ।  
हे इष्टके ! त्वं ‘चित्’ चेतयमाना वागसि [ भोगांश्चिन्वा-  
नासि । या देवता त्वा मभिमन्यते ॥ ] । तथा वायूपया ‘देव-  
तया’ ‘अङ्गिरस्वत्’ अङ्गिराः प्राणाः । “प्राणो हि वा अङ्गानां  
रसः”—इति ¶ तन्नामव्युत्पत्तेः । सोऽस्यास्तीत्यङ्गिरस्वत् । क्रिया-

\* का० औ० छ० १७. १. १२ ।

† वा० सं० १२. ५३. १ ।

‡ वा० सं० १२. ५३. २ ।

§ ‘चीयत इति चित् । यद्वा’—इत्यादि मञ्जीधरः ।

॥ बन्धनीचिह्नान्तःप्रदर्शितः पाठो ज-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

¶ श्रुतं ब्रा० ६ का० १ प्र० २ ब्रा० २८ ख ।



विशेषण मेतत् । “तसौ मत्वर्थे”-इति \* भत्वादुत्वाभावः । तेन युक्तं यथा भवति तथा वाग्देवतया युक्ता असौत्वर्थः । ‘ध्रुवा’ स्थिरा सती ‘सौद’ निषणा भव ॥

परिचिदसोति द्वितीयो मन्त्रः । परितो भोगांश्चिन्वाना सम्पादयमानासौत्वर्थः † । ‘सकथ्यावस्यैते’-इति वद ‡ ‘बाह्व अस्यैते’-इति व्याख्येयम् ॥

एतासा मिष्टकाना मुपधानस्य प्रादक्षिण्य मुपनयेन दर्शयन् स्तौति— “स वा इतीमा इति । ‘इमाः’ मध्ये उपधीयमानाश्चतस्र इष्टकाः आत्मन उत्तरार्द्धं मारुथ्य दक्षिणा उपदधाति § । ‘इमे’ पाश्चात्ये इष्टके ‘इति’ प्रथमं दक्षिणार्द्धार्थम्, पश्चादुत्तरार्द्धार्थं मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । तथा ‘इमे’ पौरुष्ये इष्टके प्रथमं मुत्तरार्द्धार्थम्, पश्चाद् दक्षिणार्द्धार्थं मित्यनेन क्रमेणोपदधाति । ‘तत्’ तथा सति ‘दक्षिणावत्’ प्रादक्षिण्येन वर्तनम् भवति खलु, ‘देवता’ देवेषु योग्य मित्यर्थः ॥ ३०, ३१ ॥

अथोपहिताना मिष्टकानां सम्भूय सङ्ख्यां प्रशंसति— “अष्टाविष्टका इति । “गायत्रोऽग्निः”-इत्यष्टाक्षरपादेन गायत्री-च्छन्दसा सह प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वादग्नेर्गायत्रत्वम् ॥ । सादन-सङ्ख्या मनूय स्तौति— “पञ्च कृत्व इति । मध्ये उपधेयस्य

\* पा० सू० १. ४. १६ ।

† ‘परिचीयमाना वागसौत्वर्थः’-इत्येव ङ, च, छ ।

‡ नवमकण्ठी, तद्वाच्यश्च द्रष्टव्यम् (१०, ३६ ए०) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. १३ ।

॥ ते० सं० ७. १. १. ४ ।

इष्टकाचतुष्टयस्य एकं सादनम् , अन्यासां चत्वारोति पञ्च भवन्ति । “पञ्चचित्तिकोऽग्निरिति । पञ्च चितयः प्रस्ताराः यस्मिन् स तस्योक्तः । “पञ्चर्त्तव इति । हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण \* । “संवत्सरोऽग्निरिति । संवत्सरः प्रजापतिर्विराट् , तदात्मकधीयमानोऽग्निः प्रागुक्त इत्यर्थः । सङ्ख्यादयं सन्भूय प्रशंसति — “अष्टाविष्टका इति । “त्रयोदश मासा इति । संसर्गाहस्यति(?)†)सञ्ज्ञकोऽधिमासस्त्रयोदशः ; “अस्ति त्रयोदशो मास इति”—इति श्रुतेः ‡ । “त्रयोदशाग्नेरिति । चित्त्यस्याग्नेश्चित्तिपुरोषाणि त्रयोदश भवन्ति । आदितश्चतस्रश्चितयः पुरोषनिवपनान्ताः , स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः । तदनन्तरभाष्येकं पुरोषम् , नाकसत् प्रभृति पुरोषनिवपनान्ता षष्ठी चित्तिरिति द्वे , ततो विकर्णस्वयमादृश्योरुपधानं हिरण्यशकलैः प्रोक्षण मन्थभ्याधानञ्चेति सप्तमी चितिः , सा त्रयोदशो , इत्यादिर्विभाग ऊह्यः § ॥ ३२ ॥

लोकम्पृणाख्याया इष्टकाया उपधानं विधत्ते — “अथेति । एवमष्टाविष्टका उपधाय , अनन्तरमवशिष्टे गार्हपत्यचित्तिस्थाने लोकम्पृणाख्या मिष्टका सुपदधाति ; लोकं शिष्टं स्थानं पृष्ण पूरयेति तस्मिन्ने ॥ प्रतिपादनात् । “तस्या उपरि बन्धुरिति । ‘तस्याः’ लोकम्पृणायाः ‘उपरि’ उपरिष्ठात् , अष्टम-

\* ऐ० ब्रा० १. १. १ ।

† सर्वेष्वेव पुस्तकेष्वेव मेव पाठः ।

‡ अत० ब्रा० प्र० ४. २. ५. ५ ।

§ हे इत्यादि ग्रन्थो ज-पुस्तकादन्यत्र नास्ति ।

॥ वा० ख० १२. ५४ द्रष्टव्यम् ।

काण्डावसाने “असौ वा आदित्यो लोकम्पृणा”-इत्यादिः स्तावको वाञ्छशेष आन्नास्यत इत्यर्थः \* ।

सक्तदुश्चारितेन लोकं पृणति मन्त्रेण तिसृणां युगपदुपधानं विधत्ते— “तिस्रः पूर्वा इति । तत् प्रशंसति— “विददग्नि-रिति । “स आन्तस्तेपानो मृदं शुष्काप मित्यादिना अग्ने-स्त्रिवृत्त्वम् प्रतिपादितम् †, अतोऽग्नेस्त्रिवृत्त्वसङ्ख्यायोगात् तिसृणां उपधानं युक्तं मित्यर्थः ॥

अथ तेनैव सक्तदुश्चारितेनैव मन्त्रेण दशाना मिष्टकानां उपधानं विधत्ते— “दशोत्तरा इति । उपदधातीति शेषः । उत्तरा उपरिभाविनीरित्यर्थः । “तासां उपरीति । ‘तासां’ दशाना मिष्टकानाम्, यादृशी सङ्ख्या, तत्स्तावकोऽर्थवादी भविष्यतीत्यर्थः ॥

पूर्वं त्रयोदशलोकम्पृणानां द्वेधा विभागेनोपधानं मभि-धाय, त्वेधा विभागपक्षं मय्याह— “द्वे वाग्रे इति । एतच्च पक्ष-द्वयं सूत्रकृतापि दर्शितम्— “तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो दश स च द्वयोर्वा दशस्त्रैकस्यां वा”-इति ‡ । द्वितीयं पक्षं लौकिकेन निदर्शनेनोपपादयति— “एवं हीति । यच्च हि काष्ठादिभि-धितिर्निर्मीयते, तत्र एव मेव हि चितिं चिन्वन्ति । मूलाग्र-भागयोर्द्वे काष्ठे प्रथमं तिर्यक् स्थापयन्ति, पञ्चाक्षर्योरुपरि अन्यानि सर्वाणि प्रागग्रार्धवशिष्टानि स्थापयन्ति । उपरिष्ठात् चलनाभावयैकं पुनः स्थापयन्ति । तस्मात् तदनुसारेणायं पक्ष

\* पुरस्तात् द. ४. ३. १ द्रष्टव्यम् ।

† इ. का० ११ प्र० १ ब्रा० १३ ख० द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. १७ ।

उक्त इत्यर्थः । तासां लोकम्पृणानां सङ्ख्यां सभूयानूद्य प्रा-  
गुक्तो वाक्यशेष इति दर्शयति — “तास्त्रयोदशेति । “त्रयो  
दश मासाः संवत्सरः”-इत्यादिरुक्तो \* वाक्यशेषोऽत्रापि योजनीय  
इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

पूर्वाभिरिष्टकाभिः सहैतासां सङ्ख्यां सभूय प्रशंसति—  
“ता उभय इति । ‘उभयः’ उभयविधाः , “अयं सो ऽग्नि-  
रित्यादिभिर्मन्त्रैः प्रागुपहिताः † अष्टौ लोकम्पृणास्त्रयोदशेति  
मिश्रिता एकविंशतिर्भवन्ति । [“एकविंश इति, एकविंशति-  
सङ्ख्यापूरकः । “तस्य पूरणे ङट्”, “तिर्विंशतेर्ङिति”-इति ‡ ‘ति’-  
शब्दलोपः § ] तत् तेनैकविंशतिसङ्ख्यासम्पादनेन ‘अमुं’ द्युलोकस्थ  
मेव आदित्यम् ‘अस्मिन्’ चिते ‘अग्नौ’ प्रतिष्ठापयति । एकविंशति-  
सङ्ख्यायोगाच्चोद्यमानोऽग्निस्तदात्मको भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

परिश्रितां सङ्ख्यां मनूय स्तौति — “एकविंशतिरिति ।  
‘उ’-‘एव’-इत्यनयोर्व्युत्पादशेषे सति ‘वेव’-इति भवति । तत्र ‘उ’-  
शब्दोऽप्यर्थे । ‘परिश्रितः’ गार्हपत्यचितेः परितः चिताः शर्करा  
अप्येकविंशतिसङ्ख्याका एव भवन्ति ; तत्रापि मासादिलोकान्ता  
विंशतिः पूर्ववत् । ‘अयम्’ एव चोद्यमानः ‘अग्निः’ ‘अमुतः’  
अमुत्र परिश्रिते ‘एकविंशः’ एकविंशतिसङ्ख्यापूरकः । ‘अधिः’  
सप्तम्यर्थानुवादी । ‘तत्’ तथा सति ‘इमम्’ एकविंशम् ‘अग्निम्’  
‘अमुष्मिन्’ एकविंशे ‘आदित्ये’ प्रतिष्ठापयति ॥

\* पुरस्तात् ११ ए० ३२ क० द्रष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् २२ क० ( ७, २६ ए० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० ख० ५. २. ४८, ६. ४. १४२ ।

§ अन्यनोचिज्ज्ञान्त एष पाठस्तु ङ-पुस्तकमात्रे अधिकः ।

एतदेव विवृणोति— “तद्यदिति । ‘तत्’ तत्र ‘यत्’ यस्मात्  
 ‘एताः’ परिश्रितः इष्टकाश्च ‘एवं’ प्रत्येक मेकविंशतिसङ्ख्याकाः  
 ‘उपदधाति’, ‘एतत्’ एतेन कारणेन ‘एतावेव’, अग्न्यादित्यौ  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन्’ ‘प्रतिष्ठापयति’ । अत एवेदानीं ‘तौ’ एव  
 ‘अन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ’ दृश्येते । आदित्यो रात्रावग्निं प्रविश्य  
 प्रतितितिष्ठति, अग्निश्चोद्यन्त मादित्यं प्रविश्य प्रतिष्ठितो  
 भवति । एतच्चाग्निहोत्रब्राह्मणे प्रतिपादितम् \* । तयोरुभयो-  
 रप्यत्र सन्निधान माह “तौ वा इति । परिश्रिदिष्टकासङ्ख्याया  
 हयोरैकविंशयोरत्र सम्पादनात् ‘इमौ’ अग्न्यादित्यौ ‘उभौ’  
 अपि ‘अत्र’ चित्याग्नी सन्निहितौ ‘भवतः’; तत्राहवनीय-  
 चितिरूपेणादित्यो वर्त्तते, गार्हपत्यचितिरूपेणाग्निरिति तयो-  
 र्विभाग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

पुरीषनिवपनं विधत्ते— “अथ पुरीष मिति † । इष्टकासन्धिषु  
 छिद्रपूरणार्थाः पांशवः पुरीषम् । तस्मात् ता सुपरि प्रक्षिपती-  
 त्यर्थः । “तस्योपरि बन्धुरिति । ‘तस्य’ पुरीषनिवपनस्य प्रयोजन-  
 प्रतिपादको वाक्यशेषः । “इन्द्रं विश्वा अवीदृधन्निति, तन्मन्त्र-  
 विधिश्च उपरिष्ठादष्टमकाण्डावसाने ‡ आन्नास्यत इत्यर्थः ॥

पुरीषाहरणस्थानं विधत्ते— “तच्चात्वालिति । उत्तरवेद्य-

---

\* “अग्निं वावादित्यः सायं प्रतिश्रति, तस्मादग्निर्दराग्नत्वं ददृशे;  
 उभे हि तेजसी सम्पद्येते; उद्यन्तं वावादित्य मग्निरनुसमारोहति,  
 तस्माद् धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे”—इति तै० ब्रा० २. १. २. ६, १० ।  
 उद्धृतस्वास्त्यैकोऽग्नौ च पुरस्तादग्निहोत्रब्राह्मणस्याख्यानेऽपि ( २ का०  
 २ प्र० ४ ब्रा० २ क०—२ भा० १२५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. १८ ।

‡ परस्मात् ८ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० द्रष्टव्यम् ।

धर्माणां पांसूनां निर्हरणस्थानं 'चात्वालः' उत्तरवेद्यंसदेशः,  
तस्य या वेला समीपम्, ततः पुरीष माहरेदित्यर्थः । तत्  
प्रशंसति— "अग्निरेष इति । आहवनीयान्धाधारोत्तरवेदिहेतु-  
त्वाच्चात्वालस्याग्न्यात्मकता । "तथो हेति । तथैव खलु सति  
'अस्य' चित्वाग्नेः 'एतत्' पुरीष मपि 'आग्नेयम्' अग्निसम्बद्धम्  
'एव भवति' ॥

इत्थं पुरोषान्ता गार्हपत्यचितिरुक्ता, अथ तस्याः प्रान्तेषु  
साम्य माह— "सा समम्बिला स्यादिति । 'सा' गार्हपत्य-  
चितिः 'समम्बिला' भवेत् । 'समं' समानं बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन न्यूनाधिकाकाररहितं 'बिलं' परितः प्रान्तदेशो यस्याः  
सा तथोक्ता । "तस्योक्त इति । 'तस्य' बिलसाम्यस्य उखा-  
निर्माणप्रस्तावे स्तावको वाक्यशेष आम्नात \* इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

गार्हपत्यचितेः परिमाणं विधत्ते— "व्याममात्रेति । चतुर-  
रत्निर्यामः, स परिमाण मस्याः सा । "प्रमाणे द्वयसच्"—  
इति † मात्रच् प्रत्ययः । तत् प्रशंसति— "व्याममात्रो वा इति ।  
तिर्यक् प्रसारितौ बाह्व यावत् परिमाणौ भवतः, तस्य  
परिमाणस्य व्यायम्यतेऽस्मिन् बाहुद्वय मिति व्युत्पत्त्या व्याया-  
म इति सञ्ज्ञा ; स एवात्र वर्णलोपेन व्याम इत्युच्यते ।  
'पुरुषो व्याममात्रः' चतुररत्नपरिमित इत्येतत् प्रसिद्धम् ।  
विराडात्मकः 'प्रजापतिः' च तादृक् पुरुषात्मकः । "त एतान्सप्त  
पुरुषानेकं पुरुष मकुर्वन्निति ‡ श्रुत्या प्रतिपादितत्वात्, तादृशो

\* पुरस्तात् ६. ३. ७. २० ।

† पा० छ० ५. २. ५७ ।

‡ पुरस्तात् ६. १. १. ३ ( २८० ७५० ) दृश्यम् ।

विराडात्मकः प्रजापतिरिवायं चीयमानः 'अग्निः' ; उभयोरपि संस्क्रियमाणरूपत्वसाम्यात् । "आत्मसन्निता मिति । चेष्ट्यमाण-  
स्याग्नेरुक्तरीत्या पुरुषत्वात् आत्मना स्वेनाग्निरूपपुरुषेण 'सन्नितां'  
समानपरिमाणाम् । 'तत्' तेन व्याममाचकारणेन गार्हपत्य-  
चितिरूपां 'योनिं' कृतवान् भवतीत्यर्थः । परितो मण्डला-  
कारां विधत्ते — "परिमण्डलेति । पारिमाण्डल्यं द्वेधोपपा-  
दयति — "परिमण्डला ह्येति ॥ ३७ ॥

गार्हपत्यचितिरूपस्याग्नेरुक्त्याग्नेश्च चतुर्भिर्मन्त्रैः संसर्जनं  
विधत्ते — "अथैनाविति । 'अथ' गार्हपत्यचयनानन्तरम्, 'एनी'  
चित्यौख्यरूपावग्नी 'सन्निवपति' सङ्गमयति, इष्टकाभिः चिते  
गार्हपत्यधिष्ठेयं उख्य मन्त्रिं स्थापयतीत्यर्थः । सन्निवपतीति  
संश्रद्धसूचितं मर्थं माह — "सञ्ज्ञा मेवेति । 'आभ्याम्' 'अग्नि-  
भ्यां' । कर्त्तरि ढतीया । 'सञ्ज्ञाम्' अग्निद्वयकर्तृकं सञ्ज्ञानम्,  
परस्परैकमत्यम्, एतेन सन्निवपनेन करोतीत्यर्थः । तच्च  
करणभूतानां चतुर्णाम् मन्त्राणां प्रतीकग्रहणं करोति \* —  
तच्च, "समित मिति प्रथमस्य प्रतीकम्, "सं वा मिति  
द्वितीयस्य, "अग्ने त्वम् पुरीष इति तृतीयस्य, भवतं न  
इति चतुर्थस्य ॥

ते च मन्त्राः † संहिताभाष्ये एव व्याख्याता इति  
प्रतीकं मन्त्रं व्याख्यायते । हे चित्यौख्यरूपावग्नी ! 'समितं'  
सङ्गती भवतम् । 'सङ्कल्पेभ्यां' समानकल्पनी समानसामर्थ्यौ  
एककार्यकरी भवतम् ( १ ) । हे 'अग्नी' 'वां' युवयोः

\* का० श्री० सू० १७. १. १६ ।

† वा० सं० १२. ५७—६० ।

‘मनांसि’ ‘समकरम्’ समानविषयाणि कुर्वे । तथा ‘व्रता’  
 “श्रेष्ठन्दसि बहुल मिति \* शेलीपः ; ‘व्रतानि’ युवयोः कर्माणि  
 समानानि (२) । हे चीयमानाग्ने ! ‘त्वम् पुरीथः’ पशव्यो भवसि  
 (३) । हे अग्नी ! ‘नः’ अस्माकं युवां ‘समनसो’ समानमनस्को  
 ‘भवतम्’ (४) । इति चतुर्णाम् प्रतीकानां मर्थः ॥

मन्त्राणां तात्पर्यं माह— “शमयत्येवैनाविति । परस्परं  
 विद्दिषाणौ ‘एनौ’ अग्नी ‘एतेन’ मन्त्रकरणकेन निवपनेन ‘शमय-  
 त्येव’ शान्तावेव करोति । तच्च शमनम् ‘अहिंसायै’ हिंसापरि-  
 हाराय ; ‘यथा’ तावग्नी ‘अन्योऽन्यं’ परस्परं ‘न हिंस्यातां’ हिंसां  
 न कुर्याता मिति ॥ ३८ ॥

चतुर्मन्त्रकरणकम् उख्याग्नेर्गार्हपत्यचितिमध्ये निवपनं  
 विधत्ते— “चतुर्भिरिति । ‘सन्निवपति’ नीचैः स्थापयति । “तद्य  
 इति । ‘तत्’ तेन चतुर्मन्त्रकरणकेन सन्निवपनेन ‘ये’ ‘चतु-  
 ष्पादाः पशवः’ गवाश्वादयः , ‘तैरेव’ उपायनभूतैः ‘आभ्याम्’  
 उख्यचित्यात्मकाभ्या मग्निभ्यां ‘सज्ज्ञां’ परस्परैकमत्यं ‘करोति’ ।  
 कारणान्तरं मध्याह्न— “अथो इति । ‘अन्नं’ खलु ‘पशवः’,  
 सन्भोजनीयत्वात् ; ‘अन्नेन’ पशुरूपेण ॥ ३९ ॥

रिक्ताया उखाया अर्च्युर्कर्तृकं यजमानकर्तृकं वा अवेक्षणं निषे-  
 धति— “तां न रिक्ता मिति † । नेदिति परिभये ‡ । ‘रिक्ताम्’  
 उखां ‘नेदवेक्षेत’ पश्यतु नैव । विपक्षे बाध माह— “यद्रिक्ता  
 मिति । ‘एनम्’ अवेक्षितारं ‘ग्रसेत ह’ भक्षयेदेव ॥ ४० ॥

तर्हि किं कुर्यादित्यपेक्षायां रिक्ताया उखायाः सिक-



ताभिः समगर्त्तत्वकरणं विधत्ते— “अथास्या मिति \* । ‘अस्यां’ रिक्ताया मुखायां सिकता आवपति , यावद् बिलं पूरयति । वैश्वानरस्याग्नेः ‘एतद्वेतः’ ‘यत्’ याः ‘सिकताः’ शौक्लासामान्यात् । ‘एतत्’ एतेन सिकतानिवपनेन ‘अस्याम्’ उखायां ‘रेतोभूतं’ वैश्वानरम् अग्निं ‘सिञ्चति’ स्थापयति । ‘सा’ उखा ‘समम्बिला’ भवेत् ; समं निम्नोन्नतत्वरहितं बिलं मुखं यस्याः सा , तथा समबिलेति प्राप्ते पूर्वपदस्य मुगागम-  
श्चान्दसः । समम्बिलत्वस्तावकोऽर्थवादः प्रागुक्त इत्याह—  
“तस्येति । स च “योनिर्वा इयत् रेत इद मित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रतिपादितः † ॥ ४१ ॥

उखायाः शिष्याहिमोचनं विधत्ते— “अथैना मिति ‡ । ‘एनां’ सिकतायुक्ता मुखां § शिष्याद् ‘विमुञ्चति’ पृथक् करो-  
ति । विमोक्तप्रयोजन माह— “अप्रदाहायेति । तत्रोपपत्ति माह— “यद्वीति । ‘युक्तम्’ अश्वादि यदाहनं ‘न विमुच्यते’ ‘तत् प्रदह्यते’ खलु । उक्त मर्थं प्रकृते योजयति— “एतद्वा इति । ‘एतद्वै’ एषा खलूखा ‘युक्ता’ सती एतम् ‘अग्निम्’ उख्यम् ‘एत-  
द्वेतः’ रेतोऽवस्थापन्नम् ‘अभार्षीत्’ धृतवती । ततोऽक्ततकार्यत्वाद्वि-  
मोक्तोपपत्तिः । धृतस्याग्नेः प्रजनन माह— “त मत्वेति । ‘अत्र’ अवसरे ‘तम्’ उख्याग्निम् ‘अजीजनत्’ प्राप्नोष्ट ; उखेति शेषः ।  
प्रजननानन्तरतो धारणहारोखायाः स्त्रीसाधर्म्यं प्रतिपादयति—

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ क ।

† पुरस्तात् ६ का० ३ प्र० ५ ब्रा० १६ क० ( ६ भा० २३५ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २१ ग ।

§ शून्या मुखां शिक्ताभिः सम्यूर्य—इति महीधरः ।

“अथापर मिति । ‘अपरं’ सिकतात्मकं रेतः ‘धत्ते’ धारयति ।  
“योषा वा उखेति । सिकतावापोपपत्तिः । “तस्मादिति ।  
लौकिकदृष्टान्तप्रदर्शनम् ॥ ४२ ॥

विहिते उखाविमोके मन्त्र मनूय व्याचष्टे— “मातेव पुत्र  
मिति \* । पुरीथपदस्य पशव्यत्वं वाच्योऽर्थः । ‘अभाः’-इति भृजः  
प्रथमपुरुषैकवचने व्यत्ययेन लुङि रूप मित्याह—“अभार्षीदिति ;  
“अभारुखा”-इत्युखाशब्दसामानाधिकरण्यात् ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः †,— येय सुखा ‘माता पुत्र मिव’ ; ‘पृथिवी’  
भूमिरूपा ; मृन्मयीत्वात् । ‘पुरीथम्’ ‘पशव्यम्’, पशुभ्यो हित  
मिति यावत् । तादृशम् ‘अग्निं’ ‘स्वे योनौ’ स्वकोये गर्भस्थाने  
‘अभाः’ अभार्षीत्, धारितवती । ‡ ‘विश्वकर्मा’ सर्वस्य कर्त्ता प्रजा-  
पतिः ‘ऋतुभिः’ यज्ञं प्रति गच्छद्भिः, विश्वैः सर्वैः देवैः ‘संविदानः’  
अहो महत् कर्म कृत मित्येवं संवादं कुर्वन्, इदानीं कृत-  
कृत्यां सतीं ता सुखां ‘विमुञ्चतु’ शिक्वादिमुञ्चति, पृथक्  
कुरुत इत्यर्थः ।

तस्या उखायाः ज्वलनरूपस्याग्नेरुत्तरपार्श्वे अरन्निमात्रे  
चितावेव निधानं कर्त्तव्य मित्याह— “ता मुत्तरत इति ‡ ।  
अरन्निमात्रप्रदेशे स्थापनस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागुक्त  
इत्याह— “तस्योक्त इति । “अरन्निमात्राद्धि वृषा योषा मुपशेत  
इति हि षष्ठकाण्डे प्रतिपादितम् § ॥ ४३ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ ख ।

† तत्पाठस्तु वा० सं० १२. ६१ द्रष्टव्यः ।

‡ का० श्रौ० सू० ( ‘अभिवत्’ ) १६. २. ५ ।

§ तत्र २ प्र० ३ ब्रा० ३० क० ( ६ भा० १४० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस आसेचनं विधत्ते— “अथास्या मिति \* । ‘अस्याम्’ उखायां ‘पयः’ दुग्धम् ‘आनयति’ आसिञ्चति । पयआसेके कारणं सुपपादयति—“एतद्वा इति । एतत् खलु कारणम्,— ‘एतत्’ सिकतालक्षणं ‘रेतः’ उखां ‘धत्ते’ धारयति । ‘अथ’ तदनन्तरं मिदं मानोतं पयो धत्ते । उक्तार्थसाधकं लौकिकदृष्टान्तं प्रतिपादयति— “यीषा वा इति । सिकतापयसोरधरोत्तरभावः मनूय स्तौति— “अधराः सिकता इति । “अधर् हि रेत इति । गर्भाशये अधोभागे स्थितं पुरुषस्य रेतः, स्त्रीवीर्यं शोणितरूपम्, ‘पयः’ ‘उत्तरम्’ उपर्यवस्थितं सत् ‘तत्’ पुंवीर्यं वेष्टयति । अत एव षाट्कौशिकस्य शरीरस्य त्वक्षांसासृग्नास्या बाह्यास्त्रयो धातवो मादृतो भवन्तीति स्मर्यते । तस्मात् सिकतापयसोर्बाह्याभ्यन्तरभावो गर्भोत्पत्तये सम्पद्यत इत्यर्थः । आनयनस्थानं विधत्ते— “तन्मध्य इति । ‘तत्’ पयः, उखायाः ‘मध्ये’ ‘आनयति’ आसिञ्चति, यथा तत् पयः प्रति उपधानसमये पुरुषशीर्षं सुपदध्यात् तथेत्यर्थः । अत एवोपधानसमये पुरुषशिरस उखायां सुपधानं सूचितम्— “उखायां प्रत्यञ्चि, सहस्रदा इति † पुरुषशिर उद्गृह्य मध्ये”—इति ‡ ॥ ४४ ॥ १ ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. १. २१ घ ।

† वा० सं० १३. ४० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १३, १४ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम् . )

प्रजापतिः प्रजा असृजत । स प्रजाः सृष्ट्वा  
 सृजं माजि मित्वा व्यसृजत तस्माद्विसृजतात् प्राणो  
 मध्यत उदक्रामद्यास्माद्दीर्य मुदक्रामत् तस्मिन्नुत्  
 क्रान्तेऽपद्यत तस्मात् पन्नादन्न मस्रवद्यच्चक्षुरध्यक्षत  
 तस्मादस्यान्न मस्रवन्नो हेह तर्हि का चन प्रति-  
 ष्ठास ॥ १ ॥ .

ते देवा अब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रतिष्ठा-  
 स्तीमु मेव पितरं प्रजापतिं संस्करवामु सैव  
 नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति \* ॥ २ ॥

तेऽग्नि मब्रुवन् । न वा ऽदृतोऽन्या प्रति-  
 ष्ठास्ति त्वयौमं पितरं प्रजापतिं संस्करवामु सैव  
 नः प्रतिष्ठा भविष्यतीति किं मे ततो भवि-  
 ष्यतीति † ॥ ३ ॥

तेऽब्रुवन् । अन्नं वा ऽन्नं प्रजापतिस्त्वन्-  
 मुखा एतदन्न मदाम त्वन्मुखानां न एषोऽन्न  
 मसदिति तथेति तस्माद्देवा अग्निमुखा अन्न म-

\* , † 'भविष्यतीति' -- इति ग , घ ।

दन्ति यस्यै हि कस्यै च देवतायै जुह्वत्याना-  
वेव जुह्वत्यग्निमुखा हि तद् देवा अन्न मुकु-  
र्वन्त ॥ ४ ॥

स योऽस्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामत् ।  
अय मेव स व्यायुर्योऽयं पवतेऽथ यदस्माद्वीर्यं मुद-  
क्रामदसौ स आदित्योऽथ यदस्मादन्नं मस्रवद्यदेव  
संवत्सरोऽन्नं तत्तत् \* ॥ ५ ॥

तं देवा अग्नौ प्रावृञ्चन् । तद्य एनं प्रवृत्त  
मग्निरुरोहद् † य एवास्मात् स प्राणो मध्यत उद-  
क्रामत् स एवैनं स आपद्यत तं मस्मिन्नदधुरथ  
यदस्माद्वीर्यं मुदक्रामत् तदस्मिन्नदधुरथ यदस्मादन्नं  
मस्रवत्तदस्मिन्नदधुस्तं सर्वं कृत्स्नं संस्कृत्योर्द्ध्वं  
मुदश्रयस्तथं तं मुदश्रयन्निमे स लोकाः ‡ ॥ ६ ॥

तस्याय मेव लोकः प्रतिष्ठा § ॥ अथ योऽस्मिन्-  
लोके ॥ ऽग्निः सोऽस्यावाङ् प्राणोऽथास्यान्तरिक्षं मात्माय

\* 'तत्तत्'—इति क, 'तत्तत्'—इति ग, घ ।

† 'मग्निरुरोहति'—इति सा०—सम्मतः प्राठ इति डा० वेबरः ।

‡ 'लोकाः'—इति ग, घ ।

§ 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

॥ 'लोके'—इति क, ग, घ ।

योऽन्तरिक्षे वायुर्य एवायु मात्मन् प्राणः सोऽस्य  
 स द्यौरेवास्य शिरः सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुषी यच्च-  
 क्षुरध्वशेत स चन्द्रमास्तस्मात् स मीलिततरोऽन्नः  
 हि तस्मादुत्सवत् ॥ ७ ॥

तुदेष्टा वै सा प्रतिष्ठा \* । यां तुद्देवाः सम-  
 स्कुर्वन्सैवेय मद्यापि प्रतिष्ठा सो ऽएवाप्यतोऽधि-  
 भविता † ॥ ८ ॥

स यः स प्रजापतिर्व्यस्रत्सत । अयु मेव स  
 योऽयु मग्निश्चीयते तद्यदेषोखा रिक्ता श्रुते पुरा  
 प्रवर्जनाद्यथैव तत् प्रजापतिरुत्क्रान्ते प्राण उत-  
 क्रान्ते व्यीर्ये सुतेऽन्ने रिक्तोऽशयदेतदस्य तद्रू-  
 पम् ‡ ॥ ९ ॥

ता मग्नौ प्रवृणक्ति । यथैवैन मदो देवाः प्रा-  
 वृज्जंस्तद्य एनां प्रवृत्ता मग्निरारोहति य एवास्मात्  
 स प्राणो मध्यत उदक्रामत् स एवैन स आप-  
 द्यते त मस्मिन्दधाल्यथ यद्रुक्त्वा प्रतिमुच्य विभर्ति

\* 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।

† 'भवित्वा'—इति ग, घ ।

‡ 'तद्रूपम्'—इति ग, घ ।

यदेवास्माद् वीर्यं मुदक्रामत्तदस्मिन् दधात्यथ याः  
समिध आदधाति यदेवास्मादन्नं मस्रवत्तदस्मिन्  
दधाति ॥ १० ॥

ता वै सायं प्रातरादधाति । अङ्गश्च हि  
तद्रात्रेश्चान्नं मस्रवत्तान्येतानि सर्वस्मिन्नेव संवत्सरे  
स्युः संवत्सरो हि स प्रजापतिर्यस्मात्तान्युदक्राम-  
त्तदस्मिन्नेतत् सर्वस्मिन्नेव सर्वं दधाति य-  
स्मिन् हास्यैतदतो न कुर्यान्न हास्य तस्मिन्नेत-  
द्दधान्नासंवत्सरभृतस्येक्षकेण च न भवितव्यमिति  
ह स्माह व्यामकचायणो नेदिमं पितरं प्रजा-  
पतिं विच्छिद्यमानं पश्यानीति तं संवत्सरे सर्वं  
कृत्स्नं संस्कृत्योर्ध्वं मुच्छयति यथैवैनं मद्दे देवा  
उदश्रयन् ॥ ११ ॥

तस्य गार्हपत्य एवायं लोकः\* । अथ यो  
गार्हपत्येऽग्निर्य एवायं मस्मिंल्लोके † ऽग्निः सोऽस्य  
सोऽथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्ष-

\* 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

† 'ल्लोके'—इति क, ग, घ ।

मथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरिक्षे व्यायुः  
 सोऽस्य स आहवनीय एव द्यौरथ य आह-  
 वनीयेऽग्निस्तौ सूर्याचन्द्रमसौ सोऽस्यैष आ-  
 त्मैव \* ॥ १२ ॥

तस्य शिर एवाहवनीयः † । अथ य आह-  
 वनीयेऽग्निर्य एवायः ‡ शीर्षन् प्राणः सोऽस्य स  
 तद्यत् स पक्षपुच्छवान् § भवति पक्षपुच्छवान् §  
 ह्ययः शीर्षन् प्राणश्चक्षुः शिरो दक्षिणः श्रोत्रं  
 दक्षिणः पक्ष उत्तरः श्रोत्रं मुत्तरः पक्षः प्राणो  
 मध्यमात्मा व्याक् पुच्छं प्रतिष्ठा तद्यत् प्राणो  
 व्याचान्नं जग्ध्वा प्रतितिष्ठन्ति तस्माद्वाक् ॥ पुच्छं  
 प्रतिष्ठा ¶ ॥ १३ ॥

अथ यदन्तराहवनीयं च गार्हपत्यं च । स  
 आत्माथ य आग्नीध्रीयेऽग्निर्य एवाय मन्तरारामन्

\* 'आत्मैव'—इति ख, 'आत्मैव'—इति ग, घ ।

† 'एवाहवनीयः'—इति ग, घ ।

‡, § 'पक्षपुच्छवान्'—इति ग ।

॥ 'तस्मात् प्राणानां व्याक्'—इति क ।

¶ 'प्रतिष्ठा'—इति क, 'प्रतिष्ठा'—इति ग, घ ।



प्राणः सोऽस्य स॒ प्रतिष्ठै॒वा॒स्य गा॒र्हप॒त्योऽश्वा॒ यो  
गा॒र्हप॒त्येऽग्निः सोऽस्या॒वाङ् प्राणः \* ॥ १४ ॥

त॒ ऽ है॒के त्रि॒चितं चि॒न्वन्ति । त्रयो वा  
ऽ॒हमे॒वा॒श्वाः प्रा॒णा इति न तथा कुर्याद॒ति ते  
रेच॒य॒न्येकविं॒शस॒म्पद॒ मथो ऽ॒नुष्टु॒प्स॒म्पद॒ मथो  
ब॒हती॒स॒म्पदं॒ ये तथा कु॒र्व॒न्त्येक॒ ऽ ह्ये॒वैत॒द्रूपं  
यो॒निरे॒व प्र॒जाप॒तिरे॒व यदे॒ते॒वा॒श्वाः प्रा॒णा यद्वि  
मू॒त्रं करो॒ति यत् पु॒रीषं॒ प्रै॒व त॒ज्जाय॒ते ॥ १५ ॥

अथा॒तः स॒म्पदे॒व † । एकविं॒शति॒रिष्ट॒का न॒व  
य॒जू॒॒षि त॒त् त्रिं॒शत् सा॒दनं च सू॒द॒दो॒हाश्च  
तद् द्वा॒त्रिं॒शद् द्वा॒त्रिं॒शद॒क्षरा॒नुष्टुप् सैषा॒नु॒ष्टुप् ‡ ॥ १६ ॥

एकविं॒शति॒र्वै॒व परि॒श्रितः । य॒जुर्द्वाविं॒शं  
व्यु॒द्ग॒ह॒नस्य॒ य॒जु॒रू॒षाश्च॒ य॒जुश्च॒ सि॒क॒ताश्च॒ य॒जुश्च  
पु॒रीषं च॒ य॒जुश्च॒ चतु॒र्भिः स॒न्नि॒व॒प॒ति व्वि॒मु॒ञ्च॒ति

\* 'प्राणः'—इति क, 'प्राणः'—इति ग, घ ।

† 'सम्पदेव'—इति ग, घ ।

‡ 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

पञ्चमेन तत्तस्त्रिभिरियं द्वाविंशदक्षरानुष्टुप् सैषा-  
नुष्टुप् \* ॥ १७ ॥

अथैते द्वे यजुषी † । सो ऽअनुष्टुबेव व्याग्वा  
ऽअनुष्टुप् तद्यदिदं द्वयं व्याचो रूपं देवं च मानुषं  
चोच्चैश्च शनैश्च तदेते द्वे ‡ ॥ १८ ॥

ता वा ऽएतास्त्रिस्त्रीऽनुष्टुभः । चित् एष  
गार्हपत्यस्तद्यदेता अत्र त्रिस्त्रीऽनुष्टुभः सम्पादय-  
न्त्यत्र ह्येवेमे तदा सर्वे लोका भवन्ति ततो  
ऽन्यतरां द्वाविंशदक्षरा मनुष्टुभ माहवनीयः  
हरन्ति स आहवनीयः सा द्यौस्तच्छिरोऽथेहान्य-  
तरा परिशिष्यते स गार्हपत्यः सा प्रतिष्ठा स उ  
ऽअयं लोकः § ॥ १९ ॥

अथ ये ऽएते द्वे यजुषी । एतत्तद्यदन्तरा-  
हवनीयं च गार्हपत्यं च तदन्तरिक्षं स आत्मा  
तद्यत्ते द्वे भवतस्तस्मादेतत्तनीयो यदन्तराहवनीयं

\* 'सैषानुष्टुप्'—इति ग, घ ।

† 'यजुषी'—इति ग, घ ।

‡ 'द्वे'—इति क, 'द्वे'—इति ग, घ ।

§ 'लोकः'—इति क, 'लोकः'—इति ग, घ ।

च गार्हपत्यं च तस्मादिषां लोकानां मन्तरिक्ष-  
लोकस्तु निष्ठः \* ॥ २० ॥

सैषा त्रेधा विहिता व्यागनुष्टुप् । ता मेषो-  
ऽग्निः प्राणो भूत्वानुसञ्चरति य आहवनीयेऽग्निः  
स प्राणः सोऽसावादित्योऽथ य आग्नीध्रियेऽग्निः  
स व्यानः स उ ऽअयं वायुर्योऽयं पवतेऽथ यो  
गार्हपत्येऽग्निः स उदानः स उ ऽअयं योऽयं मस्मिं-  
ल्लोके † ऽग्निरेवंविद्ध वाव सर्वां व्याचं सर्वं  
प्राणं सर्वं मात्मानं संस्करते ‡ ॥ २१ ॥

सैषा बृहत्येव § । ये वै द्वे द्वाविंशतौ द्वा-  
विंशदेव तदथेते द्वे यजुषी तच्चतुस्त्रिंशदग्नि-  
रेव पञ्चविंशो नाक्षराष्कन्दो व्यत्येकस्मान्न द्वा-  
भ्यां स उद्वाचरस्तत् षट्त्रिंशत् षट्त्रिं-  
शदक्षरा बृहती बृहती वा ऽएष सुञ्चितोऽभि-  
सम्पद्यते यादृग् वै योनौ रेतः सिच्यते तादृग्

\* 'लोकस्तु निष्ठः'—इति ग ।

† 'मस्मिंल्लोके'—इति क, ग, घ ।

‡ 'संस्करते'—इति ग ।

§ 'बृहत्येव'—इति ग, घ ।

जायते तद्यदेता मत्र ब्रह्मतौ करोति तस्मादेष  
सञ्चितो ब्रह्मतौ मभिसम्पद्यते ॥ २२ ॥

तदाहुः । यद्युं लोको गार्हपत्योऽन्तरिक्षं  
धिष्णाग्रा द्यौराहवनीयोऽन्तरिक्षलोक उ अस्मा-  
द्धोकादुनन्तर्हितोऽथ कस्माद् गार्हपत्यं चित्त्वाहव-  
नीयं चिनोत्यथ धिष्णाग्रानिति सह हैवेमाव्ये  
लोकावासतुस्तयोर्व्ययतोर्योऽन्तरेणाकाश आसीत्  
तदन्तरिक्षं मभवंदीक्षुं हैतन्नाम ततः पुरान्तरा  
वा ऽद्भुद मीक्ष मभूदिति तस्मादन्तरिक्षं तद्यद्  
गार्हपत्यं चित्त्वाहवनीयं चिनोत्येतौ ह्यग्रे लोका-  
वसृज्यता मय प्रत्येत्य धिष्णाग्रान्निवपति कर्मण  
एवानन्तरयायाथो ऽअन्तयोर्वाव संस्क्रियमाणयो-  
र्मध्यं संस्क्रियते ॥ २३ ॥ २ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

उच्यते रूपेण संस्कृतस्याग्नेर्विराड्रूपप्रजापत्यात्मकतां वक्ष्यन्नस्य \*  
प्रजापतेः संस्कृतिं वक्तुंकामस्तच्छरीरविशेषं प्रतिपादयति—

\* 'वक्ष्यन् तस्य'—इति ज ।

“प्रजापतिः प्रजा असृजतेत्यादिना । “प्रजाः सृष्टेति । देव-  
मनुष्यादिरूपा बह्वीः ‘प्रजाः सृष्ट्वा’ ‘सर्वम्’ ‘आजिं’ गन्तव्यस्थानम्  
‘इत्वा’ व्याप्य, आन्तः सन् ‘व्यस्रंसत’ विस्त्रस्तावयवोऽभवत् ।  
‘तस्माद्विस्त्रस्तात्’ प्रजापतिशरीरात् ‘मध्यतः’ ‘प्राणः’ प्राणादि-  
पञ्चवृत्त्यात्मकः ‘उदक्रामत्’ उत्क्रान्तोऽभवत् । ‘अथ’ अनन्तरं मेव  
तस्य प्रजापतेः ‘वीर्यं’ शुक्रम् ‘उदक्रामत्’ । ‘तस्मिन्’ निर्गते सति  
स भूमौ ‘अपद्यत’ पतितोऽभवत् । ‘तस्मात्’ ‘पन्नात्’ पतितात्  
प्रजापतिशरीरात् अन्तरवस्थितम् ‘अन्नम्’ ‘अस्रवत्’ सुत मभवत् ।  
‘यत्’ ‘चक्षुः’ ‘अव्यशेत’ । “अधिशोङ्स्थासां कर्म”—इत्यधिकरणस्य  
कर्मसञ्ज्ञा \* । ‘चक्षुरधि’ चक्षुषोर्मध्ये चक्षुषौ ज्योतिरवस्थित  
मभवदित्यर्थः । ‘तस्मात्’ ज्योतिषः ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ सुत  
मभवत् । ‘तर्हि’ तथा सति नैव खलु काचित् ‘प्रतिष्ठा’  
‘आस’ । तस्य प्रजापतेः शरीरस्य विस्त्रस्तत्वात् किञ्चिदपि  
प्रतिष्ठास्यदं † न बभूवेत्यर्थः ॥ १ ॥

अनन्तरं देवैः कृतं मस्य संस्कारं वक्तुं माह— “ते  
देवा इति । ‘इतः’ अस्मात् प्रजापतेः ‘अन्या’ ‘नैव’ ‘प्रतिष्ठा  
अस्ति’ आश्रयो विद्यते । ‘इमं मेव’ अस्मदीयं ‘पितरं प्रजा-  
पतिं’ ‘संस्करवाम’, यथा पूर्वं भवतिष्ठेत्, ‘सः’ च संस्कृतो  
‘नः’ अस्माकं पुनः ‘प्रतिष्ठा’ आश्रयो ‘भविष्यतीति’ ॥ २ ॥

इत्थं सम्प्रधारितं मर्थं कर्तुं प्रार्थितवन्त इत्याह— “तेऽग्नि  
मिति । ‘ते’ देवाः ‘अग्निं मनुवन्’ ‘न’ खलु ‘इतः’ अस्मात्  
प्रजापतेः ‘अन्या’ अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा अस्ति’, ‘इमं पितरं’ त्वयि

\* पा० सू० १. ४. ४६ ।

† ‘किञ्चिदस्यास्यदं’—इति क ।

‘संस्कारवाम’, स च संस्कृतः पुनरुत्थितः सन् अस्माकम् ‘प्रतिष्ठा भविष्यतीति’ । सोऽग्निरेतद्वाक्यं श्रुत्वा प्रत्यवोचत्,— ‘ततः’ तस्मात् संस्कारात् ‘मे’ मम ‘किम्’ प्रयोजनं ‘भविष्यतीति’ ॥ ३ ॥

तस्योत्तरं दर्शयति— “तेऽब्रुवन्निति । अन्नरूपो हि ‘अयं प्रजापतिः’ । तस्य च त्वयि संस्कारे सति वयं सर्वे ‘त्वन्मुखाः’ ‘एतदन्नम्’ ‘अदाम’ भुञ्जीमहि । ‘त्वन्मुखानाम्’ एवास्माकम् ‘एषः’ संस्कृतः प्रजापतिः ‘अन्नं’ भवत्विति \* । ‘तथेति’ सोऽग्नि-रङ्गीकृतवान् ॥

इदानीन्तनप्रसिद्धा देवानां मग्निमुखत्वं द्रढयति— “यस्या इति । इन्द्रादीनां मध्ये ‘यस्यै कस्यै चिद् देवतायै’ यत् किञ्चिद्विः प्रयच्छन्ति, तत् सर्वम् ‘अग्नावेव जुह्वति’ । तत्र कारणं माह— “अग्निमुखां हीति । ‘हि’ यस्मात् ते ‘देवाः’ ‘तत्’ तदानो प्रजापतिरूपम् ‘अन्नम्’ अग्निमुखा एव ‘अकुर्वन्त’, तस्मादग्नौ ह्ययमानं हविर्लक्षणं मन्नं सर्वं देवा अश्नन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

उत्क्रान्तानां परिणामविशेषं माह— “स योऽस्मादिति । प्रजापतिशरीरादुत्क्रान्तः प्राणवायुरेव भूतात्मकबाह्यवायुरूपेणो-त्पन्नः । यदुत्क्रान्तं वीर्यं तदेवासौ व्युलीके आदित्येऽभवत् । “यदेव संवत्सरऽत्र मिति । ‘यत्’ खलु संवत्सरस्य मध्ये व्रीहि-यवादिरूपम् ‘अन्नं’ पच्यते, ‘तत् तत्’ तदात्मना प्रजापति-र्विस्सत् † मन्नं परिणतं मभवदित्यर्थः ॥ ५ ॥

\* ‘भवति’—इथेव च, कृ ।

† ‘प्रजापतेर्विस्सत्’—इति ऊ, ‘प्रजापतिर्विस्सत्’—इति ज ।

प्रकृत मनुसरति—“तं देवा इति । ‘तं’ प्रजापतिदेहं  
 ‘देवाः’ ‘अग्नी’ ‘प्राहञ्चन्’ प्रतपनेन समस्कुर्वन् । ‘तत्’ तत्र  
 प्रवृत्तने सति ‘एनं’ प्रवृत्तं प्रजापतिं यः ‘अग्निः’ ‘आरोहत्’ \*  
 सङ्ग्रामति (स्म ५) , तदात्मना प्राङ् निष्क्रान्तः प्राणः ‘एव’ ‘एनं’  
 प्रजापतिं पुनः ‘आपद्यत’ प्राप्नोत् । तथा च ‘तं’ प्राणं वीर्यादिकं  
 ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ प्रवृत्तनेन स्थापितवन्त इत्यर्थः । “तत् सर्वं  
 मित्यादि । इत्थं प्रवृत्तनेन ‘तं’ प्रजापतिं ‘सर्वं’ निरवशेषं पूर्णा-  
 वयव ‘संस्कृत्य’ पुनः ‘जहु’ सुदश्रयन् गमनागमनव्यवहारसमर्थं  
 मूर्द्धाकारं मुच्छितं मकुर्वन् । ‘तत्’ तत्र च ‘यम्’ प्रजापतिम् ‘उद-  
 श्रयन्’ देवाः , ‘सः’ एव ‘इमे’ त्रयो ‘लोकाः’ लोकत्रयात्मको-  
 ऽभवदित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य कौटुकं किं मङ्ग मिति , तदाह—“तस्याय मेवे-  
 त्यादिना । ‘अयं’ भूलोकः ‘एव’ ‘तस्य’ विराडात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘प्रतिष्ठा’ । प्रतितिष्ठत्यस्या मिति प्रतिष्ठाशब्देन पादा-  
 वुच्येते । पार्थिवोऽग्निस्तस्य अवाचीनः प्राणः , येन मूत्रपुरी-  
 षादिकं मुत्सृज्यते । अन्तरिक्षलोकोऽस्य प्रजापतेः ‘आत्मा’ मध्य-  
 देहः । तत्र सञ्चरन् ‘वायुः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि मध्यदेहेऽवस्थितः  
 प्राणः । “सोऽस्य स इति । स वायुरेवास्य प्राण इत्यर्थः ।  
 “द्यौरिवासेति । द्युलोकोऽस्य प्रजापतेर्मूर्धा । तत्रत्यौ ‘सूर्याचन्द्र-  
 मसौ चक्षुषो’ तयोर्मध्ये ‘यश्चक्षुरध्यशेत’ यस्मिन् चक्षुषि ज्योति-  
 श्चक्षुरवस्थितः सम्भवत् , तच्चक्षुः ‘चन्द्रमाः’ । तदुपपादयति—

\* ‘आरोहति’—इति च , छ , ज ।

† छ—पुस्तकादन्यत्र नास्तीदं पदम् ।

“तस्मादिति । ‘हि’ यस्मात्, ‘तस्मात्’ चक्षुषःऽन्न मस्त्रवत्, तस्मात् कारणात् तच्चक्षूरूपः ‘चन्द्रमाः’ ‘मीलिततरः’ अतिशयेन मीलितः ; सूर्यादल्पप्रकाशो दृश्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

“तदेवा वा इत्यादि । ‘तत्’ तथा सति देवादीनां प्रजानाम् ‘एषा’ प्रजापत्यात्मिका ‘सा प्रतिष्ठा’, अभवदिति शेषः । ‘तत्’ तदानीं ‘यां’ ‘समस्कुर्वन्’ उदीरितरीत्या संस्कृतवन्तः । न केवल मतीतकाल एव प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपता, वर्त्तमानभविष्यकालयोरप्येत्याह— “सैवेय मिति । ‘अद्य’ इदानीं वर्त्तमानकालेऽप्येत्यर्थः । “अतोऽधिभवितेति । ‘अतः’ अस्मादहर्त्तमानादूर्ध्वकालेऽपि सैव प्रतिष्ठा ‘भविता’ “अनद्यतने लुट्”—इति \* भविष्यत्यदनद्यतने लुट् ॥ ८ ॥

प्रतिष्ठारूपस्य प्रजापतेः संस्कार मभिधाय चित्याग्नेरपि तादृक् संस्कारं वक्तुं तयोस्तादात्म्य माह— “स य इति । ‘सः’—इत्येकस्तच्छब्दः प्रसिद्धौ, अपरः प्रकृतपरामर्शकः । “योऽय मग्निरिति । गार्हपत्यचितिरूपो योऽग्निरित्यर्थः । तयोस्तादात्म्योपपत्तये प्रजापतेरवस्थाविशेष मत्रापि दर्शयति— “तद्यदेवेति । ‘तत्’ तत्र आहवनीये ‘प्रवृज्जनात्’ † पूर्वं ‘रिक्ता उष्ण शेते’ इति ‘यत्’, अस्य उत्क्रान्तप्राणादिकस्य प्रजापतेरेतद्रूपमित्यर्थः ॥ ९ ॥

संस्कारसाम्य माह— “ता मग्नाविति । ‘ताम्’ उष्णाम् ‘अग्नी’ आहवनीये ‘प्रवृणक्ति’ प्रतपति । “यथैदैन मिति ।

\* पा० सू० ३. ३. १५ ।

† प्रवर्जनादिति मूल पाठः ; तस्यैव वा व्याख्यानपद मिदं स्यात् प्रवृज्जनादिति ।



प्रजापतिसाम्यवर्णनम् । प्रजापतिः (?) \* 'अदः' अमुस्मिन् सृष्टि-  
काले इत्यर्थः । "तद्य एना मिति । 'एनाम्' उखां 'प्रवृत्तां'  
प्रतप्ताम् 'अग्निः' 'आरोहति' आक्रमते, अन्तर्जायत इति 'यः',  
अनेन पुरा प्रजापतिशरोरादुत्क्रान्तः 'सः' प्राणः 'एव' 'सः'  
अग्निर्भूत्वा 'एनम्' उखात्मकं प्रजापतिम् 'आपद्यते' आगच्छति ।  
'तं' प्राणम् 'अस्मिन्' 'दधाति' स्थापयति । "अथ यदुक्त्वा मित्यादि ।  
यजमानः सौवर्षं रुक्मं 'प्रतिमुच्य' † कण्ठे सूत्रेण बद्ध्वा, तस्यो-  
परि त मुखं विभर्त्तीति 'यत्', तेन प्रागुत्क्रान्तवीर्यं मेवा-  
स्मिन् पुनः स्थापयतीत्यर्थः । "अथ याः समिध इति । उखाया  
मग्न्यारोहणानन्तरं तस्मिन् 'याः समिध आदधाति', तामिस्तत्-  
प्रागस्मात् स्मृत मय्यन्नं पुनरस्मिन् स्थापयति । यदाह कात्या-  
तनः— "अग्नावारूढे त्रयोदशास्यां प्रादेशमात्रोः समिध आद-  
धाति"—इति ‡ ॥ १० ॥

तासां महारहस्याधानं मनूय, तत्र कारणमाह— 'ता  
वा इति । 'तत्' तदानीम् 'अङ्गो रात्रेश्च' सकाशात् प्रजा-  
पतिशरोरात् 'अन्नं मस्रवत्', अतस्तस्य पुनरवाप्तये समिधा  
माधानम् एतस्मिन् § 'संवत्सरे' प्रत्यहं कालत्रयेऽपि कर्त्तव्यं  
मित्यर्थः । अत एवोक्तं सूत्रकृता— "पालाशीः प्रत्यृच महारह-  
रिति"—इति ॥ रुक्मप्रतिमोचनोत्थभरणादीनां संवत्सरकालव्याप्ति

\* पदं भिदं मिह सर्वेष्वेव पुस्तकेषु ।

† नास्तीदम्यदमिह ज-पुस्तके ।

‡ का० श्रौ० सू० १६. ४. ३३ ।

§ 'तस्मिन्'—इति ज ।

॥ का० श्रौ० सू० १६. ४. ४० द्रष्टव्यम् ।

माह— “तान्येतानौति । ‘तानि’ रुक्मप्रतिमोचनोत्थभरणसमि-  
 दाधानविशुक्लमणादीनि पूर्वोक्तान्येतानि \* प्राणवीर्यान्नरूपेणा-  
 नुक्रान्तानौत्यर्थः । † ‘सर्वस्मिन्’ कृत्स्ने ‘एव’ ‘संवत्सरे’ भवेयुरिति  
 विधिवान् मेतत् । तेषां संवत्सरकर्त्तव्यत्वे उपपत्ति माह—  
 “संवत्सरो हीति । यस्मात् प्रजापतेस्तानि प्राणवीर्यान्नानि  
 उत्क्रान्तानि । स हि संवत्सरकालात्मकः खलु ‘एतत्’ एतेन  
 रुक्मप्रतिमोचनादीनां संवत्सर मनुष्ठानेन अस्मिन् प्रकृते सर्वात्मके  
 प्रजापतौ सर्वं निरवशेषं विश्वं ‘दधाति’ स्थापयति । व्यरि-  
 रेके बाध माह— “यस्मिन् हेति । ‘अस्य’ संवत्सरात्मकस्य प्रजा-  
 पतेः ‘यस्मिन्’ ऋतौ वसन्तादिके कालावयवे ‘एतत्’ पूर्वोक्तं ‘न’  
 स्थापयेत् । इत्थं प्रतिपादितं संवत्सरावयवे सर्वानाधानलक्षणं  
 दोषं स्पष्टयितुं संवत्सरभृतस्याग्नेः द्रष्टृत्व मपि निषेधयति—  
 “नासंवत्सरभृतस्येति । न संवत्सरपर्यन्तं ‘भृतः’ उखायां धृतः ,  
 सोऽयम् ‘असंवत्सरभृतः’, तस्य ‘ईक्षकेण चन’ द्रष्टापि ‘न’  
 भाव्यम् , किं सुतत्विजा । ‘इति’ एवं ‘वामकक्षायणः’ वाम-  
 कक्षस्यापत्य सृषिः ‘आह’ उक्तवान् । ‘चन’-शब्दोऽप्यर्थः । एवं  
 ब्रुवतो वामकक्षायणस्याभिप्राय माह— “नेदिम मिति ।

\* पूर्वस्मिन् काण्डे “रुक्म” प्रतिमुच्य विभक्तिं— इत्यादिको ग्रन्थः ,  
 काव्यायनीयश्च “यजमानः कण्ठे रुक्मम्”—इत्यादिको दृश्यः ( शत०  
 ६ का० ५ प्र० १ ब्रा० ३७१ पृ० , काव्या० १६. ५. १. ) ।

† इत उत्तर मूनविंशकण्ठीयाख्यानो ग्रन्थो ज-पुस्तकीयादर्शेषु  
 नैव लब्धः । मत्स्यस्यादितादर्शपुस्तकेष्वपि च-कृ-पुस्तकयोरिह लिखि-  
 तम्— “अत्र प्रतिपुस्तके पञ्चदशं गतम्”—इति । ततो ङ-पुस्तक-  
 मात्र मत्रावलम्बनम् ।

नेदिति परिभये \* । 'पितरं' पालकं 'इमम्' अधियन्नात्मकं  
 'प्रजापतिं' 'विच्छिद्यमानं' विशेषेण भिद्यमानं 'नेत्यश्नानि'  
 नैव ईक्षे इति । 'इति'-शब्दस्तदभिप्रायपरिसमाप्तिद्योतकः ।  
 उक्तं मर्थं निगमयति— "तं संवत्सर इति । संवत्सरे अतोते  
 'तं' प्रजापतिं 'सर्वं' निरवशेषं 'कृत्स्नं' सम्पूर्णविवं 'संस्कृत्य'  
 'जर्द्धं' सुच्छयति' गमनागमनव्यवहारसमर्थं मूर्द्धाकारं सुच्छितं  
 करोति । 'यथैव' येनैव प्रकारेण 'अदः' पूर्वं 'देवाः' 'एनं'  
 प्रजापतिम् 'उदश्रयन्' उच्छितं कृतवन्तः, तथेत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रकृतस्य चयनात्मकस्य प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकतां तदधिष्ठातृ-  
 म्निवाद्यादित्यात्मकताञ्च प्रतिपादयति— "तस्य गार्हपत्य इत्या-  
 दिना । "स यः प्रजापतिर्व्यस्तः सत अय मेव स योऽय मग्निधीयते"  
 -इत्युक्तम् \* , 'तस्य' प्रजापतेः 'गार्हपत्य एव' चितिरूपस्थलविशेष  
 एव 'अयं लोकः' पृथिवी । 'अथ यो गार्हपत्ये' अधिकरणे उच्यः  
 'अग्निः' स्थापितः, यश्चाय मग्निन् लोके पृथिव्या मधिष्ठातृत्वेन  
 स्थितोऽग्निः, स उच्योऽग्निः पृथिवीस्थानोऽग्निरपि अस्य प्रजापतेः  
 सम्बन्धो ; स जाठरोग्निर्बौद्धव्य इति शेषः । 'अथ' 'आहवनीयं  
 गार्हपत्यञ्च' 'अन्तरा' मध्ये, चित्योरन्तराल इति यावत्, यत् स्थलं  
 तदन्तरिक्षं मध्यलोक इत्यर्थः । 'अथ' च 'यः' अयम् 'आग्नी-  
 धीये' धिषो 'अग्निः' स्थापितः, य एव चाय मन्तरिक्षे अधिष्ठा-  
 तृत्वेन स्थितो वायुः, स आग्नीध्रीयस्थोऽन्तरिक्षस्थो वायुश्चेत्युभय-  
 विधोऽप्यस्य प्रजापतेः स पञ्चवृत्त्यात्मकः प्राण इत्यर्थः । 'आह-  
 वनीयः' चित्यात्मकः 'एव' 'द्यौः' द्युलोकः । 'अथ' 'आहवनीये'

\* निरु० १. ३. ६ ।

† इहैव पुरस्तात् नवमी कण्ठी (५१ पृ०) द्रष्टव्या ।

अधिकरणे 'यः अग्निः' अतिप्रणीतः स्थापितः , तौ सूर्याचन्द्रमसौ  
दुलोकोऽधिष्ठातृत्वेन स्थितौ । 'स एषः' आहवनीयादिः चन्द्रान्तः  
'अस्य' 'आत्मैव' मध्यदेह एवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

तस्य प्रजापतेराधियज्ञिक माध्यात्मिकञ्च रूपं प्रतिपिपा-  
दयिषुराह— "तस्य शिर इति । 'तस्य' प्रजापतेः 'आह-  
वनीयः' चित्वात्मकः 'शिरः' मूर्द्धा । 'अथ' 'यः' तत्र निधीय-  
मानः 'अग्निः', 'योऽयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि 'प्राणः' नासिका-  
सञ्चारी , स उभयविधोऽपि 'अस्य' प्रजापतेः 'स एव' शीर्षण्यः  
प्राण एवेत्यर्थः ॥ .

चित्वात्मकस्याहवनीयस्य , तत्र निधीयमानस्याग्नेश्च क्रमेण  
शीर्षत्वं शीर्षण्यप्राणत्वञ्च प्रतिपाद्य , तयोरेव पक्षपुच्छवत्त्वं प्रति-  
पादयति— "तद्यत् स इति । 'तत्' तत्र 'यत्' यस्मात् 'सः' चित्वा-  
त्मक आहवनीयः 'पक्षपुच्छवान्' पक्षाभ्यां पुच्छेन च युक्तोऽस्ति ,  
'अयं' 'शीर्षन्' शीर्ष्णि वर्त्तमानः 'प्राणः' नासिक्य इति यावत् ।  
सोऽपि 'पक्षपुच्छवान्' हि 'पक्षपुच्छैरन्वितः' खलु । पक्षपुच्छ-  
वत्त्व मेवोपपादयति— "चक्षुः शिर इत्यादिना । 'चक्षुः' सव्य-  
दक्षिणात्मकं चक्षुरिन्द्रियम् नासिक्यप्राणस्य 'शिरः' मूर्भूतम् ;  
तदुपरि वर्त्तमानत्वात् । दक्षिणकर्णौ दक्षिणपक्षस्थानीयः ;  
तस्य दक्षिणपार्श्ववर्त्तित्वात् । उत्तरकर्णौ उत्तरपक्षस्थानीयः ;  
उत्तरपार्श्ववर्त्तित्वादेव । 'प्राणः' स एव नासिक्यः । 'मध्यम्'  
अन्तर्वर्त्ति 'आत्मा' शरीरम् । वागायमनत्वाद् वाङ् मुखम् ,  
तदायतनं रसन मपि वा , तत् पुच्छम् ; पश्चाद्भावित्वात् । सैव  
'प्रतिष्ठा' आस्पदम् । प्रतिष्ठात्व मेवोपपादयति— "तद्यदिति ।  
'यत्' यस्मात् 'प्राणाः' नासिक्यादयो 'वाचा' मुखेन 'अन्नं' 'जग्ध्वा'

भत्रयित्वा शरीरे 'प्रतितिष्ठन्ति' नोत्क्रामन्ति, 'तस्मात्' हेतोः प्राणानां 'वाक् पुच्छं' प्रतिष्ठेत्युपपन्नम् ॥ १३ ॥

प्रकारान्तरेणापि तस्याधियज्ञिकाध्यात्मिकरूपता मेव प्रतिपादयति — "अथ यदन्तरेति । आह्वनोयगार्हपत्ययोः अन्तरालदेश इति 'यत्', 'स आत्मा' शरीरम् । 'आग्नीध्रीये' तदादौ धिष्णे 'योऽग्निः' निहितः । प्रदर्शनार्थं माग्नीध्रीयग्रहणम् ; उत्तरत्र "अन्तरिक्षं धिष्णाः"—इति बहुवचनोपदेशात् \* । योऽयम् अन्तरात्मनि 'प्राणः' पञ्चवृत्त्यात्मकः, 'सः' सर्वधिष्णास्थ एव 'अस्य' पञ्चवृत्तिकः प्राण इत्यर्थः । 'गार्हपत्योऽस्य' 'प्रतिष्ठा' पादौ । यश्च तत्रत्यः 'अग्निः' 'सोऽस्य' अवाचोनः 'प्राणः' ; पञ्चावृत्तित्वात् ॥ १४ ॥

त्रिचितिको गार्हपत्यश्चेतव्य इत्येकीयमतं सुपन्थस्यति — "तत् हैक इति । 'एके' शाखिनः तं प्रकृतं गार्हपत्यं 'त्रिचितम्' उपर्युपरि चितित्वयात्मकं 'चिन्वन्ति' । तिसृभिश्चितिभिश्चितस्त्रिचितस्तं तथाविधम् । चिन्वता मभिप्राय माह — "त्रयो वा इमे इति । प्रजननमूलपुरीषसंगवृत्तिभेदेन त्रित्वम्, ततश्च तिसृभिश्चितिभिस्त्रीण्येव प्राणायतनानि कल्पितानि भविष्यन्तीत्याशयः । वक्ष्यमाणसम्पत्तित्रयातिरेकात्मकदोषाधानेन तमेतं पक्षं निराचष्टे — "न तथेति । ये शाखिनः तथा त्रिचितचयनं कुर्वन्ति, 'ते' 'एकविंशसम्पदं' "ता उभय एकविंशतिः सम्पद्यन्ते"—इत्यादिनोक्ताम् † । एकविंशतेरिष्टकानां सम्पदम् 'अतिरेचयन्ति' अतिरिक्तां कुर्वन्ति । त्रिचितिके हि बहुतरा

\* ५७ पृ० २३ कण्ठी द्रष्टव्या ।

† इहैवाद्यब्राह्मणे ( १२ पृ० २ पं० ) ३४ कण्ठी द्रष्टव्या ।

द्रष्टकाः स्युः ; तथा , आनुष्टुभेषु “अथातः सम्पदेवैकविंशति-  
रिष्टकाः”—इत्यादिना \* वक्ष्यमाणायास्त्रिविधाया अपि सम्प-  
दम् , तथा “सैषा बृहत्येवः”—इत्यादिना † वक्ष्यमाणाया बृहत्याः  
सम्पद मपि अतिरेचयन्तीत्यनुषङ्गः ॥

“त्रयो वा इमेऽवाञ्चः प्राणाः”—इति यदुक्तम् ‡ , तदप्यङ्गीकृत्य  
निराकरोति—“एकं ह्येवेत्यादिना । एतस्य प्राणस्य रूपम् ‘एत-  
द्रूपम्’ एक मेव खलु , ‘यदेतेऽवाञ्चः प्राणाः’ प्रजननमूत्रपुरीष-  
सर्गवृत्तिभेदेन त्रयोऽपि । किम्पुनस्तदित्याह— “योनिरिवेति ।  
‘योनिः’ स्थानं कारणम् । मूत्रपुरीषरेतसा मेक मेवैतद्रूपं कारण  
मनादित्यापि कर्मविवक्षया आह— “प्रजापतिरेवेति । मूत्र-  
पुरीषसर्गात्मना प्रजापतेरेकत्वं मित्यर्थः । तदेवोपपादयति—  
“यद्वेति । ‘यन्मूत्रं करोति’, ‘यत्’ च ‘पुरीषं करोति’, ‘तत्  
जायत एव’ इति प्रजातिरूपेण त्रयाणां मध्येकत्वं सिद्धं  
मेवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वं सुपक्षिता मनुष्टुबृहत्स्योः सम्पद माह— “अथातः  
सम्पदेवेत्यादिना । ‘वक्ष्यते’-इति शेषः । “अयं सो अग्निः”—  
इत्यादिभिर्मन्त्रैरुपहिता अष्टौ यजुष्यः , लोकम्मृणास्त्रयोदशेति  
‘एकविंशतिरिष्टकाः’ । “नव यजूंषीति । अष्टानां मर्कबृहती-  
प्रभृतीनां यजुष्यतीनां मष्टौ “अयं सो अग्नि रित्यादीनि § , लोक-  
म्मृणानां मेकं “लोकं पृणोति ॥ , एवम् नव । ‘तत्’ तत्र ‘त्रिंशत्’

\* उत्तरस्यां कण्विकायां ( ५४ पृ० ६ प० ) द्रष्टव्यम् ।

† द्वाविंशी कण्वी द्रष्टव्या ( ५६ पृ० १० प० ) ।

‡ अनुपदं गतं द्रष्टव्यं मिहैव ( ५४ पृ० ३ प० , ६६ पृ० १ प० ) ।

§ वा० सं० १२. ४०—५३ ।

॥ वा० सं० १२. ५४ ।

सङ्ख्या सम्पद्यते । 'सादनञ्च' यजुः "तया देवतयेति \* ।  
सूददोहाश्च "ता अस्येति † । 'तत्' तेन 'द्वात्रिंशत्' 'अनुष्टुप्',  
द्वात्रिंशदक्षरा' 'सैषा' प्रसिद्धा 'अनुष्टुप्' गार्हपत्यचितौ सम्पन्ना  
द्रष्टव्या ॥ १६ ॥

एव मेक मनुष्टुभं सम्पाद्य अपरे द्वे अनुष्टुभावेव सम्पादयितु  
माह— "एकविंशतिर्वेति । 'उ' एव—इति पदच्छेदः । 'परि-  
श्रितः' एकविंशतिसङ्ख्या एव । यदुक्तं सूत्रकृता— "परिश्रिद्धिः  
परिश्रयति पूर्ववदेकविंशत्या चित् स्थेति" इति ‡ । "यजुर्द्वाविंश  
मिति । परिश्रिता मेवोपधाने विहितं "चित् स्थेति § "व्युद्-  
हनस्य यजुः" । "अपेत वेति ॥ त्रयोविंशम् । 'ऊषाः' तन्निवापे  
विहितं यजुः "सञ्ज्ञान मिति च द्वे ¶ चतुर्विंशपञ्चविंशे । 'सिक-  
ताश्च' तन्निवापयजुः "अग्नेर्भस्मेति \*\* च द्वे षड्विंशसप्तविंशे । 'पुरी-  
षश्च' तन्निवापयजुश्च "इदं विश्वा इति †† द्वे अष्टाविंशकोनत्रिंशे ।  
'चतुर्भिः' यजुर्भिः "समित मित्यादिभिः ‡‡ उख्य मग्निं 'सन्निव-  
पति', तत् सन्निवापस्त्रिंशः । "विमुञ्चति पञ्चमेनेति । "मातेव पुत्र  
मिति §§ यजुषा विहितः शिक्वादुखाविमोक एकत्रिंशः । अग्नि-  
सन्निवापोखाविमोकयोरुपयुक्तसङ्ख्यातः पातात् तत्सम्बद्धानि पञ्च  
यजुंश्चविंशानोत्थभिप्रेत्य तेषां पञ्चानां सुपयोग माह— "तत-  
स्त्रिभिरिति । 'ततः' तेभ्यः पञ्चभ्यो यजुर्भ्यः 'त्रिभिः' यजुर्भिः

\* वा० सं० १२. ५३. ३ ।

† वा० सं० १२. ५५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ७ ।

§ वा० सं० १२. ४६. ३ ।

॥ वा० सं० १२. ४५ ।

¶ वा० सं० १२. ४६. १ ।

\*\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

†† वा० सं० १२. ५६ ।

‡‡ वा० सं० १२. ५७-६० ।

§§ वा० सं० १२. ६१ ।

एकदेशभूतैरेका द्वाविंशत्तमी सङ्ख्या । एवम् 'इयम्' इदानीं प्रतिपादिता 'द्वाविंशदक्षरानुष्टुप्', सम्पद्यत इति शेषः । 'सैषा' प्रसिद्धा द्वितीया 'अनुष्टुप्' ॥ १७ ॥

अथ वायुपां तृतीया मनुष्टुभ माह— “अथैते हे इति । पञ्चसु मध्यमानुष्टुभि त्रीण्युपयुक्तानि, 'अथैते' ये अन्तिमे 'हे' 'यजुषी' अवशिष्येते, 'सा' 'तु' पुनर्यजुर्इयात्मिका 'अनुष्टुबेव' । ननु यजुर्इयात्मिकाया अस्याः कथं मनुष्टुबन्ध मित्यत आह— “वाग् वा इति । 'वाक्' खलु 'अनुष्टुप्' ; “वागनुष्टुबित्यग्निरहस्ये श्रुतत्वात् \* । यजुर्इयात्मिकानुष्टुबैकात्म्यप्रतिपादनाय वाचो हिरूपता माह— “तद्यदिदन्द्य मिति । इय मेव इयात्मक मित्यर्थः । तदेव हेधा विवृणोति— “दैवञ्चेत्यादिना । 'दैव' देवसम्बन्धि वाक्यं संस्कृतम्, 'मानुषं' मनुष्यसम्बन्धि भाषामयं वाक्यञ्च ;— 'उच्चैः' तारस्वरं वाक्यम्, 'शनैः' मन्द्रस्वरञ्चेति । 'तदेते हे' इत्युपचिन्तननिगमनम् । एवं तृतीयानुष्टुप् सम्पन्ना ॥ १८ ॥

प्रतिपादितानां तिसृणा मनुष्टुभा मुपयोगं विधत्ते— “ता वा एता इति । 'एषः' 'चितः' चित्वा सम्पादितः 'गार्हपत्यः', 'ताः' प्रसिद्धाः 'एतास्त्रिस्तोऽनुष्टुभः' खलु, सम्पादितानुष्टुप्त्रयात्मक इत्यर्थः । अनुष्टुप्त्रयसम्पादनस्य गार्हपत्यचितौ लोकत्रयसम्पादनहेतुता माह— “तद्यदेता इति । 'अत्र' गार्हपत्यचितौ यत् 'एतास्त्रिस्तः अनुष्टुभः' सम्पादयन्ति, वेदवादिन इति शेषः । 'तदा' आहनीयचयनात् प्रागेवात्रैव गार्हपत्ये 'इमे सर्वे लोकाः' त्रयोऽपि 'भवन्ति' ।

\* उपरिष्ठात् १० क० १ प्र० ३ ब्रा० १ का० “वाग्वा अनुष्टुप्”—इति ।



कारणे कार्यस्यान्तर्गतत्वादुत्तरेऽग्नयोऽपि गार्हपत्ये एवान्तर्गताः ,  
 पृथिवीलोके चेतरी लोकावन्तर्गता । “सोऽग्निना पृथिवीं  
 मिथुन् समभवत् तत आण्ड् समवर्त्तत”-इति तत एवो-  
 त्यत्तिश्रुतेः \* । तासा मेव अनुष्टुभा मुपयोगान्तर मपि विधत्ते—  
 “ततोऽन्यतरा मिति । तयोर्द्वात्रिंशदक्षरयोः अनुष्टुभोर्मध्ये ‘अन्य-  
 तराम्’ एकाम् ‘द्वात्रिंशदक्षरा मनुष्टुभं’ बुद्ध्या विविच्य आहवनीय  
 स्थानं ‘हरन्ति’, अनुसन्धानाय हरेयुरित्यर्थः । ‘सा’ चाहता  
 अनुष्टुप् आहवनीयचितिः , सैव द्युलोकः , तदेव चित्वाग्नि-  
 रूपस्य प्रजापतेः ‘शिरः’ भवति । ‘इह’ अग्निन् गार्हपत्य-  
 स्थाने ‘अन्यतरा’ एका द्वात्रिंशदक्षरा अनुष्टुप् ‘परिशिष्यते’, ‘सः’  
 एव ‘गार्हपत्यः’ अग्निरिति । चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः ‘सा’  
 एव ‘प्रतिष्ठा’ पादौ । ‘सः’ एव ‘अयं लोकः’ भूलोकात्मिका-  
 पीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्विसङ्ख्यायोगाद् गौणी या तृतीया अनुष्टुप् , तस्या अन्तरि-  
 क्षादिरूपता माह—“अथ ये एते इति । आहवनीयगार्हपत्य-  
 चित्त्वोर्मध्ये यदस्ति स्थान माग्नीध्रीयाख्यम् , एतदेव सा यजुर्व्या-  
 मिका अनुष्टुप् , ‘तदेवान्तरिक्षम्’ तृतीयानुष्टुबात्मकोऽय मन्त-  
 रिक्षलोक इत्यर्थः । सैव आनुष्टुभस्य चित्वाग्निरूपस्य प्रजापतेः  
 ‘आत्मा’ मध्यदेहः । द्वात्रिंशदक्षराभ्यां पूर्वाभ्या अनुष्टुब्भ्यां  
 द्विसङ्ख्यायोगिन्यास्तृतीयस्या अनुष्टुभोऽल्पीयस्त्वात् तदात्मकतयो-  
 क्ताना मत्यपरिमाणत्व माह—“तद्यत् ते द्वे भवत इत्यादिना ।  
 यस्मात् तृतीया अनुष्टुप् द्विसङ्ख्यायोगिनी , तस्मात् तदात्मकं

गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालं 'तनीयः' तनुतरम्, अल्पपरिमाणेव भवति । 'तस्मात्' एव कारणात् एषां लोकानां मध्ये 'अन्तरिक्षलोकः' 'तनिष्ठः' सूक्ष्मतमो भवति ॥ २० ॥

“सैषा त्रेधा विहितेत्यादि । त्रिप्रकारेण विहिता 'सैषा अनुष्टुप्' 'वाक्' एव । 'ताः' 'एषः' उच्यः 'अग्निः' 'प्राणो भूत्वा अनुसञ्चरति' आहवनीयगार्हपत्याग्नीध्रौयाख्येषु स्थानेषु क्रमेण व्याप्नोति । तत्स्थानगतेऽग्नौ प्राणोदानव्यानवृत्त्यात्मना सूर्यादिभेदेन तस्य व्याप्ति माचष्टे — “य आहवनीयेऽग्निरिति । 'आहवनीये' आहवनीयस्थाने निहितो 'यः अग्निः', 'सः' 'प्राणः' प्राणात्मकः, 'सोऽसावादित्यः' आदित्यात्मकश्च । 'आग्नीध्रौये' निहितसु व्यानात्मकः, वाय्वात्मकश्च । गार्हपत्ये निहितसु उदानात्मकः, पार्थिववाग्निरूपश्च । आहवनीयादीनां व्युल्लोकादिरूपत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ऊर्द्धमध्याधोदेशसम्बन्धेन प्राणादीनां तत्तदग्न्यात्मकता अवगन्तव्या ।

प्रतिपादितं मर्थं विदुषः फल माह — “एवंविदिति । अग्न्याद्यधिष्ठितलोकत्रयाणां प्रजापत्यात्मकत्वम्, गार्हपत्यचितौ सम्पादितास्वनुष्टुप्सु उदीरितरीत्या जानन् कृत्स्नां 'वाचम्' कृत्स्नम् 'प्राणम्', एतैरेव सर्वैः सम्पूर्णम् 'आत्मानम्' अग्निशरीरं 'संस्क्रुते' उत्पादयति ॥ २१ ॥

“अथो बृहतीसम्पद मिति \* प्राक्सूचितां सम्पत्ति माह — “सैषेति । 'सैषा' गार्हपत्यचितिः 'बृहत्येव', सम्पद्यत इति शेषः । ता मेव सम्पत्तिं दर्शयति — “ये वा इति । 'ये' खलु

पूर्वं सुक्ते द्वात्रिंशदक्षरे अनुष्टुभौ, तदुभयं मिलित्वा द्वा-  
त्रिंशदेवात्र सम्पद्यते । अवशिष्टे 'हे यजुषी', 'अग्निरेव'  
'पञ्चत्रिंशः' पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्यापूरकः ॥

ननु षट्त्रिंशदक्षरा बृहतीति श्रुतेः इतः परं मध्येकेन  
भवितव्यं मित्यत आह— “नाक्षरादिति । न चैकस्मादक्षरा-  
दविद्यमानात् 'छन्दः' 'व्येति' विगच्छति, अन्यथा भवति ।  
'न' च 'द्वाभ्याम्' अक्षराभ्याम् । एकेन द्वाभ्यां वा न्यूनं  
छन्दो न वैकल्यं प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा चैषां पञ्चत्रिंशत्-  
सङ्ख्यापि \* बृहत्येवेति तत्सम्पत्तिरविरुद्धा । सङ्ख्यापूर्तिं मपि  
दर्शयति— “स उ द्व्यक्षर इति । यः पञ्चत्रिंशोऽग्निः स  
खल्वक्षरद्वयवाच्यः, ततस्ताभ्यां मग्निरित्यक्षराभ्यां सह षड्-  
त्रिंशत् सङ्ख्या सम्पद्यते; तथा च षट्त्रिंशदक्षरा बृहती  
सम्पन्ना । अपि च 'एषः' आहवनीयस्थाने 'सञ्चितः'  
अग्निरपि 'बृहती मभिसम्पद्यते' । तत्र गार्हपत्यचिते-  
र्बृहतीसम्पत्तिरेव कारणं मित्याह— “यादृग् वा इति ।  
'योनौ' गर्भाशये यादृगाकारविशिष्ट' 'रेतः' 'सिञ्चते' तादृ-  
ग्रूप एवोत्पत्तिसमये 'जायते'; यथैव लोके, 'तत्' तथैवा-  
त्रापि । योनिरूपायां गार्हपत्यचितौ 'यद्' यस्मात् 'एतां बृहतीं  
करोति', 'तस्मात्' इत उत्पद्यमानः 'एषः सञ्चितः' अयं माह-  
वनीयोऽग्निरपि † 'बृहती मभिसम्पद्यते' । तां सम्पत्तिं यजुष-  
तीनां षष्ठ्युत्तरत्रिंशत्सङ्ख्याया दश बृहत्यः सम्पद्यत इति दशम-  
काण्डे दर्शयिष्यामः ॥ २२ ॥

\* 'पञ्चत्रिंशत्सङ्ख्याया मपि'—इति ज ।

† “ एष सञ्चितः' महाग्निरपि”—इति ज ।

गार्हपत्याग्नीध्रीयाहवनीयानां क्रमेण पृथिव्यन्तरिक्षदुली-  
कात्मकत्वात् क्रमेणैव तेषां संस्कारो युक्त इत्याशङ्क्य व्युत्क्र-  
मानुष्ठानं सुपपादयति— “तदाहुरित्यादिना । “अन्तरिक्षं  
धिष्ण्या इति । गार्हपत्याहवनीययोरन्तरालवर्तिनं आग्नीध्रीया-  
दयो \* धिष्ण्याः , ते अन्तरिक्षलोकात्मका इत्यर्थः । तत्र गार्ह-  
पत्यचयनानन्तर्यम् आहवनीयचित्तेराक्षिपति— “अन्तरिक्षं लोक  
इति । ‘अस्माद् लोकात्’ ‘अन्तरिक्षलोकाः’ ‘अनन्तर्हितः’  
प्रत्यासन्नः । तथा च गार्हपत्यचयनानन्तरं धिष्ण्यानिव-  
पनं मकृत्वा ‘अथ, कस्मात्’ हेतोराहवनीयचयनं मेव क्रियते ।  
‘अथ’ अनन्तरं मेव ‘धिष्ण्यान्’ चिनोतीत्यनुषज्यते । इत्यं मनु-  
ष्ठाने कारणं वक्तुं माह — “सह हैवेमा मिति । ‘अग्रे’ पुरा  
‘इमौ’ भूस्वर्गाख्यौ ‘लोकौ’ ‘सङ्घासतुः’ । ‘तयोः’ ‘वियतोः’ विविधं  
गच्छतोः वियुज्यमानयोः ‘यः’ मध्ये ‘आकाशः’ अवकाशः ‘आ-  
सोत्’, ‘तदन्तरिक्षं मभवत्’ । ‘ततः पुरा’ द्यावापृथिव्योर्विगमनात्  
पूर्वम् ‘ईक्षम्’ इति आकाशस्य ‘नाम’ ; द्यावापृथिव्योर्विशेषे  
सति ‘अन्तरा’ तयोर्मध्ये खलु ‘इदं मीक्षं मभूत्’ । ‘इति’  
हेतौ ; यस्मादेवं तस्मादिदं आकाशं मन्तरिक्षनामकं सम्यक्  
मित्यर्थः ॥

“तद् यद् गार्हपत्यं मित्यादि । एव मन्तरिक्षनिष्पत्ते-  
र्लोकद्वयानन्तरभावित्वाद् गार्हपत्यचयनानन्तरं मन्तरिक्षसंस्तु-  
तान् धिष्ण्यानतिक्रम्य ‘आहवनीयं’ ‘चिनोति’ चयनेन संस्कारो-  
तोति । ‘यत्’ यस्मात् तौ भूस्वर्गलोकौ ‘अग्रे’ खलु सह

\* ‘आग्नीध्रीयाः’—इत्येव ज ।

‘असृज्येतां’ सृष्टावभवताम्, ‘अथ’ आहवनीयचयनानन्तरं ‘प्रत्येत्य’ प्रतिनिवृत्त्य सदसि ‘धिष्ण्यान्’ ‘निवपति’ निर्मिमीते । अत्र प्रयोजन माह— “कर्मण एवेति । तत्र धिष्ण्यानां निवपनं कर्मणः क्रियाकलापस्य ‘अनन्तरयाय’ अविच्छेदायैव भवति । न त्वनेन किञ्चित् संस्कर्त्तव्यं मस्तीत्याह— “अथो इति । अपि च उभयोः ‘अस्तयोः’ आहवनीयगार्हपत्ययोश्चयनेन ‘संस्क्रियमाणयोः’ ‘मध्यम्’ अपि स्थलं ‘संस्क्रियते’, तेनैव संस्कारेण संस्कृतमेव भवति ; तस्माद् गार्हपत्यचयनानन्तरं माहवनीयस्यैव चयनम्, पञ्चाद्धिष्ण्यानां मिति क्रमः सिद्ध इति भावः ॥ २३ ॥ २ ॥

इति श्रोसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम्,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरौस्त्रिदशतुलताधेनुसीवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्सां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ,  
व्याघ्रौहिष्कचक्रं प्रक्षितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः,  
कार्पासीयं क्षपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।

आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मनुष्यः शर्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाव्यो रत्नरूपं गिरि मकत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्थः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

( अथ द्वितीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

अथातो नैर्ऋतौर्हरन्ति । एतद्वै देवा गार्ह-  
पत्यं चित्वा समारोहन्नयं वै लोको गार्हपत्य ईम  
मेव तं लोकं संस्तुत्य समारोहंस्ते तम एवा-  
नतिदृश्य मपश्यन् \* ॥ १ ॥

ते ऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथेदं तमः पा-  
प्मान मपह्नामहा ऽद्विति तेऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति  
चिति मिच्छतेति व्याव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथेदं तमः  
पाप्मान मपह्नामहा ऽद्विति ॥ २ ॥

ते चेतयमानाः । एता इष्टका अपश्यन्  
नैर्ऋतौस्ता उपादधत ताभिस्तत्तमः पाप्मान मपा-  
घ्नत पाप्मा वै निर्ऋतिस्तद्यदेताभिः पाप्मानं नि-  
र्ऋति मपाघ्नत तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ३ ॥

तद्वा ऽपतुत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं नु  
तत् तमः स पाप्मा देवैरेवापहतो यत्त्वेतत् करो-  
ति यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो य एव

पाप्मा या निर्ऋतिस्तु मेताभिरुपहृते तद्यदेताभिः  
पाप्मानं निर्ऋति मपहृते तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ४ ॥

यद्वेवैता नैर्ऋतीर्हन्ति । प्रजापतिं विश्वस्तं  
यत्र देवाः समस्कुर्वन्तु सुखायां योनौ रेतो  
भूतमसिञ्चन्त्योनिर्व्वा ऽउखा तस्मा ऽएतां संवत्सरे  
प्रतिष्ठां समस्कुर्वन्निम मेव लोके मयं वै लोको  
गार्हपत्यस्तुस्मिन्नेनं प्राजनयन्तस्य युः पाप्मा युः  
श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुपाघ्नस्तद्यदस्यै-  
ताभिः पाप्मानं निर्ऋति मपाघ्नस्तस्मादेता नै-  
र्ऋत्यः ॥ ५ ॥

तथैवैतद्यजमानः । आत्मान सुखायां योनौ  
रेतो भूतं सिञ्चति योनिर्व्वा ऽउखा तस्मा ऽएतां  
संवत्सरे प्रतिष्ठां संस्करोतीम मेव लोके मयं  
वै लोको गार्हपत्यस्तुस्मिन्नेनं प्रजनयति तस्य युः  
पाप्मा युः श्लेष्मा यदुल्बं यज्जरायु तदस्यैताभिरुप-  
हन्ति तद्यदस्यैताभिः पाप्मानं निर्ऋति मपहन्ति  
तस्मादेता नैर्ऋत्यः ॥ ६ ॥

पादमाव्यो भवन्ति । अधस्पद् मेव तत्



पाप्मानं निऋतिं कुरुतेऽलक्षणा भवन्ति यद्वै  
 नास्ति तदलक्षणा मसन्त मेव तत् पाप्मानं नि-  
 ऋतिं कुरुते तुषपक्ता भवन्ति नैऋता वै तुषा  
 नैऋतैरेव तन्नैऋतं कर्म करोति कृष्णा भवन्ति  
 कृष्णः हि तत्तम आसीदथो कृष्णा वै नि-  
 ऋतिः ॥ ७ ॥

ताभिरेतां दिशं यन्ति । एषा वै नैऋती  
 दिङ् नैऋत्या मेव तद्दिशि निऋतिं दधाति स  
 यत्र सुकृतं वेरिणः श्वभ्रप्रदरो वा स्यात्तदेना  
 उपदध्याद्यत्र वा ऽअस्या ऽअवदीर्यते यत्र वास्या  
 ऽओषधयो न जायन्ते निऋतिर्हास्यै तद् गृह्णाति  
 नैऋत एव तद्भूमेर्निऋतिं दधाति ताः पराची-  
 र्लोकभाजः कृत्वोपदधाति ॥ ८ ॥

अमुन्वन्त मयजमान मिच्छेति । यो वै न  
 सुनोति न यजते तं निऋतिर्च्छति स्तेन-  
 स्येत्या मन्विहि तस्करस्येति स्तेनस्य चेत्या मन्वि-  
 हि तस्करस्य चेत्येतद्यो यथा स्तेनस्तस्करः प्र-  
 लाय मेत्थेवं प्रलाय मिहीत्यन्य मस्मादिच्छ सा त

ऽद्विष्येति नित्यं विद्वांस मिच्छेत्त्येतन्नमो देवि नि-  
र्ऋते तुभ्य मस्त्विति नमस्कारेणैवैना मपहते ॥ ९ ॥

नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेज इति । तिग्म-  
तेजा वै निर्ऋतिस्तस्या ऽएतन्नमस्कारोत्ययस्मयं  
विवृता बन्ध मेत मित्ययस्मयेन ह वै तं बन्धेन  
निर्ऋतिर्वध्नाति यं बध्नाति यमेन त्वं यस्या  
संविदानेत्यग्निर्वै यम इयं यस्याभ्यां हौदं  
सर्वं यत् माभ्यां त्वं संविदानेत्येतदुत्तमे नाके  
ऽअधि रोह्यैन मिति स्वर्गो वै लोको नाकः स्वर्गो  
लोके यजमान मधिरोहयेत्येतत् \* ॥ १० ॥

यस्यास्ते घोर ऽआसन् जुहोमीति । घोरा  
वै निर्ऋतिस्तस्या एतदासन् जुहोति यत् तद्दे-  
वत्यं कर्म करोत्येषां बन्धाना मवसृज्जनायेति यै-  
र्बन्धैर्बद्धो भवति यां त्वा जुनो भूमिरिति प्र-  
सन्दत ऽद्वितीयं वै भूमिरस्यां वै सु भवति यो  
भवति निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विप्रवृत इति  
निर्ऋतिरिति त्वाहं परिवेद सर्वत इत्येतदियं

वै निऋतिरियं वै तं निरर्पयति यो निऋच्छति  
तद्यथा वै ब्रूयादसावामुध्यायणोऽसि व्वेद त्वा  
मा मा हिंसीरित्येव मेतदाह नतरां हि वि-  
दित आमन्वितो हि नस्ति ॥ ११ ॥

नोपस्पृशति । पाप्मा वै निऋतिर्नेत् पाप्मानं  
स्स्पृशा ऽद्वृति न सादयति प्रतिष्ठा वै सा-  
दनं नेत्पाप्मानं प्रतिष्ठापयानीति न सूददोहसाधि-  
वदति प्राणो वै सूददोहा नेत्पाप्मानं प्राणेन  
सन्तनवानि सन्दधानीति ॥ १२ ॥

ता हैके परस्तादर्व्वीचीरुपदधाति । पाप्मा  
वै निऋतिर्नेत् पाप्मानं निऋति मन्ववायामेति न  
तथा कुर्यात् पराचीरेवोपदध्यात् पराञ्च मेव तत्  
पाप्मानं निऋति मपहते ॥ १३ ॥

तिस्र इष्टका उपदधाति । तिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैव तत् पाप्मानं नि-  
ऋति मपहते \* ॥ १४ ॥

अथासन्दीर् शिक्व । रुक्मपाश मिण्ड्वे तत्

पराङ्गे न्यस्यति नैर्ऋतो वै पाशो निर्ऋतिपाशा-  
 देव तत् प्रमुच्यते यं ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध  
 पाशं ग्रीवास्त्रविचृत्य मित्यनेवंविदुषा हाविचृत्यस्तु  
 ते विष्टाम्यायुषो न मध्यादित्यग्निर्वा ऽत्रायुस्तस्यै-  
 तन्मध्यं युञ्जितो गार्हपत्यो भवत्यचित आहवनीय-  
 स्तस्माद्यदि युवाग्निं चिनुते यदि स्थविर आयुषो  
 न मध्यादित्येवाहायेत् पितुमङ्घ्रि प्रसूत इत्यन्नं  
 वै पितुरथैतदन्नमङ्घ्रि प्रमुक्त इत्येतत् विष्टुर्भि-  
 र्वज्रो वै विष्टुर् वज्रेणैव तत् पाप्मानं निर्ऋति  
 मपहते ॥ १५ ॥

तिस्र इष्टका भवन्ति । आसन्दौ शिष्यश्च  
 रुक्मपाश इण्डु तदष्टावष्टाक्षरा गायत्री गायत्री-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावतैव तत् पा-  
 प्मानं निर्ऋति मपहते ॥ १६ ॥

अथान्तरेणोदचमसं निनयति । वज्रो वा  
 ऽत्रापि वज्रेणैव तत् पाप्मानं निर्ऋति मन्तुर्दत्ते  
 नमो भूत्यै येदं चकारेत्पुनोत्तिष्ठन्ति भूत्यै वा  
 ऽएतदग्रे देवाः कर्माकुर्वन्त तस्या ऽएतन्नमोऽङ्कु-

र्वन् भूत्या ऽउ एवायु मेतत् कर्म्म कुरुते तस्या  
 ऽएतन्नमस्करोत्यप्रतीक्ष मायन्त्यप्रतीक्ष मेव तत् पा-  
 प्मानं विच्छति जहति ॥ १७ ॥

प्रत्येत्याग्निमुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदुपया-  
 यथं करोति यदग्नौ सामिचित् ऽएतां दिश मेति  
 तस्मा ऽएवैतन्निर्ऋते ऽहिंसायै ॥ १८ ॥

यदेवोपतिष्ठते । अयं वै लोको गार्हपत्यः  
 प्रतिष्ठा वै गार्हपत्य इयं सु वै प्रतिष्ठायैतदुपय-  
 मिवैति यदेतां दिश मेति तद्यदुपतिष्ठत ऽइमा  
 मेवैतत् प्रतिष्ठा मभिप्रत्यैत्यस्या मेवैतत् प्रति-  
 ष्ठायां प्रतितिष्ठति ॥ १९ ॥

निवेशनः सङ्गमनो वसूना मिति । निवे-  
 शनो ह्ययं लोकः सङ्गमनो वसूनां विश्वा  
 रूपाभिचष्टे शुचीभिरिति सर्वाणि रूपाण्यभिचष्टे  
 शुचीभिरित्येतद्देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो  
 न तस्थौ समरे पथीना मिति यथैव यजुस्तथा  
 बभूवुः ॥ २० ॥ ३ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२, १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्गमैः, त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथाख्यायिकया प्रयोजनप्रतिपादनपुरःसरं नैर्ऋतीना मिष्ट-  
कानां मुपधानं विधिस्तुतासां हरणं सङ्ग्रहेण प्रतिजातीते—  
“अथात इति । ‘अथ’ गार्हपत्यचयनानन्तरम् ‘अतः’ अस्मात्  
स्थानात् निर्ऋतिदेवताकाः इष्टकाः ‘हरन्ति’, नैर्ऋत्यां  
दिशि निरस्येयुरित्यर्थः । तासां मुपधानस्य प्रयोजनं माख्या-  
यिकयाचष्टे— “एतद्वा इति । ‘एतद्’ एतस्मिन् खलु  
गार्हपत्यचयनानन्तरकाले ‘देवाः’ ‘समारोहन्’ सम्प्राप्नुवन् ।  
एतदेव विवृणोति— “अयं वा इति । “ते तम एवेति । चय-  
नेन संस्कृतं भूलोकं मारूढाः ‘ते’ ‘अनतिदृश्यम्’ दृश्यमतिक्रम्य  
द्रष्टुं मशकं सर्ववस्त्वाच्छादकम् पापरूपं ‘तम एव’ सर्वत्र  
अपश्यन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

“तेऽब्रुवन्मिति । “उप तज्जानीतेति । उपेत्य तत् तमोऽपहन्तु  
मुपायं विचारयतेत्यर्थः । “तमः पाप्मानं मिति । तमोरूपं पाप्मानं  
चेतयध्वं मितोच्छार्थे णिजिति \* व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेतीति ।  
चितिं पापहननसाधनं मिष्टकानां चयनं मिच्छतेत्यर्थः । “तदि-  
च्छतेति । हे देवाः ! ‘तत्’ चयनम् ‘इच्छत’, ‘यथा’ येन चयनेन  
‘इदं’ तमोरूपं पापं नाशयेमेत्यर्थः ॥ २ ॥

“ते चेतयमाना इति । चिति मिच्छन्त इत्यर्थः ।  
“पाप्मा वै निर्ऋतिरिति । दक्षिणापरदिगम्बिदेवता सा ‘पाप्मा

वै' पापरूपैव । एतत्तादात्म्यं सुपञ्जीय पापापहृतिहेतुभूतानां मिष्टकानां 'नैऋत्यः'—इति नाम निर्वृत्तम् । “तद्यदेताभिरिति । ‘अपापत’ अनाशयन् ॥ ३ ॥

इत्थं माख्यायिकया नैऋतीनामप्रधानस्य पापरूपतमोनिवृत्त्यर्थतां प्रतिपाद्य, इदानीन्तनानुष्ठानस्यापि तदर्थता माह— “तद्वा एतत् क्रियत इति । ‘तत्’ खलु ‘एतत्’ इदानीं यजमानेन ‘क्रियते’, ‘यद्देवाः’ पुरा ‘अकुर्वन्’ । यथा ‘देवैः’ ‘अपहृतः’ नाशितः तमोरूपः ‘स पाप्मा’, इदानीं मध्यनुष्ठानेन निवर्त्तते । “यत्त्वेतदिति । ‘यत्’ खलु ‘एतद्’ यजमानः अनुतिष्ठति, देवैर्यत् कृतम्, ‘तत्’ अहं मपि ‘करवाणि’, ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदनुष्ठेयत इत्यर्थः । न केवलं मनुकरणमात्रं तथाविधफलसाधनं मपीत्याह— “अथो इति । उक्तं मर्थं मनुय नैऋतीनां मिष्टकानां मपहन्तृत्वद्वारा नाम निर्वृत्ते— “तद्यदेताभिरिति ॥ ४ ॥

प्रयोजनान्तरं वक्तुं नैऋतीनां हरणं मनुवदति— “यद्देवैता इति । ‘यत्’ उ एव’ यस्मादेव प्रयोजनान्तरात् ‘एता नैऋतीः’ इष्टकाः ‘हरन्ति’, तदुच्यत इति शेषः । आख्यायिकया तत् प्रतिपादयति— “प्रजापतिं विस्त्रस्तं मिति । यदा खलु ‘देवाः’ ‘विस्त्रस्तं’ विस्त्रिष्टावयवं ‘प्रजापतिं’ ‘समस्कुर्वन्’ पुनरजनयन्, तदा ‘तम्’ प्रजापतिम्, उल्लालक्षणायां ‘योनौ’ उल्ल्याग्निरूपेण ‘रितोभूतम्’ असिञ्चन् । “योनिर्वा उल्लेखि । उल्ल्याग्नेस्तत् उत्पत्तेः । “तस्मा एता मिति । ‘तस्मै’ प्रजापतये ‘संवत्सरे’ उल्ल्याग्निभरणेन नीते सति ‘एतां प्रतिष्ठां’ प्रतितिष्ठत्यनेनेति पादद्वयं प्रतिष्ठा ; भूलोकात्मकं पादद्वयं

मजनयन्नित्यर्थः । ननु संवत्सरे अतिक्रान्ते गार्हपत्य एव  
 चीयते , न भूलोकस्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तयोस्मादात्म्य माह—  
 “अयं वै लोक इति । “तस्मिन्नेन मिति । ‘तस्मिन्’ भूलोकात्मके  
 गार्हपत्ये ‘एनं’ प्रतिष्ठारूपं प्रजापत्यवयवं ‘प्राजनयन्’ उदपा-  
 दयन् । ‘तस्य’ प्रजायमानस्य ‘यः पाप्मा’ शरीरे लिप्तः, ‘यः श्लेष्मा’,  
 ‘यत्’ च ‘उल्बं’ गर्भवेष्टनम्, ‘यत्’ च जराव्याख्यं गर्भस्य बाह्य-  
 वेष्टनम्, ‘तत्’ सर्वं पापरूपम् ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एताभिः’  
 दृष्टकाभिः ‘अपाघ्नन्’ अपहतवन्तः । अत्रापि पूर्ववन्नामनिर्वचनं  
 करोति— “तद्यदस्येति ॥ ५ ॥

इतिहाससिद्धं मर्थं दृष्टान्तीकृत्य दार्ष्टान्तिके योजयति—  
 “तथैवैतदिति । यथा प्रजापति सुदीरितरीत्या देवाः समस्कु-  
 र्वन्, तथैवेदानीं यजमानोऽपि प्रजापतिरूपमात्मानम् “उखाया  
 मित्यादि पूर्ववद् योज्यम् \* ॥ ६ ॥

इत्थं पापरूपस्य तमसः, गर्भसम्बन्धिः श्लेष्मादिरूपस्य च  
 पाप्मानो निर्हरणहेतुत्वेन नैऋतीरिष्टकाः प्रशस्य, तासां  
 लक्षणं माह— “पादमात्र इति । विंशत्यधिकशताङ्गुलि-  
 परिमितः पुरुषः, तस्य दशमोऽंशः पादः, स प्रमाणं यासां  
 ताः ‘पादमात्रः’ । तदुक्तं कात्यायनेन— “पञ्चारब्धिर्दशवित-  
 स्तिर्विंशतिशताङ्गुलः पुरुषः, तस्य दशमेन पादमात्रो भवति”  
 -इति † । तत् परिमाणं प्रशंसति— “अधस्यद मेवेति ।  
 ‘एतत्’ एतेन नैऋतीनां पादमात्रपरिमाणकरणेन ‘अधस्यद’  
 पादस्याधस्तादेव निऋतिरूपम् ‘पाप्मानं’ कृतवान् भवतीत्यर्थः ।

\* एतत्पूर्वस्या मेव कष्टिकायां ( ८४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १६. ८. २१ ।



एतेन पादमात्र इत्यत्र \* पादशब्दोऽङ्घ्रिपर्यायः, न तु चतुर्थ्याश-  
वाचक इति व्याख्यातं भवति । धर्मविशेषं विधत्ते — “अलक्षण-  
भवन्तीति । आलिखितादिकं लक्षणम्, तद्गहिताभवेयुरित्यर्थः ।  
एतदुपपादयति — “यद्वै नास्तीति । ‘यत्’ खल्वभावप्रतियोगि,  
‘तत्’ निस्वरूपत्वाद् ‘अलक्षणं’ व्यावर्त्तकचिह्नरहितम् ; अतोऽत्रा-  
लक्षणकरणेन ‘निर्ऋतिं’ पाप्मानम् ‘असन्तम्’ अभावप्रतियोगिन  
मेव करोति । ननु पाके सतीष्टकान्तरलक्षणवत्त्व मासा भवर्ज-  
नीय मित्याशङ्क्य, तासां पाकप्रकार माह — “तुषपक्का भव-  
न्तीति । तुषैः पक्काः ‘तुषपक्काः’ । पचेः कर्मणि क्तः, “पचो वः” —  
इति † निष्ठातकारस्य वत्वम् । तत् प्रशंसति — “नैर्ऋता वा  
इति । दर्शपूर्णमासप्रकरणे “अथ तुषान् प्रहन्त्यपहतं रक्ष इति” —  
इति ‡ रक्षःसम्बन्धस्य समान्नातत्वात् तुषाणां नैर्ऋतत्वम् । तासां  
कार्ष्ण्यं विधत्ते — “कृष्णा भवन्तीति § । ताः तिस्र इष्टकाः कृष्ण-  
वर्णाः । तत्र कारण माह — “कृष्णं हीति । अपहन्त्यस्य तमसः  
कृष्णवर्णत्वात् तदभिमानिन्या निर्ऋतिदेवतायाश्च तादृग्वर्ण-  
त्वादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तासां उपधानार्थं दिग्विशेष मभिनयेन दर्शयति — “ताभि-  
रेता मिति । ‘एतां’ दक्षिणापरां दिशं ‘ताभिः’ सह  
‘यन्ति’ गच्छेयुः । ‘एषा’ खलु ‘नैर्ऋतीः’ निर्ऋतिदेवताधिष्ठिता  
‘दिक्’ । तथा सति स्वकीयदिश्येवैतां ‘निर्ऋतिं’ ‘दधाति’

\* ‘पादमात्र इत्यत्र’ — इति च, ज ।

† पा० सू० ८. २. ५२ ।

‡ शत० ब्रा० १. ४. २१ ( १ भा० ७६ पृ० ६ पं० ) ।

§ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

स्थापयति । तत्रापि देशविशेष माह—“स यत्रेति । ‘सः’ अध्वर्युः  
 द्वैर्ऋत्यां दिशि ‘यत्र’ यस्मिन् स्थाने ‘स्वकृतं’ स्वय मेव  
 सञ्जातम् ‘इरिणं’ निस्तृणम्, जषरस्थानं वा भवति \*, ‘श्वभ्र-  
 प्रदरो वा’, श्वभ्राकारेण प्रदीर्णः प्रदेशो भवेत्, ‘तत्’ तस्मिन्  
 स्थाने ‘एनाः’ नैर्ऋतीः ‘उपदध्यात्’ । तादृक्स्थानस्य निर्ऋति-  
 देवताधिष्ठितत्वं माह— “यत्र वा इति । ‘यत्र’ खल्वस्याः  
 पृथिव्याः सम्बन्धिनि स्थाने आत्मा ‘अवदीर्यते’ भिद्यते,  
 ‘यत्र वा’ जषरस्थाने ‘ओषधयो न जायन्ते’, तदेतत् स्थानद्वयं  
 निर्ऋतिगृहीतम् ; तथा च निर्ऋतिसम्बद्धे स्थाने एव  
 नैर्ऋतीनां सुपधानेन निर्ऋतिं स्थापितवान् भवति । धर्म-  
 विशेषं विधत्ते— “ताः पराचौरिति † । पराञ्चनाः स्वस्वानभि-  
 सुखा यथा भवन्ति तथा ‘लोकभाजः’ स्थानभाजः ‘कृत्वा’ ‘ताः’  
 इष्टका उपदध्यात् । एतच्च पराञ्च मये प्रतिपादयिष्यते ॥ ८ ॥

तत्र तिष्ठणा मिष्टकानां त्रयो मन्त्राः, तान् क्रमेण प्रदर्शयन्  
 व्याचष्टे— “असुन्वन्त मयजमान मित्यादिना ‡ । “यो वै न  
 सुनोतीति । ‘यः’ पुरुषः सोमाभिषवं न करोति, यच्च दर्श-  
 पूर्णमासादिभिर्हविर्यज्ञैः ‘न यजते’, ‘तं’ ‘निर्ऋतिः’ पापदेवता  
 ‘ऋच्छति’ प्राप्नोति । तस्मान्निर्ऋतिं सम्बोध्य “असुन्वन्त मयज-  
 मानं मिच्छेति § मन्त्रपाठो युक्त इत्यर्थः ।

“स्तेनस्य चेत्या मिति । प्रच्छन्नचौरस्तेनः, प्रत्यक्षं परिषां

\* ‘इरिणं निस्तृण सुषरस्थानम्’—इत्येव ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ वा० सं० १२. ६२, ६३, ६४ ।

§ वा० सं० १२. ६२ ।

धन मपहरति यः स तस्करः ; अन्योः परस्परविलक्षणत्वात्  
अविद्यमान मपि 'च'-शब्द मध्याहृत्य योजयति । स्तेनस्य  
तस्करस्य च या 'इत्या' गतिः , "सञ्ज्ञायां समजत्यादिना \*  
"इण् गतौ"—इत्यस्माद् † भावे क्यप् । तां गतिं हे निर्ऋते !  
त्वम् 'अन्विहि' अनुगच्छ । एतदेव विवृणोति—"अथो इति ।  
अपि च यथा स्तेनः तस्करश्च 'प्रलाय' प्रलीय अदृश्यो भूत्वा  
'एति' गच्छति । प्रलाय मिति णमुलन्तः ‡ । 'एवं' निर्ऋते !  
त्व मपि प्रलयन मदर्शनम् 'इहि' गच्छेति मन्त्रभागस्या-  
भिप्रायः । "अनित्यं विद्वांस मिति । 'इत्यम्' अनेन प्रकारेणोक्त  
मर्थं यो न वेत्ति , सोऽनित्यं विद्वांन् अत्रान्यशब्देन विवक्षित  
इत्यर्थः । हे निर्ऋते ! अस्मत्तः 'अन्यं' त्वत्स्वरूपानभिज्ञम् 'इच्छ' ।  
सा तादृशो अविद्वद्विषयैव खलु 'ते' तव 'इत्या' गतिरिति मन्त्र  
भागस्यार्थः । "नमस्कारेणैवेति । "नमो देवि निर्ऋते"—इत्यन्तिम-  
पादे नमस्कारप्रतिपादनात् तेनैव नमस्कारेण 'एनां' निर्ऋतिम्  
'अपहृते' अपवाधते अपसारयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

"नमः सु ते इति । द्वितीयो मन्त्रभागः । तत्र तिग्म-  
तेज इति विशेषणस्य प्रसिद्धि माह— "तिग्मतेजा वै इति ।  
तिग्मं तीक्ष्णं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजाः , हे तिग्मतेजो  
निर्ऋते ! 'ते' तुभ्यं नमोऽस्त्विति तस्यार्थः । द्वितीयपाद  
मनूय व्याचष्टे— "अयस्मयेनेति । अयसा लोहेन निर्मितो  
बन्धोऽयस्मयः । विकारार्थे मयट् § तादृशेन खलु बन्धेन

\* पा० सू० ३. ३. ६ ।

† अथा प० ४० धा० ।

‡ पा० सू० ३. ४. २२ इत्यादि द्रष्टव्यम् ।

§ पा० सू० ४. ३. १४३ ।

‘निर्ऋतिस्त्वं’ वध्नाति’ यं बन्धनीयं मच्यते । हे निर्ऋते !  
 ‘अयस्मय मेतं बन्धं विचृत’ विमुञ्चेति प्रार्थना युक्ता । यम-  
 यमोश्चयोर्विवक्षित मर्थं माह— “अग्निर्वै यम इति । अन्तः-  
 प्रविष्टः सन् कृत्स्नजगन्नियमनाद् ‘अग्निर्यमः’ ; तदधिष्ठित-  
 त्वात् ‘इयं’ पृथिव्येव ‘यमो’ ; इय मपि हि आश्रितं सर्वं जगन्निय-  
 च्छति । तथा ‘आभ्यां’ यमेनाग्निना , यस्या पृथिव्या च ‘संवि-  
 दाना सञ्ज्ञानाना ‘त्वम्’ । इति तृतीयभागस्यार्थः ।

चतुर्थं पाद मनूय व्याचष्टे— “उत्तमे नाक इति । कं  
 सुखम् , न कम् , अकं दुःखम् , तदस्मिन् नास्तीति ‘नाकः’  
 स्वर्गाख्यो लोकः । उक्तं हि—

“यन्न दुःखेन सन्निधे न च ग्रस्त मनस्तरम् ।

अभिलाषोयनोतं च तत् सुखं स्वःपदाभिधम्”—इति ।

सिद्ध मन्यत् ॥ १० ॥

“यस्यास्त इति । तृतीयो मन्त्रः \* । तत्र प्रथमपादस्य  
 तात्पर्यं माह— “घोरा वा इति । ‘निर्ऋतिः’ पापदेवतात्वात्  
 पापस्य च दुःखहेतुत्वाद् ‘घोरा’ नीव्रा दुःसहा । तथा च  
 ‘तद्देवत्व मेतत् कर्म करोति’ इति यत् , ‘एतत्’ एतेन  
 ‘तस्याः’ निर्ऋतेः ‘आसन्’ आस्ये ‘जुहोति’ प्रक्षिपति । एवञ्च  
 प्रथमपादस्याय मर्थः— हे घोरे निर्ऋते ! यस्याः तव आस्ये  
 जुहोमि , तांस्त्वा मित्युपरि सम्बन्धः ।

द्वितीयपाद मनूय एषा मिति इदंशब्दनिर्देश्य माह—  
 “यैर्बन्धैरिति । शिष्यपाशरुक्मसूत्रादिभिर्यैः बन्धनैः दुःखहेतुभिः

‘बद्धो भवति’ यजमानः, ‘एषां बन्धानां’ निर्ऋतिबन्ध-  
हेतुभूतानां पापानाम् ‘अवसर्जनाय’ विश्लेषणाय जुहोमीति  
सम्बन्धः ।

तृतीयपाद मनुद्य, तत्र भूमिरिति विशेषणस्य तात्पर्यं  
माह—“यां त्वेति । हे निर्ऋते ! ‘जनः’ लोकः ‘यान्त्वां’ ‘भूमिः’  
भवनहेतुः समृद्धिहेतुर्वा ‘इति’ ‘प्रमन्दते’ स्तूतीतीति तस्य पाद-  
स्यार्थः । “इयं वा इत्यादि । ‘इयं’ खलु पृथिवी निर्ऋतिरूपा  
‘भूः’ भवनहेतुः । कुत एतदित्याह—“अस्यां वा इति । ‘यो  
भवति’ उत्पद्यते, समृध्यते वा, ‘सः’ ‘अस्यां’ पृथिव्या माधार-  
भूतायां खलु ‘भवति’ । तस्माद् भवनाधिकरणत्वाद् भूमिरिति-  
नान्ना त्वं स्तूयस इत्यर्थः ।

जनवाद सुपन्यस्य, स्वस्य विशेषज्ञतां चतुर्थपादेनाह—  
“निर्ऋतिं त्वेति । अत्र विश्वशब्दः सर्वशब्दपर्याय एव, न  
तु जगद्वाचीत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—“निर्ऋतिरितीति । अयं  
मर्थः,—तृतीयपादे भूमिशब्दादुत्तरत्वेन पठितः ‘इति’-शब्दो-  
ऽत्रानुषज्यते । ‘अहं’ पुनः ‘त्वां’ ‘निर्ऋतिः’ सर्वतो निरर्पण-  
हेतुः आर्त्तिकारणम् \* ‘इति’ ‘परिवेद’ परितो जानामि ।  
एवं निर्ऋतिं त्वेति द्वितीयान्तं निर्ऋतिपद मतिशब्दा-  
नुषङ्गनेन व्याख्यायैतदुपपादयति—“इयं वा इति । यो  
निःशेषेण ‘ऋच्छति’ आर्त्तिं प्राप्नोति, ‘तं’ पुरुषम् ‘इयम्’ एव

\* “निर्ऋतिः ऋच्छापत्तिः स्यादलञ्जीस्तु निर्ऋतिः ( अम० को०  
१. २. १३. )—इदमभिधानात्, भूमिर्वा निर्ऋतिः, दिग्भिमानिनी  
देवता वा; ‘अलङ्गां दिक्पतौ चापि निर्ऋतिर्निरुपद्रवे’—इति  
कोशात्—इति मञ्जीधरः ।

देवता 'निरर्पयति' निर्ऋतं प्रयुङ्क्ते । निरुपपदात् ऋच्छतेः  
प्रयोजकव्यापारे णिचि \* “अर्त्तिङ्गोत्यादिना † पुक् । अतो  
निरर्पणादियमेव पृथिवी निर्ऋतिरित्युच्यते । अतो भवत्याः  
स्वरूपं सम्यगहं जानामीत्यर्थः ।

एतज्ज्ञानस्य सदृष्टान्तं प्रयोजनमाह— “तद्यथेति ।  
'तत्' तत्र अरण्यादौ चोरादिष्वागतेषु, असौ त्वमेतन्नामासि,  
अमुष्य यज्ञदत्तस्य पुत्रोऽसि, अतस्त्वा महं जानामि, मां  
'मा हिंसोः' मा वधिष्ठाः 'इति' आगतं प्रति यथोच्यते,  
एवमेव खल्वेतं “निर्ऋतिं त्वाहमित्यादिना निर्ऋतेः  
स्वरूपप्रतिपादनम् । नामग्रहणस्य फलमाह— “नतरामिति ।  
'विदितः' ज्ञातो नामगोत्रादिना, 'आमन्त्रितः' आहूतः,  
चोरादिः आत्मोपत्वेनाह्वातारं पुरुषं 'नतराम्' अतिशयेन नैव  
'हिनस्ति' बाधते; एवमेव निर्ऋतिनामग्रहणादेनं यजमानं  
निर्ऋतिर्न बाधत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

उपस्पर्शनसादनसूददोहसा मिष्टकान्तरवदासु प्रसक्तानां ‡  
निषेधं करोति— “नोपस्पृशतीत्यादिना § । उपहिताया इष्ट-  
कायाः प्रथममुपस्पर्शनं कर्त्तव्यम्, पश्चात् “तथा देवतयेति ॥  
सादनम्, ततः “ता अस्येति मन्त्रेण सूददोहसाधिवदनम् ¶ ;

\* पा० सू० १. ४. ५५ ।

† पा० सू० ७. ३. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २३ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ३ ।

॥ वा० सं० १२. ५३. १ ।

¶ वा० सं० १२. ५५ ।

तदेतत् त्रितय मन्त्रे न कर्त्तव्यम् । घापसंसर्गो मा भूदित्य-  
भिप्रायः । सन्तनवानीत्वंस्य विवरणं सन्दधानीति । अन्यन्नि-  
गदसिद्धम् ॥ १२ ॥

तासां सुपधानि प्रकारद्वयं माह— “ता हैक इत्या-  
दिना \* । ‘एके शाखिनः ‘ताः’ नैर्ऋतीष्टकाः ‘परस्ताद्’ वि-  
प्रकृष्टाद्देशादारभ्य ‘अर्वाचोः’ आत्माभिमुखं सुत्तरोत्तरमात्मा-  
भिमुखोः ‘उपदधाति’ । तेषां मभिप्रायं माह— “पाप्मा  
इति । समोपदेशादारभ्योत्तरोत्तरं विप्रकर्षेणोपधानि हि पूर्वी-  
पङ्क्तिता मिष्टका मतिक्रम्य गमनात्यायसंसर्गः स्वात्, तादृशूपां  
‘निर्ऋतिम्’ ‘नैव अन्ववायानि’ नैव प्रासवानि ‘इति’ अनेना-  
भिप्रायेणेत्यर्थः ॥

द्वितीयं पञ्चं विधातुं मेतन्निषेधति— “न तथेति । तं  
पञ्च माह— “पराचीरेवेति † । ‘पराचीः’ उत्तरोत्तरं विप्र-  
कृष्टाः, ता एवोपदध्यात् । तथा च निर्ऋतिरूपं ‘पाप्मानं’  
‘पराञ्चम्’ आत्माऽनभिमुखं विप्रकृष्टम् ‘एवं’ प्रेरयित्वा ‘अपहते’  
हिनस्ति ॥ १३ ॥

तासां नैर्ऋतीनां सङ्ख्या मनूय, स्तीति— “तिस्र इति ‡ ।  
“त्रिष्टदग्निरिति । असकृदुक्तार्थम् ॥ १४ ॥

आसन्द्यादीनां तत्र प्रासनं विधत्ते— “अथेति § । ‘अथ’  
समिदाधानानन्तरम्, या उख्याग्निधारणार्था ‘आसन्द्या’, यच्च

\* का० श्रौ० सू० १७. २. २ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. २२ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ४ ।

भरणसमये उख्यधारणाच्च 'शिखम्', यस्य सौवर्णस्य रुक्मस्य  
प्रतिमोचनार्थं 'पाशः' सूत्रम्, ये च 'इण्डे' अग्निसहि-  
ताया उखाया उभयतो धारणाय दणमयी पिण्डी । 'तत्'  
सर्वं नैऋतीनां 'पराङ्गे' पश्चाद्भागे 'न्यस्यति' क्षिपेत् ।  
“यस्ते देवोति \* तस्य मन्त्रः । तथा च कात्यायनः— “दक्षिणा-  
मुखोऽनुपसृशन्नसुन्वन्त मिति प्रत्यृचं पराचीरभ्यात्म मेके  
नित्याभावः शिखरुक्मपाशेण्डासन्दीः परेणास्यति यन्त इति”—  
इति † । आसन्धादीना मुख्याग्निना तप्तत्वात् प्रासनीयत्वं  
स्यष्ट मित्यभिप्रेत्य रुक्मपाशस्य प्रासनीयत्वं सुपपादयति—  
“नैऋतो वा इति । निगदसिद्धोऽर्थः ।

मन्त्रस्य पूर्वार्धे “अविचृत्य मितिपदस्याभिप्राय माह—  
“अनेवंविदुषा हेति । उक्तार्थज्ञानरहितः ‘अनेवंविदान्’, तेन  
‘अविचृत्यः’ । “चृती हिंसाग्रन्यनयोः” ‡ । चर्त्तितुं विज्ञेययितुं  
शक्यो न । अयं मर्थः,— हे यजमान ! ‘ते’ तव ‘ग्रीवासु’  
‘अविचृत्यं’ विमोक्तुं मशक्यं यं ‘पाशं’ ‘नैऋतिः’ देवता ‘आव-  
बन्ध’ आबद्धवतो, “तं ते विष्णामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्त्व-  
त्यस्त्रायुःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह— “अग्निर्वा आयु-  
रिति । आयुषो दाहत्वाद्ग्निरैवासुःशब्देनोच्यते । “तस्यैतन्मध्य  
मित्यादि । ‘तस्य’ चीयमानस्यायुःशब्दाभिधेयस्याग्नेः ‘एतत्’  
‘मध्यं’ मध्यमशरीरं ‘यद्’ गार्हपत्यचयनादूर्ध्वं माहवनीयचय-  
नात् प्राचीनं कर्म ; तदत्र मन्त्रगतेन मध्यमशब्देनोच्यते

\* वा० सं० १२. ६५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. १. २३—१७. २. ४ ।

‡ तु० प० ३४ धा० ।



इत्यर्थः । फलित माह— “तस्मादिति । ‘तस्मात्’ आयुः-  
शब्दस्य चीयमानाग्निपरत्वात् यूनः स्थविरस्य च यजमानस्य  
प्रयोगे “आयुषो मध्यात्”—इति मन्त्रभागस्य घाटो न विरु-  
ध्यते ; यदि ह्यायुःशब्देन यजमानस्य जीवनकालो विवक्षितः  
स्यात्, तदा यूनः प्रयोगे आयुषश्चादेरिति विपरिणमयितव्यम्,  
स्थविरस्य प्रयोगे आयुषोऽन्तादिति । ‘मध्यादित्येवाह’ इत्येव-  
कारिणेतद्विधपरिणामो व्यावर्त्यते । तथा च तृतीयपाद-  
स्याय मर्थः— “हे यजमान ! ‘ते’ तव ग्रीवास्वाबद्धं तं शिष्य-  
पाशं रुक्मपाशञ्च ‘विश्यामि’ । “स्यतिरूपसृष्टो विमोचने”—इति \*  
यास्तः । ‘आयुषः’ चीयमानस्याग्नेः मध्यात् गार्हपत्यचयना-  
दूर्द्धभाविनः, कर्मकलापात् न विमुञ्चामीति । चतुर्थपाद मनूद्य  
व्याचष्टे— “अथैत मिति । पितुशब्दोऽन्वाची । ‘अथ’ पाश-  
विमोचनानन्तरम्, ‘एतं पितुम्’ अग्निचयनफलभूत मन्त्रं ‘प्रसूतः’  
निर्ऋतिदेवतयानुज्ञातः सन्, हे यजमान ! त्वम् ‘अद्वि’ अशा-  
नेत्यर्थः । “प्रसूत इत्येतदिति, प्रसूत इति मन्त्रपदेन प्रयोजनं  
विवक्षित मिति भावः ॥

मन्त्रगतं छन्दः प्रशंसति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “वज्रो वै  
त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभ इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् †, वज्रस्य च तदायु-  
धत्वात् त्रिष्टुभस्तत्तादात्म्यम् ॥ १५ ॥

इष्टकादीन् सम्भूय, अनूद्य, सङ्क्राद्वारेण प्रशंसति—  
“तिस्र इति ॥ १६ ॥

उदकस्य निनयनं विधत्ते— “अथान्तरिणेति । ‘अथ’

\* निरु० १. ६. १ ।

† तै० सं० ७. १. १. ४ ।

आसन्धादीनां प्रासनानन्तरम्, 'अन्तरेण' स्वात्मन इष्टकानाञ्च मध्ये उदकपूर्णं चमसं 'निनयति' निषिञ्चति \* । तदेतत् प्रशंसति— “वज्रो वा इति । नैर्ऋत्यो हि ता इष्टकाः, तासां मात्मनश्च मध्ये वज्रसंस्तुतानां मपां निनयनेन पापरूपां 'निर्ऋतिम्' 'अन्तर्द्वेष्टे' व्यवदधाति, तत्संसर्गपरिहारायेत्यर्थः ॥

निषेवनानन्तरं सुपोल्यानं समन्त्रकं विधत्ते— “नमो भूत्या इति † । भूतिलक्षणा देवता 'इदं' नैर्ऋतेष्टकोपधानरूपं कर्म 'चकार' कृतवती । तस्यै 'भूत्यै' श्रियै नमोऽस्त्विति मन्त्रार्थः । तत्रोदकनिनयनपूर्वकं सुपोल्यानं कात्यायनः सूत्रितवान्— “उदपात्रं निषिञ्चान्तरात्नेष्टकं मुत्तिष्ठन्ति नमो भूत्या इति”—इति ‡ ।

पुरावृत्तन्यायेन भूत्यर्थतां कर्मणः प्रदर्शयन् तन्नमस्कारपरतां मन्त्रस्य व्याचष्टे—“भूत्यै वा इति । 'भूत्यै' भवनाय ऐश्वर्याय खलु 'एतत् कर्म' देवाः प्राक् 'अकुर्वन्' कृतवन्तः । 'तस्यै' एव भूत्यै 'एतन्नमः' 'अकुर्वन्', तद्देव 'अयं' यजमानोऽपि भूत्यर्थमेव 'एतत् कर्म कुरुते', 'तस्यै एतन्नमस्करोति' इति ॥

उपोल्यानानन्तरं शालां प्रत्यागमनं धर्मविशिष्टं विधाय स्तोति--“अप्रतोक्ष मायन्तीति § । प्रतिनिवृत्य नैर्ऋतस्थानस्येक्षणं मकृत्वा 'आयन्ति' शालां मागच्छन्ति, 'तत्' तेनाप्रतीक्षणेन

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क ।

† वा० सं० १२. ६५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. ५ क, ख ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. ६ क ।

निर्ऋतिरूपं 'पाप्मानम्' 'अप्रतीक्ष मेव' प्रतीक्षणं सकृत्वेव  
'जहति' त्यजन्ति । "ओ हाक् त्यागी"—इति \* धातुः ॥ १७ ॥

गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते— "प्रत्येत्येति । 'प्रत्येत्य' नैर्ऋत-  
स्थानात् प्रतिनिवृत्त्य, गार्हपत्यम् 'अग्निं सुपतिष्ठते' । तदुक्तं  
सूत्रज्ञता— "अनपेक्षं मेत्य शालाद्वार्योपस्थानं निवेशन इति"—  
इति † । उपस्थानस्य प्रयोजनं माह— "एतद्वा इति । 'एतद्'  
एतन्मिन् समये खलु 'एतदयथायथम्' अयथास्व मन्याव्यं करोति  
किं पुनरेतदिति, तदाह— "यदग्नाविति । 'अग्नी' गार्हपत्य-  
चितिरूपे शालाद्वार्ये, 'सामिचिते' अर्द्धचिते 'एतां दिशं'  
नैर्ऋतीम् 'एति' गच्छति । 'अर्द्धिसायै' हिंसापरिहाराय 'तस्मै'  
गार्हपत्यचितिरूपायान्नये 'एतत्' निष्कृते एव अयथायथकरण-  
जनितापराधं शमयत्येव ॥ १८ ॥

प्रकारान्तरेणाप्युपस्थानस्य कर्तव्यता माह— "यद्देवेति । अयं  
वा इति । 'गार्हपत्यः' पृथिवीलोकात्मकः खलु, प्रतिष्ठात्मकश्च  
सः । 'इयम् उ वै' पृथिव्यपि खलु 'प्रतिष्ठा' आस्यदम् । 'अथैतत्  
इदानीम् 'अपथ मिवैति' अमार्गेणैव प्रतिपद्यते, 'यद्देतां' नैर्ऋतीं  
'दिशम्' 'एति' गच्छति । उपस्थानस्य प्रतिष्ठितिहेतुतां प्रति-  
पादयति— "तद्यदिति । 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'इमां' प्रतिष्ठा-  
रूपां पृथिवीं मेव 'अभिप्रत्येति' सांख्येन प्रतिपन्नो भवति,  
'प्रतिष्ठायाम्' अस्यां 'प्रतितिष्ठति' च, चिरं स्थितिं लभत  
इत्यर्थः ॥ १९ ॥

\* जु० प० ८ धा० ।

† का० औ० सू० १७. २. ६ क, ख ।

विहिते शालाद्वार्योपस्थाने मन्त्र मन्त्र व्याचष्टे— “निवेशन इति \* । निवेशन्ते वसूनि अस्मिन्निति ‘निवेशनः’, सङ्गच्छन्ते धनान्यस्मिन्निति ‘सङ्गमनः’ । आधाराधेययोरभेदोपचारेणान्तेः पृथिवीलोकत्वं मित्यभिप्रेत्याह— “निवेशनो ह्ययं लोक इति । विखण्डस्य सर्वशब्दाभिधायकत्वं व्याचष्टे— “सर्वाणीति । उत्तरार्द्धं तु निगदव्याख्यात मित्याह— “यथैव यजुरिति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— योज्य मग्निः ‘वसूनां’ धनानां ‘निवेशनः’ एकाग्रयः, ‘सङ्गमनः’ सङ्गत्याधारश्च, ‘विश्वा रूपा’ सर्वाणि रूपाणि आहवनीयदक्षिणान्यतिप्रणीताग्नीध्रधिक्षणाप्रभृतीनि ‘शचीभिः’ कर्मभिः ‘अभिचष्टे’ अभिपश्यति । कथं पश्यतीत्यपेक्षाया माह— ‘सत्यधर्मा’ अविषयधर्मकारी ‘सविता’ देव इव ; स यथा सर्वं सभिपश्यति, तथेत्यर्थः । यः ‘इन्द्रो न’ इन्द्र इव ‘पथीनां समरे’ परिपन्थिभिः सह सङ्ग्रामे ‘तस्थौ’ स्थितवान् । नकारोऽत्रोपमार्थीयः ; “उपमार्थीय उपरिष्ठादुपाचारस्तस्य येनोपमिमीते”—इति † हि यास्कः ॥ २० ॥ ३ [२. १.] ॥

इति ओसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* वा० सं० १२. ६६ ।

† निरु० १. २. १ ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

अथ प्रायणीयं निर्व्वपति । तस्यं हविष्कृता  
व्वाचं व्विसृजते व्वाचं व्विसृज्य स्तम्बयजुर्ह-  
रति स्तम्बयजुर्हत्वा पूर्व्वेण परियहेण परियुह्य  
लिखित्वाह हर त्रिचिंति हरति त्रिराग्नीध्रः ॥ १ ॥

प्रत्येत्थ प्रायणीयेन प्रचरति । प्रायणीयेन  
प्रचुर्यं सीरं युनक्त्येतद्वा ऽएनं देवाः संस्करिष्यन्तः  
पुरस्तादग्नेन समर्द्धयंस्तथैवेन मय मेतत् संस्क-  
रिष्यन् पुरस्तादग्नेन समर्द्धयति सीरं भवति सीरः  
हैतद्यत् सीर मिरा मेवास्मिन्नेतद्बधाति ॥ २ ॥

औदुम्बरं भवति । जग्वै रस उदुम्बर ऊर्जै-  
वेन मेतद्रसेन समर्द्धयति मौञ्जं परिसीर्यं चिवत्  
तस्योक्तो बन्धुः \* ॥ ३ ॥

सोऽग्नेर्दक्षिणां श्रोणिम् । जघनेन तिष्ठन्नु-  
त्तरस्यांसस्य पुरस्ताद्युज्यमान मभिमन्त्रयते सीरा  
युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथगिति ये व्वि-

\* 'बन्धुः'—इति ग, घ ।

द्वा॒सुस्ते क॒वयस्ते सी॒रं च यु॒ञ्जन्ति यु॒गानि  
च व्बि॒तन्व॒ते पृथ॒ग्धो॒रा दे॒वेषु सु॒मन्वेति य॒ज्ञो  
वै सु॒मन् धो॒रा दे॒वेषु य॒ज्ञं तन्वा॒ना इ॒त्ये-  
तत् ॥ ४ ॥

यु॒न॒क्त सी॒रा वि यु॒गा तनु॒ध्व मि॒ति । यु-  
ञ्ज॒न्ति हि सी॒रं वि यु॒गानि॑ तन्व॒न्ति कृ॒ते यो॒नौ  
व्वप॒तेह व्वी॒ज मि॒ति व्वी॒जाय वा ऽए॒षा यो॒नि-  
ष्क्रि॒यते यत् सी॒ता यथा ह वा ऽअ॒यो॒नौ रे॒तः  
सि॒ञ्चेदे॒वं तद॒द॒कृ॒ष्टे व्वप॒ति गि॒रा च श्रु॒ष्टिः स-  
भ॒रा अ॒सन्न इ॒ति व्वा॒ग्वै गी॒रन् ऽश्रु॒ष्टिर्ने॒दीय  
इ॒त्सु॒गुण्यः प॒क्व मे॒यादि॒ति यदा वा ऽअ॒न्नं प॒च्यते-  
ऽथ त॒त्सृ॒ग्योप॒चर॒न्ति द्वा॒भ्यां यु॒न॒क्ति गा॒य॒त्र्या च  
त्रि॒ष्टु॒भा च त॒स्यो॒क्तो ब॒न्धुः ॥ ५ ॥

सु दक्षि॒ण मे॒वाग्रे यु॒न॒क्ति । अ॒थ स॒व्य मे॒वं  
दे॒व॒त्रे॒तर॒था मा॒नुषे ष॒ड्भवं भव॒ति द्वा॒द॒शग॒वं वा  
च॒तुर्विं॒शति॒गवं वा सं॒व्वत्स॒र मे॒वाभि॒सम्प॒-  
दम् ॥ ६ ॥

अ॒थैनं व्बि॒कृ॒षति । अ॒न्नं वै कृ॒षिरे॒तद्वा

ऽअस्मिन् देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादुन्नं मदधु-  
स्तथैवास्मिन्नयं मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादुन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

स वा ऽआत्मानं मेव विवृणोति । न पक्ष-  
पुच्छान्यात्मस्तदुन्नं दधाति यदु वा ऽआत्मनुन्नं  
धीयते तदात्मानं भवति तत् पक्षपुच्छान्यथ यत्  
पक्षपुच्छेषु नैव तदात्मानं भवति न पक्ष-  
पुच्छानि ॥ ८ ॥

स दक्षिणार्द्धेनाग्निः † । अन्तरेण परिश्रितः प्रा-  
चीं प्रथमां सृतां कृषति शुनं सु फाला  
विवृणोति भूमिं शुनं कीनाशा अभियन्तु वा-  
हैरिति शुनं शुनमिति यद्वै समृद्धं तच्छुनं  
समृद्धयत्वेना मेतत् ‡ ॥ ९ ॥

अथ जघनार्द्धेनोदीचीम् । घृतेन सृता मधुना  
समज्यता मिति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्विश्वैर्देवै-  
रनुमता मरुद्भिरिति विश्वे च वै देवा मरुतश्च

\* 'दधाति'—इति क ।

† 'दक्षिणार्द्धेनाग्निः'—इति ग, घ ।

‡ 'मेतत्'—इति ग, घ ।

वर्षस्येशतऽर्जुस्वती पयसा पिब्वमानेति रसो  
 वै पयः कर्जुस्वती रसेनान्नेन पिब्वमानेतद-  
 स्मान्त्सीते पयसाभ्याववृत्स्वेत्यस्मान्त्सीते रसेनाभ्या-  
 ववृत्स्वेत्येतत् \* ॥ १० ॥

अथोत्तरार्द्धेन प्राचीम् । लाङ्गलं पवीरवदिति  
 लाङ्गलं रयिमदित्येतत् सुशेवः सोमपितृभ्यो-  
 त्यन्नं वै सोमस्तदुद् वपति गा मविं प्रफुल्यं च  
 पौवरीं प्रस्थावद्रथवाहन मित्येतच्च सर्वं सौ-  
 तोद्वपति ॥ ११ ॥

अथ पूर्वार्द्धेन दक्षिणाम् † । कामं कामदुधे  
 धुक्त्व मित्राय वरुणाय च । इन्द्रायाश्विभ्यां  
 पूषो प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति सर्वदेवत्या वै  
 कृषिरेताभ्यो देवताभ्यः सर्वान् कामान्मुञ्च्ये-  
 तदित्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्वक्षिणावृत्तच्च  
 देवता ‡ ॥ १२ ॥

\* '०खेतत्'—इति ग, घ ।

† 'दक्षिणाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'देवता'—इति ग, घ ।



चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्युञ्चतसृषु  
दित्वन्नं तदस्मिन्नेतद्वधाति तद्वै यजुषाद्वा वै तद्य-  
यजुरङ्घ्रो तद्यदिमा दिशः \* ॥ १३ ॥

अथात्मानं व्विकृषति । तद्युदेव संवत्सरोऽन्नं  
तदस्मिन्नेतद्वधाति तूष्णीं मुनिरुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं  
सुर्वं वा ऽअनिरुक्तं सुर्वेणैवास्मिन्नेतदन्नं दधा-  
तीत्यग्रे कृषत्यथेति अथेत्यथेति तद्वक्षिणावत्तद्धि  
देवता ॥ १४ ॥

तिस्रस्तिस्रः सीताः कृषति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादश सीतास्तूष्णीं कृषति । द्वादश मासाः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

ता उभय्यः षोडश सम्पद्यन्ते । षोडशकलः  
प्रजापतिः प्रजापतिरग्निरात्मसम्भित मेवास्मिन्ने-  
तदन्नं दधाति यदु वा ऽआत्मसम्भित मन्नं तद-

वति तन्न हिनस्ति यङ्गुयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो  
न तद्वति ॥ १७ ॥

यद्देवैनं विकृषति । एतद्वा ऽअस्मिन् देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् प्राणानदधुस्तथैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् प्राणान् दधाति लेखा  
भवन्ति लेखासु हीमे प्राणाः \* ॥ १८ ॥

चतस्रः सीता यजुषा कृषति । तद्य ऽइमे  
शीर्षंश्चत्वारो निरुक्ताः प्राणास्तानस्मिन्नेतद्वधाति  
तद्वै यजुषाद्वा वै तद्यद्यजुरङ्घो तद्यदिमे शीर्षन्  
प्राणाः † ॥ १९ ॥

यद्देवात्मानं विकृषति । यऽएवेमेऽन्तरात्मन्  
प्राणास्तानस्मिन्नेतद्वधाति तूष्णीं को हि तद् वेद  
यावन्त इमेऽन्तरात्मन् प्राणाः ‡ ॥ २० ॥

अथैनान् विमुञ्चति । आप्त्वा तं कामं यस्मै  
कामाद्यैनान्युङ्क्ते विमुच्यध्व मघ्ना इत्यघ्ना हैते  
देवता देवयाना इति द्वैवृष्ट्येभिः कर्म करो-  
त्यगन्तु तमसस्पार मस्येत्यशनाया वै तमोऽगन्मास्या

ऽअशनायायै पार मिलेतज्ज्योतिरापामेति ज्योति-  
 क्ष्वाप्नोति यो देवान्यो यज्ञ मथैनानुदीचः प्राचः  
 प्रसृजति तस्योक्तो बभ्रुस्तानध्वर्यवे ददाति स  
 हि तैः करोति तांस्तु दक्षिणानां कालेऽनु-  
 दिशेत् ॥ २१ ॥ ४ ॥

॥ इति प्रथमप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [२. २.] ॥

अथ शालाहार्योपस्थान मभिधाय प्रायणीयेष्टिं विधत्ते—“अथ  
 प्रायणीय मिति । शालाहार्योपस्थानानन्तर्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः ।  
 ‘प्रायणीयम्’ प्राकृतं ज्योतिष्टोमिकम् अदित्यै चरुं निर्वपति \* ।  
 अथे सीरयोजनं विधातुं प्रायणीयेष्टेः कांश्चित् पदार्थाननुवदति—  
 “तस्य हविष्कृतेत्यादिना । ‘तस्य’ प्रायणीयस्य ‘हविष्कृता’  
 हविष्कृच्छब्देन सह हविष्कृदाह्वानकाले वाग्विसर्गं कुर्यात् ।  
 हविरावापानन्तरं वा हविष्कृदाह्वानकाले वा वाग्विसर्गो विक-  
 ल्पितः, तत्र नियमार्थोऽय मनुवादः । ‘स्वम्बयजुः’-इति  
 पुरीषहरणकर्मणो नामधेयम् † । यद्वा, स्वम्बस्य यजुषा “पृथिवि  
 देवयजनीत्यादिना पुरीषं लक्ष्यते, तत् पुरीषं हरति । तदनु  
 ‘पूर्वेण परिग्रहेण’ वेदिं ‘परिगृह्य’, ततो ‘लिखित्वा’ स्फेग्न  
 प्राचोस्तिस्त्रो लेखाः कृत्वा आग्नीध्रं प्रत्यध्वर्युः ‘आह’ ब्रूते । कि

\* रे० ब्रा० १ प० २ अ० १ ख० द्रष्टव्यम् । आन्ध० औ० सू०

४. २. १८; ३. १. । का० औ० सू० ७. ५. १३ ।

† १ का० २ प्र० २ ब्रा० १८-२१ क० इत्येवमादौ द्रष्टव्यम् ।

मत्प्रेक्षाया माह— “हर त्रिरिति । हे आग्नीध्र ! त्वं कृता  
लेखाः त्रिवारं हरेति प्रैषार्थः । प्रेषितेनाग्नीध्रेण कर्त्तव्य माह—  
“हरति त्रिरिति ॥ १ ॥

विहितस्य प्रायणीयहविषः प्रचारं विधत्ते— “प्रत्ये-  
त्येति \* । ‘प्रत्येत्य’ महावेदेः प्रत्यागत्य ‘प्रायणीयेन’ हविषा  
प्रचरेत् । प्रत्येत्येतिवचनादेव पूर्व मुक्तं स्तम्बयजुर्हरणादिकं  
महावेद्या मेव कर्त्तव्यम्, न तु प्रायणीयवेद्या मिति प्रती-  
यते । प्रायणीयान्ते शयन्ते प्राक्सीमनिवपनात् सीरयोजनं  
विधत्ते— “प्रायणीयेन प्रचर्य सीरं युनक्तीति † । ‘प्रायणीयेन’  
प्रायणीयशेषेण प्रचारं कृत्वा, ‘सीरं’ हलं ‘युनक्ति’ युञ्ज्यात् ।  
विहिते सीरयोजने प्रजापतेः सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धनद्वारा  
देवकर्त्तृकं संस्कारं प्रतिपादयति— “एतद्वा एन मिति । ‘एतत्’  
एतर्हि एतस्मिन्नवसरे खलु ‘एनं’ पितरं प्रजापतिं विस्त्रस्ता-  
वयवं चयनेन संस्करिष्यन्तो ‘देवाः’ पुरस्तात् ततः प्रागेव सीर-  
लक्षणेनान्नेन समृद्धं मकुर्वन् । एव मेव अयं यजमानोऽपि  
‘एनं’ प्रजापतिं चित्वाग्निरूपेण संस्करिष्यन् ततः प्रागेव  
सीरलक्षणेनान्नेन समर्द्धयति । नामनिर्वचनेन तस्यान्नरूपता  
माविष्करोति— “सीरं भवतीत्यादिना । इरया अन्नेन सह  
वर्त्तते इति सीरम्, एतदेव पारोक्ष्येण सीरं मिल्युच्यते । अतः  
कर्षणसाधनत्वेन सीरस्य विधानात् । ‘इराम्’ अन्नम् एव  
‘अस्मिन्’ संस्क्रियमाणे चित्वाग्निरूपे प्रजापतौ ‘एतत्’ एतर्हि  
‘देधाति’ स्थापयति ॥ २ ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. २. ७ ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. ८ क ।

सीरोपादानभूतं वृक्षविशेषं विधाय स्तीति— “औदुम्बरं भवतीति \* । उदुम्बरस्य विकार औदुम्बरः । “जर्ज्वं रस उदुम्बर इति । ‘जर्क्’ बलकर मन्त्रम्, तदात्मको रस एव उदुम्बरवृक्षात्मना परिणतः । अत एव श्रूयते— “देवा वा जर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति † । “जर्ज्वै न मित्वादि । जर्ज्रपेण रसेनेत्यर्थः । सीरयोजनार्थानां रज्जूनां प्रकृतिद्रव्यं विधत्ते— “मौञ्ज मिति ‡ । ‘परिसीर्यं’ परितः सीरस्य योजनायोपयुज्यमानं दाम ‘मौञ्जम्’ मुञ्जवृक्षैर्निर्मितं ‘त्रिष्ठत्’ त्रिगुणञ्च कर्तव्यम् । “तस्योक्तो बन्धुरिति । ‘तस्य’ मौञ्जस्य च त्रिष्ठत्त्वस्य च स्तावकं “सैषा योनिरनेर्यन्मुञ्जः”— इत्यादिकम् §, “त्रिष्ठदग्निर्यावानग्निः”—इत्यादि ॥ च वाकं प्रागाम्नातम्, अत्रानुसन्धेय मित्यर्थः ॥ ३ ॥

युज्यमानस्य सीरस्य स्थानविशेषविशिष्ट मभिमन्त्रणं विधत्ते— “सोऽग्नेरिति ¶ । चेष्यमाणस्याग्नेर्यावान् भूभागः शीत्त्वेन मग्नेः चतुरश्रीकृतः, तस्य ‘दक्षिणां श्रोणिं जघनेन’ दक्षिणापरकोणर पश्चात् \*\* ‘तिष्ठन्’, ‘उत्तरांसस्य’ अग्निक्षेत्रसम्बन्धिन उत्तरपूर्वको णस्य ‘पुरस्तात्’ ‘युज्यमानं’ सीरं युगबलीवर्हादिभिः सह रज्ज

\* का० औ० सू० १७. २. ८ ख ।

† पुरस्तात् ३ का० १ प्र० ५ ब्रा० ३३ क० सा० भा० (ते० ख०)

‡ का० औ० सू० १७. २. ६ ।

§ शत० ब्रा० ६ का० ३ ख० १ ब्रा० २६ क० ।

॥ शत० ब्रा० ६ का० ३ ख० १ ब्रा० २५ क० ।

¶ का० औ० सू० १७. २. ११ ।

\*\* ‘दक्षिणापरेण तस्य पश्चात्’—इति ऊ ।

बध्यमानं “सीरा युञ्जन्ति”—इतिमन्त्रद्वयेन \* ‘अभिमन्त्रयते’ ।  
अभिमन्त्रणं नाम मन्त्रेण स्मर्यमाणस्यार्थस्वेक्षणपूर्वकं मनुसन्धानम् । उक्तं हि—

“मन्त्रं मुच्चारयन्नेव मन्त्रार्थत्वेन संस्मरेत् ।

सेक्षणं तन्मना भूत्वा स्यादेतदनुमन्त्रणम् ॥

एतदेवाभिमन्त्रणलक्षणश्चेक्षणवधि”—इति ।

अत्र च सीरयोजनस्य तदभिमन्त्रणस्य च भिन्नदेशकर्तृव्यतया †  
योगपद्याय कर्तृभेदोऽवसीयते । तत्राभिमन्त्रणस्य संस्कार्यतया  
प्रधानत्वात् सीरयोजनं मध्युः कुर्यात्, तत्संस्कारात्मकं  
अभिमन्त्रणन्तु द्वितीयः ‡ प्रतिप्रस्थाता कुर्यात् । उक्तं हि  
सूत्रभाष्यकृता कर्कोपाध्यायेन— “प्रतिप्रस्थाताभिमन्त्रयते  
सीरा युञ्जन्तीत्यनेन मन्त्रेण, योजने तु प्रधानत्वादध्यु-  
रिति § ॥

तत्र “सीरा युञ्जन्तीति गायत्री प्रथमो मन्त्रः॥, तस्याः पूर्वाह्णं  
मनूय व्याचष्टे— “सीरा युञ्जन्तीति । “ये विद्वांसस्ते कवयः  
इति । मन्त्रगतेन कविशब्देन सीरयोजनप्रकारं सम्पक् जानाना-  
स्तदभिज्ञा विवक्षिता इत्यर्थः । “सीरश्चेति । “सुपां सुलुगिति ¶  
मन्त्रे सीरशब्दात् परस्य अतः आकारः । “युगानि चेति । “शेष्क-

\* वा० सं० १२. ६७, ६८ ।

† ‘भिन्नदेशकर्मकर्तृव्यतया’—इति ॥

‡ ‘तद्वितीयः’—इति ज ।

§ का० श्रौ० १७. २. ११ सू० वृ० ।

॥ वा० सं० १२. ६७ ।

¶ पा० सू० ७. १. ३६ ।

न्दसि बहुल मिति \* युगशब्दात् परस्य शर्मन्वे लोप इत्यर्थः ।  
उत्तरार्धे मनूय व्याचष्टे— “धीरा देवेष्विति । सुम्नशब्दात् परस्य  
द्वितीयेकवचनस्य याजादेशः † । सुखहेतुत्वात् यज्ञः खलु सुम्न-  
शब्दाभिधेयः ‡ । “वितन्वत इति । प्रकृतस्य कर्मणोऽनुषङ्ग  
माह— “तन्वाना इत्येतदिति ॥

तदयं मन्वार्थः, — ‘कवयः’ तदभिज्ञाः सीरं च  
‘युञ्जन्ति’ कर्मणो योग्यं बध्नन्ति षट्द्वादशादिसङ्ख्याना मन-  
बुद्ध्यां योजनाय ‘पृथक्’ भेदेन ‘युगानि च’ ‘वितन्वते’ विस्तार-  
यन्ति । किं कुर्वन्तः ? ‘देवेषु’ ‘सुम्नम्’ अग्निचयनलक्षणं यज्ञं  
‘तन्वानाः’ विस्तारयन्त इति । अत एव ‘धीराः’ तदुपायभूतया  
धिया युक्ताः ‘इति’ ॥ ४ ॥

“युनंतेति त्रिष्टुप् । तद्वितीयोऽभिमन्त्रणमन्त्रः § । पुरा  
परोक्षवदुक्तोऽत एवास्य मन्त्रस्य पादेन प्रत्यक्षवदुच्यते । हे  
यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ पूर्ववदाकारः ॥, सीरं ‘युनक्त’ बध्नीत ।  
युजः ¶ लोटि मध्यमपुरुषे बहुवचनस्य “तप्तनप्तनयनाश्च”—इति \*\*  
तदादेशः । अत एव असोऽस्त्रोपाभावः । ‘युगा’ पूर्ववच्छे-  
त्तोपः ††, ‘युगानि’ च ‘वितनुङ्’ विस्तारयतेति । प्रत्यक्षवदुक्तार्थं

\* पा० सू० ६. १. ७० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ ‘सुखशब्दाभिधेयः’—इति ज ।

§ वा० सं० १२. ६८ ।

॥ एतत्पूर्वस्यां कण्ठां (१०७ पृ० १८ पं०) द्रष्टव्यम् ।

¶ रुधा० उभ० ६ धा० ।

\*\* पा० सू० ७. १. ४५ ।

†† पूर्वस्यां कण्ठां (१ पं०) द्रष्टव्यम् ।

श्रुतिः स्वयं परोक्षवद् व्याचष्टे — “युञ्जन्ति हीति । सीरं युञ्जन्ति , युगानि च वितन्वते , कवय इति शेषः ।

द्वितीयपाद मनुद्य व्याचष्टे — “बीजाय वा इति । बीजवपनाय सीतारूपा योनिर्विधीयते । विपत्ते दोष मुञ्जावयति — “यथा ह वा इति । ‘अकृष्टे’ अलिखिते ‘यत्’ यदि ‘वपति’, तर्हि ‘अयोनी’ गर्भाशयादन्यत्र यथा रेतःसेकस्तथा व्यर्थो भवेदित्यर्थः ।

तृतीयपाद मनुद्य तत्त्वयोर्गीःश्रुष्टिशब्दयोः क्रमेण वागन्तार्यता माह — “वाग्वै गौरन्नं श्रुष्टिरिति ।

चतुर्थपाद मनुद्य तत्तात्पर्य माह — “यदा वा इति । ‘यदा’ खलु समये ‘अन्नं’ ब्रीहियवादि स्वयं पक्वं भवति । ‘अथ’ तदानीं ‘सृण्या’ दात्रेण ‘उपचरन्ति’ लुनन्तीत्यर्थः ॥

मन्वार्थलु, — हे यजमानपुरुषाः ! ‘सीरा’ सीरं हलं ‘युनक्त’ योजयत , ‘युगा’ युगानि ‘वितनुङ्गं’ विशेषेण योक्तप्रभृतिभिर्विस्तारयत । ‘इह’ क्षेत्रे ‘योनी’ स्थाने ‘कृते’ संस्कृते सति ‘बीजं’ ब्रीह्यादि ‘वपत’ निक्षिपतेत्यर्थः । केन साधनेनेत्यपेक्षाया माह — “गिरा चेति । ‘गिरा’ वाचा “या ओषधीरित्यादिवक्ष्यमाणमन्त्ररूपया \* च-शब्दाच्चमसेनापि , वपतेति सम्बन्धः । ‘श्रुष्टिः’ ब्रीह्यादिकान्नजातिः , ‘सभराः’ फलकृतेन भरसा भरणेन सह वर्त्तत इति सभराः , अमितफलेति यावत् । तादृशी ‘नः’ अस्माकं यथा ‘असत्’ भवेत् । इच्छब्दोऽनर्थकः † । ‘सृण्यः’ अङ्गुशाकारस्य लवनसाधनस्य दात्रस्य ‘निदीयः’ अन्तिकतमं ‘पक्वं’ ब्रीह्याद्यन्नं यथा ‘आ इयात्’

\* वा० सं० १२. ७५ । का० औ० सू० १७. ३. ८ । इहोपरि-  
ष्टात् २ अ० ४ ब्रा० ६ क० द्रष्टव्यम् । † निरु० १. ३. ५ ।



अगच्छेत्, तथा वपतेति सम्बन्धः । “सृणिरङ्गुशी भवति, सरणात्”—इति \* हि यास्कः ॥

तच्च युज्यमानाभिमन्त्रणं द्वाभ्यां गायत्रीचित्रबुभ्यां कुर्यादित्याह— “द्वाभ्या मिति । तस्य हिसङ्ख्यायोगस्यार्थवादो “द्वाभ्यां प्रवृणक्ति द्विपाद्यजमान इत्यादिना षष्ठकाण्डे † प्रामा-  
न्नात इत्याह— “तस्योक्त इति ॥ ५ ॥

विहिते सीरयोजने दक्षिणसव्ययोर्धूर्ययोः पौर्वापर्यं विधत्ते—  
“स दक्षिण मेवाग्र इति ‡ । ‘सः’ अध्वर्युः दक्षिण मेव धुर्यं प्रथमं युञ्ज्यात्, तदनु ‘सव्यं’ वामं धुर्यं मित्यर्थः । ‘एवम्’ उक्तकरणम् ‘देवना’ देवेषु कृतं स्यात् ; मनुष्यव्यवहारे तु ‘इतरथा’ सव्यः पूर्वो दक्षिणः पश्चादिति भेदः ॥

सीरयोजने अनडुहं वैकल्पिकं सङ्ख्यात्रितयं विधत्ते—  
“षड्गव मित्यादिना । षड् गावः समाहृताः षड्गवम् । “तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च”—इति § समाहारे तत्पुरुषैकदेशो द्विगुः । ततो “गोरतद्वितलुकि”—इति ॥ समासान्तः । तथा ‘द्वादशगवम्’, ‘चतुर्विंशतिगवम्’ चेति पञ्चौ । तत्रापि पञ्चद्वये तथैव समासः, समासान्तश्च । “षट्, द्वादश, चतुर्विंशतिं वा पूर्वोक्त-  
रांसम्”—इति ¶ हि सूत्रम् । सङ्ख्यात्रितयेऽप्युपपत्ति माह—“संभ-

\* निरु० ५. ३. १० ।

† इ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ७ क० ।

‡ का० औ० सू० १७. २. १३ ।

§ पा० सू० २. १. ५१ ।

॥ पा० सू० ५. ४. ६२ ।

¶ का० औ० सू० १७. २. १० ।

त्सर मेवेति । सम्पद्यत इति सम्पत् । षडृतु-द्वादशमास-चतुर्विंश-  
त्यर्द्धमाससम्पत्यात्मको यस्तु तादृशं संवत्सरं मभिलक्ष्य त्रयो-  
ऽप्येते पक्षा उपपन्ना इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ चित्वाग्निक्षेत्रमध्ये विकर्षणं विधत्ते— “अथैन मिति \* ।  
‘एनम्’ आत्मानम् । तदेव कर्षणं मन्त्रात्मना स्तौति— “अन्नं  
वा इति । ‘अन्नं’ खलु ‘क्षुषिः’ ; तद्वेतुत्वात् । क्षुष्टे एव हि  
सम्यग्न्नं पच्यते । कर्षणं मेव तदेवकर्तृकान्नाधानतया स्तौति—  
“एतद्वा इति । ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘देवाः’ संस्कारं  
करिष्यन्तः ‘अस्मिन्’ आत्मनि ‘एतत्’ एतेन कर्षणेन ‘अन्नम्’ एव  
स्थापितवन्तः, तथैवायं यजमानोऽपीति ॥ ७ ॥

अथ पक्षपुच्छानि विहायात्मन्येव कर्षणं विधत्ते— “स वा आ-  
त्मान मिति † । “आत्मंस्तदिति । ‘तत्’ तेन विकर्षणेन ‘आत्मन्’  
आत्मनि ‘अन्नम्’ एव स्थापितवान् भवति । अथात्मन्यन्नाधानं  
स्तौति— “यदु वा इति । ‘आत्मन्’ आत्मनि यदेव ‘अन्नं’ धीयते  
स्थाप्यते, ‘तत्’ एवान्नं पक्षपुच्छसहितम् ‘आत्मानं’ रक्षति ।  
पक्षपुच्छेवन्नाधानं त्वकिञ्चित्करं मित्याह— “अथ यदि-  
त्यादिना ॥ ८ ॥

अथ परिश्रितां समीपे आत्मनो दक्षिणभागेऽन्तरतः प्रागायतां  
सीतां विधत्ते— “स दक्षिणाङ्गेनेति ‡ । ‘परिश्रितोऽन्तरेण’ तत्-  
संलग्नं मेव चित्वाग्नेः आत्मनो ‘दक्षिणाङ्गेन’ दक्षिणपार्श्वं  
प्रागपवर्गा ‘प्रथमा’ ‘सीता’ लाङ्गलपद्धतिं क्षुषेत् । “अन्तरान्तरेण

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १२ क ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १२ ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १३ ।

युक्ते”-इति \* परिशिच्छब्दे द्वितीया । तत्र पूर्वार्द्धोपादानेन मन्त्रं विधाय तत्रत्यशुनशब्दस्य समुद्धार्यवाचकतया प्रथमसोतायाः समर्पणं माह— “शुनं सुफाला इत्यादिना † ॥

मन्त्रस्याय मर्थः,— शुन मिति सुखनाम ‡ । तच्च क्रिया-विशेषणम् । सुशोभनाः फाला लाङ्गलाग्रस्थिताः कुशीमेदाः § ‘शुनं’ सुखं यथा स्यात् तथा ‘भूमिं’ विकृषन्तु विलिखन्तु । ‘फाला’-इति “जि फला विशरणे”-इति धातुः॥ फालयन्ति भूमिं विदारयन्ति ते फालाः । ‘कीनाशाः’ कर्षकाः ‘वाहैः’ अनडुङ्गिः सहिताः ‘शुनं’ सुखम् ‘अभियन्तु’ अभिगच्छन्तु । “कीनाशस्तु कर्षये स्याद्राक्षसे कर्षके यमे”-इत्यनेकार्थतिलकः ¶ । ‘शुनासीरा’ द्विवचनस्य “सुपां सुलुगिति डादेशः \*\*, वायादित्यावित्यर्थः । तौ ‘हविषा’ उदकेन ‘तोशमाना’ भूमिं निघ्नन्तौ । तोशतिर्वध-कर्मा ††† । ‘अस्मे’ अस्मभ्यम् ‘ओषधीः’ ब्रीत्यादिकान्यन्नानि ‘सुपिप्पलाः’ शोभनफलोपेताः ‘कर्त्तनं’ कुरुतम् । “शुनो वायुः, शु एत्यन्तरिक्षे ; सीर आदित्यः, सरणात्”-इति ‡‡‡ हि यास्कः ।

\* पा० सू० २. ३. ४ ।

† वा० सं० १२. ६६-७२ ।

‡ निघ० ३. ६. ११

§ ‘लोहविशेषाः’-इति महीधरः ।

॥ भा० प० ५१६ धा० ।

¶ “ ‘कीनाशः कर्षके क्षुद्रे क्षतान्तोपांशुघातिनोः’-इति कोशः”-इति महीधरः ।

\*\* पा० सू० ७. १. ३६ ।

†† निघ० २. १६. २६ । तोशते नेरुत्तो धातुः ।

‡‡ निरु० ६. ४. ६ ।

हविःशब्दः उदकनामसु “कम्, अन्नं, हविः”-इति पठितः \* ।  
 “कर्त्तमेति, “तप्तमसमयनाश्च”-इति † तनप् । द्वित्वे बहुवचनं  
 क्वाण्डसम् ॥ ८ ॥

ततो दक्षिणश्रोणेरारभ्योदगपर्वगो पश्चिमपार्श्वं द्वितीयां सीतां  
 विधत्ते— “अथ जघनार्द्धेनेति ‡ । तत्र मन्त्रं विधत्ते— “घृते-  
 नेति § । तत्र तु प्रथमपादे निगदव्याख्यात इत्याह— “यथैव यजु-  
 रिति । द्वितीयपादेऽनुमतेतिशब्दस्य विश्वदेवानां मरुताश्च वृष्टेरो-  
 शित्वं प्रयोजक मिति व्याचष्टे— “विश्वे च वै देवा इति । ‘वर्षस्य’  
 वृष्टेः ‘ईशते’ प्रयोजका भवन्ति । “अधोगर्थात् कर्मणि षष्ठी ॥ ।  
 तृतीयपादे पयःशब्दस्य रसोऽर्थ इति व्याचष्टे— “रसो वै पय  
 इति । तत्रैव ‘पिबमाना’-‘इति’ पद मध्याह्नत्यान्नपदेनान्वेतीति  
 व्याचष्टे— “अन्नेन पिबमानेत्येतदिति । चतुर्थेऽपि पयःशब्दो  
 रसवचन एव ॥

मन्त्रस्थाय मर्थः, — सीता पश्चिमत उदोचो क्रियमाणा  
 लाङ्गलपद्धतिः ‘मधुना घृतेन’ मधुरेणोदकेन ‘समञ्जतां’ संक्षि-  
 च्यताम् । “घृतं मिल्युदकनाम, जिघत्तैः सिञ्चतिकर्मणः”-इति ¶  
 हि यास्कः । ‘विश्वे ईश्वैः’ वृष्टेरेशानैः ‘मरुद्भिश्च’ गणदेवैः ‘अनुमता’  
 अभ्यनुज्ञाता, तथा ‘पयसा’ ‘रसेन ऊर्जस्वती’ बलकररसोपिता,

\* निघ० १. १२. ६५ ।

† पा० सू० ७. १. ४५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. २. १४ ।

§ वा० सं० १२. ७० ।

॥ पा० सू० २. ३. ५२ ।

¶ निरु० ७. ७. १ ।

तथा 'पिन्वमाना' सेचनं कुर्वती, अन्नेनेति शेषः । तथा श्रुतिरेव व्याचष्टे — "अन्नेन पिन्वमानेत्येतदिति । एवं सुते हे सीते ! त्वम् 'अस्मान्' 'अभ्यावृत्स्व' अतिशयेनाभिसुख मावृत्ता भवेत्यर्थः ॥ १० ॥

अथोत्तरपार्श्वं प्रागपवर्गां तृतीयां सीतां विधत्ते — "अथोत्तरार्द्धेनेति \* । "प्रकृत्या साधुः" — इतिवत् तृतीया सप्तम्यर्थे † । तत्र मन्त्रं विधत्ते — "लाङ्गल मिति ‡ । तत्र प्रथमपादे भूमेः खननेन श्रीरूपाव्रनिष्पादनद्वारा फालस्य साधनत्वात् लक्षणया पवीरवद्द्रयिमदिति व्याचष्टे — "लाङ्गलं रयिमदिति । द्वितीये पादे 'सोमपितृरु' इतिपदेकदेशभूतस्य सोमशब्दस्यात्र मर्थ इत्याह — "अन्नं वै सोम इति । उत्तरार्द्धपरिष्ठितस्य पदार्थ-जातस्य सीतैवोद्गमयित्रीत्याह — "एतद्वि सर्वं सीतोदपतीति । 'उदपति' उद्गमयतीत्यर्थः ॥

मन्त्रार्थस्तु, — 'लाङ्गलं हलं' 'पवीरवत्' पविः धारा, सा अस्यास्तीति पवीरं फालः । रो मत्वर्थं, दैर्घन्तु क्कान्दसम् ; तत् पवीर मस्य लाङ्गलस्यास्तीति पवीरवत्, फालसंयुक्तमित्यर्थः । शिव मिति सुखनाम § । सुष्टु शोभनं शेषयति सुखम्, तत् 'सुशिवम्' । सोमं पिबतीति 'सोमपाः' यजमानः, तस्मिन् 'सोमपि' यजमाने 'त्सरति' पापादिकं नाशयतीति 'सोमपितृरुः' । यद्वा, सोम मन्त्रं पाति रक्षति स सोमपाः,

\* का० श्रौ० सू० १७. २. १५ ।

† पा० २. ३. १८ सू० १ वा० ।

‡ वा० सं० १२. ७१ ।

§ निघ० ३. ६. १७ ।

तस्मिन् वर्तमानम् अशनाया दुःखं क्लरति नाशयतीति  
तथा ; श्रुतेरभिमत मेतद् व्याख्यानम् । सोमपीत्यत्र सप्तम्या  
अनुक्छान्दसः \* । यदित्यभूतं लाङ्गलम्, 'तत्' कर्तृ गवादि-  
रथवाहनान्तम् 'उद्वपति' उद्वमयति । 'गां' गोजातिम् । 'अवि'  
मेषजातिम् । 'प्रफर्ष्य' प्रथमयुवतिं तरुणी मित्यर्थः । फर्वतिर्गति-  
कर्मा । प्रकर्षेण फर्ष्या गम्या, ताम् ; छान्दसो ऋत्विजः । कीदृ-  
शीं ताम् ? 'पीवरीं' उन्नतस्तनकपोलाम्, 'प्रस्थाम्' प्रस्थानम्  
तद्वत् उत्कृष्टजवोपेतम्, 'रथवाहनम्' अश्वम्, रथं वहतीति  
या तम् ॥ ११ ॥

अथ पूर्वपाखे दक्षिणापवर्गां चतुर्थीं सीतां विधत्ते—  
“अथ पूर्वार्द्धेनेति † । तत्र मन्त्रः— “कामं कामदुवे इति ‡ ।  
मन्त्रस्याय मर्थः,— हे 'कामदुवे' कामानां प्रपूरणे ! हे सीते !  
'मित्राय वरुणाय च' तथा 'इन्द्राय', 'अग्निभ्यां' युग्मदेवाभ्यां  
'पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्यश्च' 'कामं' काम्यमानं फलं 'धुव्य'  
प्रपूरय । 'इति'-शब्दो मन्त्रसमाप्तिद्योतकः । ऋषेः सर्व-  
देवतासम्बन्धद्वारा मन्त्रोक्तदेवताभ्यः कामप्रपूरण माशास्य  
मिति मन्त्रतात्पर्यं माह— “सर्वदेवत्या वै ऋषिरिति । इत्थं  
दक्षिणादिचतसृषु दिक्षु प्रादक्षिण्येन कृतं कर्षण मभिनयेन

\* 'हलदन्तात् सप्तम्याः ( पा० सू० ६. ३. ६. )'—इति विभक्ते-  
रनुक् ; 'व्यातो धातोः ( पा० सू० ६. ४. १४०. )'—इति व्या-लोपे हलन्त-  
त्वात् । यद्वा, सोमः पीयतेऽनेनेति सोमपिचमसः, तस्य त्वस-  
निष्पादकम् ; न हि लाङ्गलकर्म विना सोमचमसाः स्युः—इति  
महर्षिधरः ।

† का० श्रौ० सू० १७. २. १६ ।

‡ वा० सं० १२. ७२ ।

निर्दिश्य स्तौति— “इत्यप्र इति । ‘अग्ने’ प्रथमम्, ‘इति’ अग्नेन प्रकारेण “स दक्षिणार्धेनेत्युक्तलक्षणेन \* दक्षिणतः प्राचीं स्तौतां कृषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अग्नेन प्रकारेण “अथ जघनार्धेनेत्युक्तलक्षणेन † पश्चिमतः उदोचीं कृषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अग्नेन प्रकारेण “अथोत्तरार्धेनेत्युक्तलक्षणेन ‡ उत्तरतः प्राचीं कृषति । ‘अथ’ अनन्तरम्, ‘इति’ अग्नेन प्रकारेण “अथ पूर्वार्धेनेत्युक्तलक्षणेन § पूर्वस्यां दिश्युदग्दक्षिणायतां स्तौतां कृषति । ‘तत्’ एवं सति ‘दक्षिणावृत्’ प्रादक्षिण्येनावृत्तिर्भवति । ‘तत्’ खलु ‘देवता’ देवसम्बन्धिनि कर्मणि योग्यम् । तदुक्तमाप्तस्येन — “यज्ञोपवीती प्रदक्षिणं देवानि कर्माणि करोति” — इति ॥ १२ ॥

उक्तं कर्षणं समन्वक्तुं मनूय स्तौति— “चतस्र इति । “स दक्षिणार्धेनेत्यादिना चतसृषु दिक्षु क्रमेण प्रोक्ताः चतस्रः स्तौताः “शुनं सुफाला विकृषन्तु भूमि मित्यादिना ¶ यजुषां यजुर्वेदपठितमन्त्रेणत्यर्थः । “चतसृषु दिक्षित्यादि । प्रागादिषु दिक्षु यत् प्रसिद्धं कष्टपथं ब्रह्मिवादिनाम् ‘अन्नम्’ अस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मिन्’ अग्नौ यजमाने वा ‘एतत् एतेन कर्षणेन ‘दधाति’ स्थापयति ॥

\* इहैव श्रुता नवमी कण्ठी दृष्ट्या (१०० पृ० ६ प्र०) ।

† इहैव श्रुता दशमी कण्ठी दृष्ट्या (१०० पृ० १४ प्र०) ।

‡ इहैव श्रुता एकादशी कण्ठी दृष्ट्या (१०१ पृ० ५ प्र०) ।

§ इहैव श्रुतं द्वादशी कण्ठी दृष्ट्या (१०१ पृ० १० प्र०) ।

॥ आप० का० श्रौ० सू० २४. २. १५ ।

¶ वा० सं १२. ६६—७२ ।

यजुर्मन्त्रेण कर्षणं प्रकारान्तरेण स्तौति — “तद्वा इति ।  
 ‘तत्’ खलु कर्षणं ‘यजुषा’ क्रियते, यजुरिति यदस्ति, ‘तत्  
 अद्वा वै’ अनुष्ठेयार्थप्रकाशकत्वात् प्रत्यक्षतो विस्पष्टम्, ‘इमाः’  
 प्रागाद्याः ‘दिशः’ च प्रत्यक्षत्वाद् विस्पष्टतराः ; अतो यजुषो  
 दिशाश्चाद्वात्वसाभ्याद् दिक्षु यजुषा कर्षणं युक्ततर मिति  
 भावः ॥ १३ ॥

अमन्त्रकं द्वादशसङ्ख्याकानां सीतानां कर्षणं विधाय  
 स्तौति — “अथात्मान मित्यादिना । “यदेव संवत्सर इति ।  
 सीतानां संवत्सरसम्बन्धिनां मासानां ( च \* ) द्वादशसङ्ख्यासाम्यात्  
 कर्त्तव्ये संवत्सरे यदेव ब्रीहियवादिक मन्नं पच्यते, ‘तत्’  
 सर्वम् ‘अस्मिन्’ अग्नी ‘एतत्’ एतेन द्वादशसीताकर्षणेन दधाति  
 स्थापयतीत्यर्थः ॥

अमन्त्रकत्व मनूय स्तौति — “तूष्णी मिति । ‘तूष्णीम्’  
 अमन्त्रं कृषेत् । तूष्णी मिति यदस्ति, तत् ‘अनिरुक्तं वै’ मन्त्र-  
 वाक्येन कस्यचिदर्थस्य निष्कृत्वाभिवधानात् । अत एव तद-  
 निरुक्तं सर्वात्मकम्, अतः ‘सर्वेणैव’ साधनेन ‘अस्मिन्’ अग्नी  
 ‘अन्नं’ स्थापितं भवतीत्यर्थः ॥

पूर्वशदत्राप्यभिनयेन कर्षणप्रकारं निर्दिश्य स्तौति — “इत्यग्र  
 इति । ‘इति’ अनेन प्रकारेण ‘अग्रे’ प्रथम मात्मनो दक्षिणार्धं  
 मारभ्य उत्तरार्धपर्यन्तं ‘कृषति’ कर्षणं कुर्यात् । ‘अथ’ अनन्तरम्,  
 ‘इति’ अनेन प्रकारेण दक्षिणां त्रीणि मारभ्य उत्तरांशपर्यन्तं  
 मन्त्रया विकृषेत् । ‘अथ अनन्तरम्’, ‘इति’ अनेन प्रकारेण



पश्चाद्भाग मारभ्य पूर्वार्धपर्यन्तं विष्कृषेत् । एतदन्तरम्, 'इति' अनेन प्रकारेणोत्तरां ओणि मारभ्य दक्षिणांसपर्यन्तं विष्कृषेत् इम मेवार्थं मभिप्रेत्य सूत्रितम्—“तूष्णीं तिस्रस्त्रिस्तुः प्रदक्षिणं तिर्यग्नूक्तेऽक्षण्या ओष्णंसयोरनूक्ते ओष्णंसयोः”—इति \* । 'तत्' तथा उक्तप्रकारेण कर्षणे सति प्रदक्षिणावर्तनं सिध्यति । तच्च 'देवत्रा' देवेषु योग्यम् । “देवमनुष्येभ्यः आदिना सप्तम्यर्थे चा-प्रत्ययः † ॥ १४ ॥

विहितानां समस्तकाणां चतसृणां सोतानां प्रत्येकं त्रित्वं विधाय स्तौति—“तिस्रस्त्रिस्तु इति । “त्रिवृदग्निरित्यादि । स्तोत्रियनवकात्मको हि त्रिवृत्स्तोमः ‡, अग्नेरपि रुद्रादिनामाष्टकाभिधेयेष्टाभिरनिरूपैः स्वात्मना च नवसङ्ख्यापितत्वात् त्रिवृत्त्वम् । तथाहि—“त मत्रवोदुद्रोऽसोत्यारभ्य ताव्येतान्यष्टावग्निरूपाणि कुमारो नवमः, सैवाग्नेस्त्रिवृत्तेति षष्ठे समाज्जातम् § । एष च 'यावान्' यत्परिमाणविशिष्टोऽग्निः, 'अस्य अग्नेः' 'यावतो' यत्परिमाणविशिष्टा 'मात्रा' अवयवः, 'तावता' तादृक्परिमाणविशिष्टेन कृत्स्नेन चाग्निरूपेण अग्निन्' चीयमानोऽग्नौ यजमाने वा 'एतत्' एतेन त्रिसङ्ख्यायुक्तेन कर्षणेन 'अन्नं' धारयति । एवं सर्वत्र त्रिवृदग्निरिति वाक्यशेषो व्याख्येयः ॥ १५ ॥ १६ ॥

असत्त्वकसीतासङ्ख्यां सम्भूय प्रशंसति—“ता उभय्य इति ।

\* का० औ० सू० १७. २. १५-१६ ।

† पा० सू० ५. ४. ५६ ।

‡ सा० वे० ता० ब्रा० ३. १, २, ३ ।

§ ६ का० १ अ० ३ ब्रा० १०-१८ क० ( ६ भा० ४१ ३३ पृ० ) ।

‘उभयः’ उभयविधाः, समन्तकामन्तकभेदेन द्विविधाः सम्भूय षोडशसङ्ख्याका भवन्ति । ‘षोडशकलः’ षोडशावयवसमुदायो हि स्थूलशरोराभिमानो विराडात्मकः प्रजापतिरभिधेयते । तथाहि ;— तस्य ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, तथा कर्मेन्द्रियाणि, मन एकम्, पञ्चभिर्भूतेर्वा प्राणैर्वा सह षोडशकलाः । गत मन्यत् । “आत्मसंश्रित मिति । आत्मना शरीरेण समानं मितम्, न तु न्यून मधिकं वेत्यर्थः । आत्मसंश्रितां तस्य दृष्टिहेतुता माह— “यदु वा इति । ‘यत्’ खलु आत्मसंश्रित मन्नम्’, ‘तद्’ भोक्तृन् ‘अवति’ रक्षति । अत एतदन्नं सात्त्वं सत् ‘न हिनस्ति’ न बाधते । अधिकन्यूनयोरुक्तद्वैपरीत्यं क्रमेणाह— “यद्भूय इति । ‘भूयः’ बहुतर मात्मनोऽधिकम्, ‘कनोयः’ अल्पतर मात्मनोऽपर्याप्त मित्यर्थः ॥ १७ ॥

विकर्षणं प्रकारान्तरेण स्तोतु मनुवदति— “यद्देन मिति । पुरा खलु पितरं प्रजापतिं ‘संस्करिष्यन्तो देवाः’ ‘पुरस्तात्’ चयनलक्षणात् संस्कारात् पूर्वम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतो ‘एतत्’ एतेन विकर्षणेन ‘अदधुः’ अधारयन् । ‘तथैव’ ‘अयं’ यजमानोऽपि ‘संस्करिष्यन्’ ‘अस्मिन्’ चेष्टमाणेऽग्निलक्षणे प्रजापतौ पूर्वं ‘प्राणान्’ स्थापयति । कथं मेतदित्यत आह— “लेखा भवन्तीति । ‘हि’ यस्मात् लोके चक्षुरादिगोलकामिकासु ‘लेखासु’ रेखासु इमे प्राणाः चक्षुरादीन्द्रियाणि वर्तन्ते ; अतस्तेषां मत्र स्थाप्यमानानां सञ्चरणार्थं कर्षणेन रेखाकरणं युक्त मिति भावः ॥ १८ ॥

समन्तकं कर्षणं मनुष्य सङ्ख्याद्वारा स्तौति— “चतस्र इति । ‘शीर्षेण’ शीर्षे शिरसि ‘ये इमे चत्वारो निरुक्ताः’

चक्षुः श्रोत्रं नासिका मुख मिति निःशेषिणीक्ताः प्रकाश-  
मानाः 'प्राणाः', 'तान्' 'अस्मिन्' अग्नौ एतेन सयजुष्केण सीता-  
चतुष्टयेन स्थापितवान् भवति । एतदेव विवृणोति — "तद्दे-  
यजुरेति । "अहेत्यादि । प्रागुक्तार्थः \* ॥ १८ ॥

अमन्त्रकं कर्षणं मनूय स्तूति — "यद्देवात्मान मिति ।  
'अन्तरात्मन्' आत्मनि देहे अन्तर्मन्त्रे 'य एवेमि' 'प्राणाः'  
प्राणवृत्तयः प्राणापानादिलक्षणाः, मनोबुद्ध्यादिरूपा अन्तः-  
करणवृत्तयश्च, 'तान्' 'अस्मिन्' अग्नौ 'एतत्' एतेनामन्त्रकाकर्षणेन  
'दधाति' स्थापयति । एतदेव विवृणोति — "तूष्णी मिति ।  
'यावन्तः' यत्परिमाणविशिष्टाः 'इमे' अन्तरात्मन्यवस्थिताः  
'प्राणाः' इति, 'को नाम तद्देद' ? तेषां मानमन्यात् ; किन्तु  
न कश्चिदपि वेत्तुं शक्नोति । तस्मादनिरुक्तानां तेषां सङ्ग्रहणाय  
तूष्णीं मात्मनो द्वादशसीताकर्षणं युक्त मित्यर्थः ॥ २० ॥

कर्षणानन्तरं मनोबुद्ध्यां विमोचनं विधत्ते — "अथैना-  
निति † । "अग्नौत्यादि । 'यस्मै' खलु प्रयोजनाय 'एनान्'  
पूर्वं युक्तवान्, 'तं' कामं कर्षणलक्षणं प्रयोजनम् 'आप्ता' लब्ध्वा  
तेषां विमोचनं युक्त मिति शेषः ॥

विमोचने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे — "विमुच्यध्व मिति ‡ ।  
"अग्न्या" — इति गोनाम § । 'एते' खल्वनडाहो 'देवता' देवेषु  
'अग्न्याः' अहन्तव्याः, देवसम्बन्धिनी गाव इत्यर्थः । "देव-"

\* त्रयोदशकण्ठीयाख्यानं द्रष्टव्यम् ११७ पृ० ३ प० )

† का० श्री० सू० १७. २. २१ ।

‡ वा सं० १२. ७३ ।

§ निघ० २. ११. १ ।

होभिरिति । ‘एभिः’ अनडुद्भिः ‘दैव’ देवसम्बन्धि कर्षणलक्षणं  
‘कर्म करोति’ । तस्माद्देवान् याति प्राप्नोत्येभिरिति व्युत्पत्त्या  
‘देवयानाः’-इत्यनडुद्भिर्गोषणं युक्तमिति भावः ॥

द्वितीयं पादमनूय तत्रत्यतमःशब्दस्य विवक्षितं मर्थं  
माह — “अगमेति । अशनस्येच्छा ‘अशनाया’ क्षुत्पीडा ।  
स्पृष्टमन्यत् । “ज्योतिर्हीत्यादि । यो हि हविःप्रदाह-  
त्वेन यज्ञं, तत्रत्यान् देवांश्च प्राप्नोति, एष हि ‘ज्योतिः’  
ज्योतिर्मयं स्वर्गादिभोगयोग्यं शरीरम् ‘आप्नोति’ । अत एव  
तैत्तिरीये समाश्रयते — “सुक्ततां वा एतानि ज्योतींषि यक्ष-  
क्षत्राणि”-इति \* । अतोऽत्र मन्त्रे “ज्योतिरापाम”-इति ज्योति-  
राप्तिप्रतिपादनं युक्ततरमित्यर्थः ॥

उत्तरपूर्वस्यां दिशि तेषां मनडुङ्गां प्रस्थापनं विधत्ते —  
“अथैनानुदीच इति † । ‘अथ’ विमोचनानन्तरमेव अनडुङ्गः  
‘उदीचः’ उदङ्मुखान् ‘प्राचः’ प्राङ्मुखान् कृत्वा ‘प्रसृजति’  
प्रस्थापयति । प्राशुदक्कस्य स्तावकं प्रागाम्नातं वाक्शेष-  
मतिदिशति — “तस्योक्त इति । “एषा होभयेषां देवमनु-  
ष्याणां दिग्यदुदीची-प्राचीत्यादि ‡ ॥

तेषां दक्षिणाकाले दानं विधत्ते — “तानध्वर्यव इति । अत  
एव सूत्रितम् — “दक्षिणाकालेऽध्वर्यवे ददाति”-इति § । अन्या-  
वृत्तिजो विहायाध्वर्योरेव सभ्रदानत्वे कारणमाह — “स

\* ते० सं० पृ. ४. १. ७ ।

† का० श्रौ० सू० (१७. २. २२ क) १६. ३. १५ द्रष्टव्यम् ।

‡ पुरस्तात् ६ का० ४ प्र० ४ ब्रा० ३ क० द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. २. २२ ख ।

हीति । 'हि' यस्मात् 'सः' अर्धयुः 'तैः' अनडुभिः कर्षणं  
 'करोति', तस्मादध्वर्यवे दानं युक्तमिति भावः \* । तस्मिन्  
 दाने कालविशेषं विधत्ते — "तांस्त्विति । ऋत्विक्परिक्रयहेतवो  
 दातव्या गावो दक्षिणाः, तासां यः कालो माध्यन्दिनसव-  
 नात्मकः, तस्मिन्, 'ताम्' अनडुहः 'अनुदिशेत्' दद्यादिति  
 यावत् ॥ २१ ॥ ४ [ २. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे प्रथमः प्रपाठकः ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. २. २० । दीर्घप्रयुक्तेषु प्रतिप्रस्थात्रादय  
 ऋत्विजः पुरुषाः लवन्ति, तिर्यक्प्रयुक्तेष्वध्वर्युरेवेति तत्सूत्राश्रयः ॥

अथ

द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

अथ दर्भस्तम्ब मुपदधाति । एतद् वै देवा  
ओषधीरुपादधत तथैवेतद् यजमान ओषधीरुप-  
धत्ते ॥ १ ॥

यद्वेव दर्भस्तम्ब मुपदधाति । जायत ऽएष  
एतद्यच्चौयते स एष सर्व्वस्मा ऽअन्नाय जायत  
ऽउभयस्वेतदन्ने यद्दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च  
या वै हवाद्दीभत्समाना आपो धन्व हभन्त्य उदा-  
यंस्ते दर्भा अभवन्त्यद् हभन्त्य उदार्यंस्तस्माद्दर्भास्ता  
ह्येताः शुद्धा मेध्या आपो हवाभिप्रचरिता \*  
यद्दर्भा यदु दर्भास्तेनोषधय उभयेनैवैन मेतदन्नेन  
प्रीणाति ॥ २ ॥

\* “आपोऽहवाभिप्रचरिता”—इति स्थावरायण सम्मतः पाठः ।

सीतासमरे \* । व्याग्वै सीतासमरः प्राणा  
वै सीतास्तासा मयुः समयो व्याचि वै प्राणेभ्यो-  
ऽन्नं धीयते मध्यतो मध्यत एवास्मिन्नेतदुन्नं  
दधाति तूष्णीं मुनिरुक्तं वै तद्यत्तूष्णीं सर्वं वा  
ऽअनिरुक्तं सर्व्वेणैवास्मिन्नेतदुन्ने दधाति ॥ ३ ॥

अथैन मभिजुहोति । जायत ऽएष एतद्यच्चै-  
यते स एष सर्व्वस्मा ऽअन्नाय जायते सर्व्वस्यो  
ऽअस्यैष रसो यदाज्य मपां च ह्येष ओषधीनां च  
रसो ऽस्यैवैन मेतत् सर्व्वस्य रसेन प्रीणाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मानेनैवैन मेतत् सर्व्वेण प्री-  
णाति पञ्चगृहीतेन पञ्चचितिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवुः  
संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतदुन्नेन प्रीणाति † ॥ ४ ॥

यद्वैवैन मभिजुहोति । एतद्वै यच्चैतं प्राणा  
ऋषयो ऽग्रे ऽग्निं समस्कुर्व्वन्तुदस्मिन्नेतं पुरस्ताद्  
भागं मकुर्व्वन्त तस्मात् पुरस्ताद् भागास्तद्यदभि

\* 'सितासमरे'—इति ग, घ ।

† 'प्रीणाति'—इति क ।

जुहोति यऽएवास्मिंस्ते प्राणा ऋषयः पुरस्ताद्  
भागं मकुर्वन्त तान्येवैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ५ ॥

यदेवैनं मभिजुहोति । एतद्वै यान्येतस्मिन्नग्नौ  
रूपाण्यप्रधास्यन् भवति यान्स्तोमान्यानि पृष्ठानि  
यानि कुन्दांसि तेभ्य एतं पुरस्ताद् भागं  
करोति तान्येवैतत् प्रीणात्याज्येन पञ्चगृहीतेन  
तस्योक्तो बन्धुः ॥ ६ ॥

यदेवैनं मभिजुहोति । एतद्वै देवा अवि-  
भयुर्दीर्घं वा ऽद्भुतं कर्म यद्वै न द्रमं मिह रुचां-  
सि नाष्ट्रा न हन्युरिति तऽएता मेतस्य कर्मणः  
पुरस्तात् सऽस्या मयस्यस्त मत्रैव सूर्वाः समस्थाप-  
यन्नुवाचिन्वन्स्तथैवैनं मय मेतदत्रैव सूर्वाः सऽ-  
स्थापयत्यत्र चिनोति \* ॥ ७ ॥

सजूरुद्भु इति चितिः । अयवोभिरिति पुरी-  
षः सजूरुषा इति चितिररुणीभिरिति पुरीषः  
सजोषसावश्विनेति चितिर्दुःसोभिरिति पुरीषः



सञ्जः सूर इति चित्तिरेतश्चेति पुरीषः सञ्ज-  
 खानर इति चित्तिरिड्येति पुरीषं घृतेनेति  
 चितिः स्वेति पुरीषः हेति चितिः ॥ ८ ॥

त्रयोदशैता व्याहृतयो भवन्ति । चषोदश  
 मासाः संवत्सरस्त्रयोदशान्नेश्चित्तिपुरीषाणि यावा-  
 नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त मेवैन मेतच्चिनोत्याज्येन  
 जुहोत्यग्निरेष यदाज्य मग्नि मेवैतच्चिनोति पञ्च-  
 गृहीतेन पञ्चचित्तिकोऽग्निः पञ्चऽर्त्तवः संवत्सरः  
 संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावन्त  
 मेवैन मेतच्चिनोत्यूर्ध्वं मुद्गल्लन् जुहोत्यूर्ध्वं तदग्निं  
 चितिभिश्चिनोति ॥ ९ ॥ १ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [२, ३.] ॥

अथ कुशस्तम्बोपधानं विधत्ते—“अथ दर्भस्तम्ब मिति ।  
 एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते , दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः ,  
 तम् आत्ममध्ये तूष्णीम् ‘उपदधाति’ स्थापयेदित्यर्थः । तदु-  
 पधानं देवकर्तृकौषध्युपधानद्वारा स्तौति—“एतद्वा इति ।  
 ‘उपादधत’ उपहितवन्तः । “तथैवेतदिति, प्रकृते योजनम् ॥ १ ॥

तदेव प्रकारान्तरेणापि स्तौति—“यद्देवेति । ‘स एषः’ आह-  
 वनीयोऽग्निः ‘चीयते’ चयनेन सम्पाद्यते , ‘एषः’ ‘जायते’ उत्पद्यत

एवं । 'स एवः' जायमानोऽग्निः 'सर्वस्मै' कृत्स्नाय 'अत्राय' तदुपभोक्तुं जायते । दर्भाणां नामनिर्वचनद्वारा उभयविधा-  
 त्वत्वं माह—“उभयस्येतदिति । उभयं किं मित्यत आह—  
 “यद्दर्भा इति । उभयविधत्वं मेव विवृणोति—“या वै वृक्षादिति ।  
 “वृक्षो ह वा इदं सर्वं वृक्षा शिष्ये”—इत्युपक्रम्य , “तस्मादु हैका  
 आपो वीभत्साच्चत्तिरे”—इत्यादिना प्रथमकाण्डे अपां दर्भभाव-  
 प्रत्ययादिति \* । 'याः' आपः वृक्षासुराद् 'वीभत्समानाः' जुगुप्स-  
 मानाः जुगुप्साश्रयत्वादि कुर्वाणा इत्यर्थः । 'धन्व' अन्तरिक्षं  
 'दृभन्त्यः' गुम्फनं कुर्वन्त्यः आपः 'उदायन्' उद्गतवत्यः । “धन्वान्त-  
 रिक्षम् ; धन्वन्त्यस्मादापः”—इति † हि यास्कः । दृभन्त्य इति ,  
 तौदादिकात् “दृभी गुम्फने”—इति ‡ धातोः शतरि “ऋन्नेभ्यो  
 ङीप्” § । 'ते दर्भा अभवन्' आप एव दर्भत्वं प्राप्ता इत्यर्थः । ते इति  
 पुल्लिङ्गं दर्भापेक्षम् । दर्भनाम निर्वक्ति—“यद्दृभन्त्य इति । 'यत्'  
 यस्माद् दृभन्त्यो गुम्फनं कुर्वन्त्य आप उद्गतवत्यः , 'तस्माद्'  
 दर्भणादापो 'दर्भाः' दर्भशब्दवाच्या इत्यर्थः । दर्भभूतास्ता अपः  
 प्रशंसति—“ता हैता इति । ये दर्भाः 'ताः' एता आपः  
 'शुद्धाः' शुद्धिसाधनभूताः , तथा 'मेध्याः' मेधाहर्हाः । तदेव विस्म-  
 यति—“आपोऽवृक्षाभिप्रक्षरिता इति । न वृक्षात् 'अभिप्रक्ष-  
 रिताः' अभिप्रक्षुताः 'उ' पुनः 'यत्' यस्माद् 'दर्भाः' , 'तेन' कारणेन  
 'ओषधयः' । दर्भाणां मोषधित्वं मन्यत्राप्यान्नायते—“ओष-

\* १ का० १ प्र० ३भा० ४ , ५ क० ( १ भा० ६० पृ० ) ।

† निरु० ५. १. ६ ।

‡ तु० प० ४३ धा० ।

§ पा० ख० ४. १. ५ ।

घयो बर्हिरिति । उभयविधत्वं स उपयोगप्रतिपादनेनोपसंहरति—  
“उभयेनैवैन मिति । ‘एनं’ चित्याग्निम् ‘एतत्’ एतेनोभयविधेन  
अग्नेन ‘प्रीणाति’ ॥ २ ॥

तदुपधानं क्षेत्रे विधाय स्तौति— “सीतासमर इति ।  
कृष्टाः सीताः ‘समृच्छन्ते’ सङ्गच्छन्ते यत्रासौ ‘सीतासमरः’  
क्षेत्रमध्यप्रदेशः, तत्रोपदध्यादिति शेषः । आधियज्ञिकस्य  
सीतासमरस्याध्यात्मं सुखरूपता माह— “वाग्वा इति ।  
वागायतनत्वाद् ‘वाक्’ सुखं खलु ‘सीतासमरः’ । कथं मित्य-  
पेक्षायां तदुपपादयति— “प्राणा वा इति । ‘प्राणाः’ खलु  
‘सीताः’ नाड्यः तत्सञ्चारित्वात् । ‘तासां’ नाडीरूपाणां सीतानाम्  
‘अयं’ मुखलक्षणः ‘समयः’ सङ्गमः, सम्यगयन्ते सङ्गच्छन्ते  
यत्र सोऽयं समयः; सुखे हि सर्वाः प्राणा नाड्यः सङ्ग-  
च्छन्ते । ततः किं मित्याकाङ्क्षाया माह— “वाचि वा इति ।  
‘वाचि वै’ मुखे एव ‘प्राणेभ्यः’ अर्थे ‘अन्नं’ ‘धीयते’ स्थाप्यते;  
मुखेनैव हि जग्धेऽन्ने प्राणाना माप्यायनस्य सद्भावात् । सीता-  
समरेऽपि मध्यदेशे उपदध्यादित्याह— “मध्यत इति । सप्त-  
म्यर्थे तसिलयम् । ‘अस्मिन्’ चित्याग्नी मध्ये एव ‘एतत्’ एतेन अन्नं  
स्थापितवान् भवति । उपधाने मन्त्राभावं विधत्ते— “तूष्णी  
मिति । तदेवोपपादयति । “अनिरुक्तं वा इति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मभौति । ‘एनं’ दर्भस्तम्बम् ।  
“जायत एष इत्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् \* । अभिहोमे आज्यं  
द्रव्यं विधातुं स्तौति— “सर्वस्यो ऽअस्यैष इति । ‘यत्’ आज्यं सर्पिः

‘एषः’ ‘अस्य’ ‘सर्वस्य’ विश्वस्य ‘रसः’ । रसत्वं मेवोपपादयति—  
 “अपां च हीति । अपा मोषधीनाञ्च गोभिः पानाद् भक्षणाच्च  
 ह्याज्यं सुत्पद्यते । रसत्वोपपादनस्य प्रयोजनं माह— “अस्यैवैन  
 मिति । ‘एनं’ चित्वाग्निं ‘प्रीणाति’ तर्पयति । सर्वरसत्वकथने  
 कारणं माह— “यावानु वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाण-  
 विशिष्टः, ‘आत्मा’ देहोऽपि ‘तावान्’ तत्परिमाणविशिष्ट एव ;  
 देहस्य रसोपजीवनत्वात् । “अनेनेति । ‘सर्वेण’ रसेनेत्यर्थः ।

आज्यस्य पञ्चगृहीतत्वं विधत्ते— “पञ्चगृहीतेनेति \* । पञ्च-  
 गृहीतत्वं स्तौति— “पञ्चचितिकोऽग्निरित्यादिना । ‘पञ्चर्षवः’  
 पञ्चर्षात्मकः ‘संवत्सरः’; हेमन्तशिशिरयो समासेन † । “संवत्सरो-  
 ऽग्निः इत्यादि गतार्थम् ‡ ॥ ४ ॥

प्रकारान्तरेणाभिहोमं स्तौति— “यद्वैवैन मिति । ‘एतद्दे’  
 कारणं खलु ‘यत्र’ यदा ‘प्राणाः’ एव ‘ऋषयः’ ‘अथे’ प्रपञ्च-  
 सृष्टेः पुरा ‘एनम्’ अग्निं चित्वाख्यं संस्कृतवन्तः, ‘तत्’ तदा  
 ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद्’ भागम् चय-  
 नात् प्रागेव भजनीयं मंशम् ‘अकुर्वत’ सम्पादितवन्तः, ‘तस्मात्’ ते  
 ऋषयः ‘पुरस्ताद्भागाः’ पुरस्तादादौ भागो भजनीयोऽंशो येषां ते  
 पुरस्ताद्भागाः, प्रथमपूज्या इत्यर्थः । “तद्यदिति । ‘तत्’ तच्च  
 यत्कारणात् ‘अभिजुहोति’, इदानीन्तनो यजमान इति शेषः ।  
 ‘ये’ पुरस्ताद् भागकर्तारः प्राणरूपा ऋषयः, ‘तानि च’ एतत्

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २ ।

† ऐ० ब्रा० १. १. १ द्रष्टव्यम् ।

‡ १भा० ३६८०, इह च पुरस्तात् १०२ पृ० १६ क० ।

एतेनाभिहोमेन तर्पयतीति तत्कारणं मित्यर्थः । “आज्येनेत्यादि । व्याख्यातम् \* ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेण त मेवाभिहोमं स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतस्मिन् अग्नौ’ चित्यात्मके ‘यानि रूपाणि’ गार्हपत्यचित्ति-विशेषलक्षणानि, तथा ‘यान् स्तोमान्’ स्तोत्रियसमूहान् त्रिवृत्यष्टदशादीन्, ‘यानि पृष्ठानि’ बृहद्रथन्तरादीनि, ‘यानि च छन्दांसि’ गायत्र्यादीनि, ‘उपधास्यन्’ एतेषां सुपधानं करिष्यन् ‘भवति’, ‘तेभ्यः’ रूपादिभ्य ‘एतम्’ अभिहोमलक्षणं ‘पुरस्ताद् भागं’ सम्पादयति । ‘तान्येव’ रूपादीनि ‘एतत्’ एतेन तर्पयति । “आज्येनेत्यादि । पूर्ववत् † ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यभिहोमं मेव स्तौति— “यद्देवेति । ‘एतत्’ एतेन हेतुना ‘देवाः’ ‘अभिभयुः’ भीतवन्तः । भयस्वरूपं मेव विशदयति— “दीर्घं वा इत्यादिना । ‘इदं’ चयनलक्षणं ‘कर्म’, ‘दीर्घं’ विस्तृतं खलु । अस्तु पुनर्दीर्घीयः, तावता को भयहेतुरित्यत आह— “यद्दे न इति । ‘नः’ अस्माकम् ‘इह’ दीर्घं कर्मणि ‘इमम्’ अग्निं ‘नाद्वा रक्षांसि’ ‘न हन्युः’ हिंस्युरिति । अयं सम्भावने लिङ् ‡, ‘इति’-शब्दो देवाभिप्रायसमाप्तिः । भीतिनिवृत्तिप्रकारं दृष्टवन्त इत्याह— “त एता मिति । ‘ते’ देवा ‘एतस्य’ दीर्घस्य चयनाख्यकर्मणः ‘पुरस्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘एवैताम्’ अभिहोमलक्षणां ‘संस्थां’ समाप्तिम् ‘अपश्यन्’ ददृशुः । दृष्ट्वा चानुष्ठितवन्त इत्याह— “त मत्रैवेति । ‘अत्रैव’ चयनात्

\* , † इहैव पुरस्तात् ४ क० १२६ ए० ८ प० दृष्टव्यम् ।

‡ ६ पा० ख० ३. ३. १६१ ।

प्रागवसरे एव 'तं' चित्वात्मक मग्निं सर्वं निरवशेषं 'सम-  
स्थापयन्' समापितवन्तः, अत्रादावित्यर्थः । 'अचिन्वन्' चित-  
वन्त इति भाविनि भूतवदुपचारः । उक्तं मर्थं प्रकृते योज-  
यति— "तथैवेन मिति ॥ ७ ॥

अभिहोमे मन्त्रं विधाय व्याहृतिरूपेण त्रयोदशधा विभज्य  
चितिपुरीषात्मना स्तौति— "सजूरब्ध इति चितिरित्यादिना \* ।  
मन्त्रार्थस्तु,— 'अब्धः' संवत्सरः 'अयवोभिः' मासैरर्धमासैश्च  
'सजूः' समानजोषणः । यया अयवाश्चार्धमासा मासाश्चोच्यन्ते ;  
अर्धमासा एव वा , "पूर्वपक्षा वै यवा अपरपक्षा अयवाः"—इति  
श्रुतेः † । 'उषाः' रात्रेरपरः कालः । 'अरुणोभिः' अरुणवर्णाभि-  
र्गोभिः 'सजूः' समानजोषणः । "अरुणो गाव उषसः"—इति  
निघण्टुः ‡ । 'अश्विना' नासत्थी देवौ 'द' सोभिः कर्मभिः  
सजोषसौ समानजोषणौ । 'सूरः' सूर्यः 'एतशेन' हरितवर्णेना-  
श्वेन 'सजूः' । 'वैश्वानरः' विश्वनरनेता अग्निः 'इडया' अग्न्याया  
वृतेन 'आज्येन' हविषा च 'सजूः' 'स्वाहा' इदं माज्यं सुहुत  
मस्तु ॥ ८ ॥

त्रयोदशधा विभक्ता मन्त्रावयवा व्याहृतिरूपाः स्युरित्याह—  
"त्रयोदशैता इति । व्याक्रियन्त एति 'व्याहृतयः' । 'एताः' इति  
स्त्रीलिङ्गत्वं व्याहृतिशब्दापेक्षम् । व्याहृतिगतां त्रयोदशसङ्ख्यां  
प्रशंसति— "त्रयोदश मासा इति । संसर्प्याहस्यतिसञ्ज्ञको-

\* वा सं० १२. ७४ ।

† शत० ब्रा० ८ का० २ प्र० ५ ब्रा० ११ क० ।

‡ १ अ० १५ ख० ७ प० ।

ऽध्विमासस्तयोदशः \* ; “अस्ति त्रयोदशो मासः”—इति श्रुतेः † ।  
 “त्रयोदशान्नेरिति । चित्यस्याग्नेश्चितयः पुरीषाणि च मिलित्वा  
 त्रयोदश सम्पद्यन्ते । तथाहि—आदितश्चतस्रश्चितयः, पुरीषनिवप-  
 नान्ताः, स्तोमभागान्ता पञ्चमी चितिः, तदनन्तरभावि पुरीष  
 मेकम्, नाकसत्पश्वतिपुरीषनिवपनान्ता षष्ठो चितिरिति हे, ततो  
 विकर्णस्त्रियमाहस्ययोरुपधानं द्विरण्यशकलैः प्रोक्ष्य मग्न्या-  
 भ्याधानं चेति सप्तमो चितिः । सा त्रयोदशीत्यादिर्विभाग ऊह्यः ।  
 “यावानग्निरित्यादि । असक्तद् गतम् ॥

आज्यस्य होमसाधनत्वं मनूय प्रशंसति— “आज्येनेत्या-  
 दिना । आज्यस्याग्नित्वम् “तेजो वै घृतम्”—इति श्रुतेः ‡ । “पञ्च-  
 गृहीतेनेत्यादि । व्याख्यातचरम् । तत्राभिहोमे सुच उद्गृहीतत्वं  
 विधाय प्रशंसति— “ऊर्ध्वं मिति । ‘उद्गृह्णन्’ सुच मूर्ध्ना कुर्वन्  
 जुहोतीत्यर्थः । ‘तत्’ तेन सुच ऊर्ध्वकरणेन ‘अग्निं’ प्रकृतं  
 ‘चितिभिः’ ऊर्ध्वं चितवान् भवति । “पञ्चगृहीतेनोद्गृह्णन्  
 जुहोति सजूरब्ध इति”—इति सूत्रम् § ॥ ८ ॥ [२. ३.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

\* अत्र मागे ३६ प्र० ६ पं० द्रष्टव्या ।

† शत० ब्रा० ४. २. ५. ५ ।

‡ ये० ब्रा० ८. ४. ६ । ते० सं० २. ५. २. ७ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २ । वा० सं० १२. ७४ ।

( अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्. )

अथोदचमसान्निनयति । एतद्वै देवा \* अब्रुवं-  
 श्चेतयङ्ग मिति चिति मिच्छतेति व्याव तदब्रुवंस्ते  
 चेतयमाना वृष्टि मेव चिति मपश्यंस्तु मस्मिन्न-  
 दधुस्तथैवास्मिन्नयु मेतु दधाति ॥ १ ॥

उदचमसा भवन्ति \* । आपो वै वृष्टिर्वृष्टि  
 मेवास्मिन्नेतदुधाल्यौदुम्बरेण चमसेन तस्योक्तो बभू-  
 श्चतुःसक्तिना चतस्रो वै दिशः सर्वाभ्य एवा-  
 स्मिन्नेतद्विष्मो वृष्टिं दधाति ॥ २ ॥

तौस्त्रीनुदचमसान्निनयति । विहृदग्निर्यावा-  
 नग्निर्यावत्यस्य माता तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं  
 दधाति ॥ ३ ॥

द्वादशोदचमसान् कृष्टे निनयति । द्वादश  
 मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
 माता तावतैवास्मिन्नेतद् वृष्टिं दधाति ॥ ४ ॥

स वै कृष्टे निनयति । तस्मात् कृष्टाय  
 वर्षति स यत् कृष्ट एव निनयेन्नाकृष्टे कृष्टायैव

\* 'देवाः'—इति ख ।

† 'भवन्ति'—इति क ।



वर्षेन्नाक्लष्टाय यदक्लष्टऽएव निनयेन्न क्लष्टेऽक्लष्टा-  
यैव वर्षेन्ना क्लष्टाय क्लष्टे चाक्लष्टे च निनयति  
तस्मात् क्लष्टाय चाक्लष्टाय च वर्षति ॥ ५ ॥

त्रीन् क्लष्टे चाक्लष्टे च निनयति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य माता तावतैवास्मिन्नेतद्  
दृष्टिं दधाति ॥ ६ ॥

यद्वेवोदचमसान्ननिनयति । एतद्वा ऽअस्मिन्  
देवाः संस्करिष्यन्तः पुरस्तादपो दधुस्तथैवास्मिन्नय-  
मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तादपो दधाति ॥ ७ ॥

द्वीस्त्रीनुदचमसान्ननिनयति । त्रिवृदग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य माता तावतैवास्मिन्नेतदपो द-  
धाति ॥ ८ ॥

द्वादशीदचमसान् क्लष्टे निनयति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
माता तावतैवास्मिन्नेतदपो दधाति ॥ ९ ॥

स वै क्लष्टे निनयति । प्राणेषु तदपो दधाति  
स यत् क्लष्टऽएव निनयेन्नाक्लष्टे प्राणेष्वेवापः  
स्युर्नेतरस्मिन्नात्मन्नय यदक्लष्टऽएव निनयेन्न क्लष्ट

ऽआत्मन्नेवापः स्युर्न \* प्राणिषु कृष्टे चाकृष्टे च  
निनयति तस्मादिमा उभयत्वापः प्राणिषु चा-  
त्मंश्च ॥ १० ॥

तून् कृष्टे चाकृष्टे च निनयति । विवृदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदपो  
दधाति ॥ ११ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशो वै व्यञ्ज  
एतेनैवास्यैतत् पञ्चदशेन व्यञ्जेण सर्व्वं पाप्मान  
मुपहन्ति † ॥ १२ ॥

अथ सर्व्वौषधं व्यपति । एतद्वै देवा ऽअब्रु-  
वंश्चेतुयध्व मिति चिति मिच्छतेति व्याव तद-  
ब्रुवंस्ते चेतयमाना अन्न मेव चितिमपश्यंस्ता म-  
स्मिन्नदधुस्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १३ ॥

सर्व्वौषधं भवति । सर्व्व मेव तदन्नं यत्  
सर्व्वौषधं सर्व्व मेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति तेषा  
मेकमन्न मुद्धरेत्तस्य नाश्नीयाद्यावज्जीव मौदुम्बरेण

\* 'स्युर्न'—इति क ।

† 'मुपहन्ति'—इति क ।

चमसेन तस्योक्तो बभूवुः स्रुतुः स्रुतिना चतस्रो वै  
दिशः सर्वाभ्य एवास्मिन्नेतद्दिग्भ्योऽन्नं दधा-  
त्यनुष्टुब्भिर्व्वपति व्वाग्वाऽनुष्टुब् वाचो वा  
ऽन्नं मयते ॥ १४ ॥

तिसृभिस्तिसृभिश्चग्भिर्व्वपति । त्रिवृद्ग्निर्या-  
वानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं द-  
धाति ॥ १५ ॥

द्वादशभिर्चग्भिः कृष्टे व्वपति । द्वादश  
मासाः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं दधाति ॥ १६ ॥

स वै कृष्टे व्वपति । तस्मात् कृष्टेऽन्नं पच्यते  
यत् कृष्टेऽएव व्वपेन्नाकृष्टे कृष्टेऽएवान्नं पच्येत ना-  
कृष्टेऽथ यदकृष्टेऽएव व्वपेन्न कृष्टेऽकृष्टेऽएवान्नं  
पच्येत न कृष्टे कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति तस्मात्  
कृष्टे चान्नं पच्यते ॥ १७ ॥

तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्वपति । त्रिवृ-  
द्ग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मिन्नेतदन्नं  
दधाति ॥ १८ ॥

यद्वेव सञ्जीषधं व्यपति । एतद्वा ऽएनं देवाः  
संस्करिष्यन्तः पुरस्तात् सर्वेण भेषजिनाभिषज्य-  
स्तुयैवैन मयु मेतत् संस्करिष्यन् पुरस्तात् सर्वेण  
भेषजिन भिषज्यति ॥ १९ ॥

सञ्जीषधं भवति । सर्व्व मेतद् भेषजं यत्  
सञ्जीषध् सर्व्वेणैवैन मेतद् भेषजिन भिष-  
ज्यति ॥ २० ॥

तिसृभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्व्वपति । त्रिवृदग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद् भिष-  
ज्यति ॥ २१ ॥

द्वादशभिर्ऋग्भिः कृष्टे व्यपति । द्वादश मासाः  
सञ्चत्सरः सञ्चत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद् भिषज्यति ॥ २२ ॥

स वै कृष्टे व्यपति । प्राणांस्तुद्धिषज्यति स  
यत् कृष्ट ऽएव व्यपेन्नाकृष्टे प्राणानेव भिषज्यन्ने-  
तर मात्मान मयु यदकृष्ट ऽएव व्यपेन्न कृष्ट ऽआत्मान  
मेव भिषज्येन्न प्राणान् कृष्टेचाकृष्टे च व्यपति  
प्राणांश्च तदात्मानं च भिषज्यति ॥ २३ ॥

तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे च व्यपति । त्रिवृ-  
दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद्  
भिषज्यति ॥ २४ ॥

पञ्चदशोदचमसान्निनयति । पञ्चदशभिर्ऋग्भि-  
र्व्वपति तत्त्रिंशत्त्रिंशदक्षरा द्विराद्विराड् कृत्स्न  
मन्त्रं सर्व्व मेवास्मिन्नेतत् कृत्स्नमन्त्रं दधाति ॥ २५ ॥

या औषधीः पूर्वा जाताः । देवेभ्यस्त्रियुगं  
पुरेत्यृतवो वै देवास्तेभ्य ऽएतास्त्रिः पुरा नायन्ते  
व्वसन्ता प्राहुषि शरदि मुनै नु बभूणा मह मिति  
सोमो वै बभुः सौम्या ऽऔषधय औषधः पुरुषः  
शतं धामानीति यदिद्ं शतायुः शतार्धः शत-  
वीर्य्य ऽएतानि हास्य तानि शतं धामानि सप्त  
चेति यु ऽएवेमे सप्त शीर्षङ्ग्राणास्तानेतदाह ॥ २६ ॥

शतं वो ऽअम्ब धामानि । सहस्रं मुत वो  
रुह इति यदिद्ं शतधा च सहस्रधा च विरूढा  
अधा शतक्रत्वो यूय मिमं मे ऽअगदं कृतेति यु मिमं  
भिषज्यामीत्येतत् \* ॥ २७ ॥

ता एता एकव्याख्यानाः । एत मेवाभि यथैत  
मेव भिषज्येदेतं पारयेत्ता अनुष्टुभो भवन्ति व्याग्वा  
ऽअनुष्टुप् व्यागु सर्व्वं भेषजं सर्व्वेणैवैन मेतद् भेष-  
जेन भिषज्यति ॥ २८ ॥

अथातो निरुक्तानिरुक्ताना मेव\* । यजुषा द्वावन-  
द्वाहौ युनक्ति तूष्णीं मितरान्यजुषा चतस्रः सीताः  
कृषति तूष्णीं मितरास्तूष्णीं दर्भस्तम्ब मुपदधाति  
यजुषाभिजुहोति तूष्णीं मुदचमसान्निनयति यजुषा  
व्वपति ॥ २९ ॥

प्रजापतिरेषोऽग्निः । उभयमेतत् प्रजापति-  
निरुक्तश्चानिरुक्तश्च परिमितश्चापरिमितश्च तद्यद्य-  
जुषा करोति यदेवास्य निरुक्तं परिमितं रूपं  
तदस्य तेन संस्करोत्यथ यत्तूष्णीं यदेवास्यानिरुक्तं  
मुपरिमितं रूपं तदस्य तेन संस्करोति स ह वा  
ऽएतं सर्व्वं कृत्स्नं प्रजापतिं संस्करोति य एवं  
व्विद्वानेतदेवं करोति बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि  
भवन्त्यन्तराण्यनिरुक्तानि पशुरेष यदग्निस्तस्मात्

पशोर्बाह्यानि रूपाणि निरुक्तानि भवन्त्यन्तराण्य-  
निरुक्तानि ॥ ३० ॥ २ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [२, ४.] ॥

अथ कृष्टे चेत्रे कर्षणक्रमेणोदचमसकरणक मपान्नियनं  
विधत्ते— “अथोदचमसान्नियतीति । उदकपूर्णाचमसा उद-  
चमसास्तानासिञ्चेदित्यर्थः । “एतद्वै देवा इत्याद्यसकृद् गतम् \* ।  
“वृष्टि मेवेति । वर्षणरूपां चिति मित्यर्थः ॥ १ ॥

उदकनिनयने चमसकरणतां विधाय वृष्ट्यात्मना स्तूति—  
“उदचमसा भवन्तीति । ‘वृष्टिरापः खलु’ अपां वृष्टिजन्म-  
त्वात् । चमसस्य उदुम्बरविकारत्वं विधत्ते— “औदुम्बरेणेति ।  
“तस्योक्त इति । उदुम्बरविकारत्वस्यार्थवादः । “तदेतत् सर्वं मन्त्रं  
यदुदुम्बरः, सर्वे वनस्पतय इत्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चित  
इत्यर्थः † । चमसस्य चतुष्कोणत्वं विधाय प्रशंसति—चतुःस्रस्ति-  
नेति । “सर्वाभ्य इति । चतसृभ्योऽपि दिग्भ्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

चतसृषु चतसृषु सीतासु त्रयाणां त्रयाणा मुदचमसानां निनयनं  
विधाय प्रशंसति — “त्रींस्त्रीनिति ‡ । “नित्यवीक्ष्योः”—इति §  
द्विर्वचनम् । “त्रिवृदग्निरित्याद्यसकृदुक्तार्थम् ॥ ३ ॥

\* पुरस्तादिहैव १२३ पृ० दृश्यम् ।

† इ अ० ३ ब्रा० ३ क० (६ भा० १३८ पृ०) ।

‡ का० औ० सू० १७. ३, ३ ।

§ पा० सू० ८. १. ४ ।

॥ इहैव १५० ४ ब्रा० १५ कण्ठीयाख्या दृश्यते (११८ पृ०) ।

कष्टप्रदेशे द्वादशभिरुदचमसैर्निनयनं विधाय स्तौति—  
“द्वादशोदचमसानिति । “द्वादशमासा इत्यादेः स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

तस्योदकनिनयनस्य कष्टवेत्ताधिकरणत्वं मनूय स्तौति—  
“स वै कष्टे इति । यस्मात् कष्टप्रदेशे उदकनिनयनं क्रियते,  
तस्मादेव कारणाज्ञोके ‘कष्टाय’ कर्षणसंस्कारसंस्कृताय भूमिभा-  
गार्थे ‘वर्षति’ वृष्टिर्भवति । “स यत् कष्ट एवेत्यादिना कष्टा-  
कष्टस्थले उदकनिनयनायैकैकत्र निनयननिन्दा प्रतिपाद्यते ;  
अर्थस्तु निगदसिद्धः ॥ ५ ॥

कष्टाकृष्टात्मके यदुदकनिनयनं विहितम्, तत् करणचमसाना  
मपि त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तौति— “त्रौन् कृष्टे चेति \* । “त्रिह-  
दग्निरित्याद्यसकृद् गतम् ॥ ६ ॥

उत्तेऽर्थे पुराहस्य मवतारयति— “यद्देवेत्यादिना । ‘पुर-  
स्तात्’ चयनात् प्रागेव ‘अपः’ उदकानि स्थापितवन्तः । शिष्टं  
स्पष्टम् ॥ ७ ॥

त्रौस्त्रीनित्यादि । पूर्ववद् व्याख्येयम् † ॥ ८ ॥

द्वादशोदचमसानित्यादि च ॥ ९ ॥

कष्टप्रदेशे उदकनिनयनस्य प्राणाधिकरणनिनयनरूपता माह  
—“स वै कष्ट इति । कष्टाकृष्टयोर्भयत्रोदकनिनयने प्राणशब्दा-  
भिधेयेषु चक्षुरादिषु तदाश्रयभूते ‘आत्मनि’ शरीरे चापां निनयनं  
कृतं भवतीत्ययं स यत् कृष्ट एवेत्यादेस्तात्पर्यार्थः ‡ ॥ १० ॥

कृष्टाकृष्टयोर्दकनिनयनचमसगतं त्रित्वं मनूय तस्याप्यपां

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. ४ ।

† इहत्या तृतीयकण्ठीटीप्पनी इत्यत्र ( १४० पृ० ‘॥’ ) ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. ५ ।



निधानहेतुता माह— “त्रिन् कृष्टे चेति । अर्थस्तु पूर्ववत् ॥ ११ ॥

पृथग्विहिता सुदचमससङ्गां सन्भूय प्रशंसति—“पञ्चदशोदचम-  
सानिति । “पञ्चदशो वै वज्र इति । पञ्चदशस्तोमस्येन्द्रस्य च  
सह प्रजापतिबाहुसकाशादुत्पत्तेरिन्द्रसम्बन्धी वज्रोऽपि पञ्च-  
दशस्तोमात्मकः \* , तादृशेनैतेन वज्रेणास्य यजमानस्य सर्वं मपि  
पाप्मानं अपहृतवान् भवति ॥ १२ ॥

अथ प्रकृत औदुम्बरचमसे सर्वधान्यावापं विधत्ते—“अथ  
सर्वौषधं वपतीति । अन्नमेव धान्यरूपा मेव चिति मित्यर्थः ।  
गतमन्यत् ॥ १३ ॥

सर्वत्र मनूय स्तूति—“सर्वौषधं भवतीति । ओषधीनां  
समूहः औषधम् । “तस्य समूहः”—इत्यण् ११ । ओषधयश्चान्न ग्राम्या-  
रण्यादिबीजात्मिका द्रष्टव्याः ‡ । यत्सर्वौषधम् , एतत् सर्वं निरव-  
शेष मन्नम् । “सर्वं मेवेति । ‘एतत्’ एतेन सर्वौषधावापेन ‘अस्मिन्’  
अग्नीं सर्वं मेवान्नं निहितवान् भवति । तत्रोप्तानां प्रकृतानां  
मन्त्रानां मध्ये एकस्य ओषधिरूपस्य बीजस्य वर्जनं विधत्ते—“तेषां  
मेकमिति । ‘तेषाम्’ ओषधिविकाराणां मन्त्रानां मध्ये ‘एक  
मन्नमुद्धरेत्’ पृथक् कुर्यात् , न आवपेदित्यर्थः । तत्र च धर्मविशेषं  
विधत्ते—“तस्य नाश्रीयादिति । ‘तस्य’ उद्धृतस्यान्नस्य ‘यावज्जीव’  
नाश्रीयात् । अतएवोक्तं कात्यायनेन—“तस्मिन्सर्वौषधमाव-  
पत्येकवर्जं मभोजनं तस्योच्छासात्”—इति § ।

\* तै० सं० ७. १. १. ४. द्रष्टव्यम् ।

† पा० सू० ४. २. ३७ ।

‡ तै० सं० ५. ४. ६. १ द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. ६. ७ ।

उदकनिनयन इव बीजावपनेऽपि चतुरश्र मीदुम्बरं चमसं करण-  
त्वेन विधत्ते—“अमीदुम्बरेण चमसेनेति । व्याख्यातं प्राक् चैतत् \* ।  
“सर्वाभ्य एवास्मिन्नित्यादि । ‘सर्वाभ्यः’ प्राच्यादिभ्यश्चतसृभ्यो दिग्भ्यः  
सकाशात् ‘एतेन’ चतुःस्रक्तिचमसकरणकेन बीजावपेन ‘अस्मिन्’  
अग्नौ ‘अन्नं’ ‘दधाति’ स्थापयति । बीजावपनं मन्त्राणां कन्दोदारेण  
प्रशंसति—“अनुष्टुप्भिरिति । “या ओषधीरित्याद्याः † अनुष्टुप्-  
कन्दस्कास्ताभिर्वपेदित्यर्थः । “वाग्वा अनुष्टुप्”—इत्यादि । सा तु  
“चतुरत्तराणि कन्दांस्यसृजत”—इतिश्रुतेः सर्वच्छन्दोरूपत्वादनुष्टुभो  
वाक्तव्यः ‡ अन्नं मपि वाचैवाद्यमानं मित्यन्नात्मकस्यौषधिविवापस्य  
वाक्शान्तुतानुष्टुप्करणकत्वं युक्तं मिति भावः ॥ १४ ॥

पञ्चदशमको ह्यनुवाकस्तत्र सर्वत्र क्रमेण तृचैरेवौषधिविवापः  
कर्तव्य इति विधाय त्रित्वसङ्ख्यां प्रशंसति—“तिसृभिस्तिसृभि-  
रिति § । “नित्यवौषयोः”—इति ॥ द्विर्वचनम् । “त्रिष्टदग्नि-  
रित्यादि व्याख्यातम् ¶ ॥ १५ ॥

कष्टप्रदेशे द्वादशभिर्ऋग्भिर्वपनं विधाय स्तौति—“द्वादशभि-  
रिति । चतसृषु सीतास्वेकैकस्यां तिसृभिर्वपने सति द्वादशर्षः  
सम्पद्यन्ते, सैव द्वादशसङ्ख्या चानूद्य स्तूयते । निगदसिद्ध  
मन्यत् ॥ १६ ॥

\* इहत्वेव द्वितीयकण्ठीव्याख्या द्रष्टव्या ( १४० पृ० ) ।

† वा० खं० १२. ७५—८६ ।

‡ शत० ब्रा० ३ का० १ प्र० ४ ब्रा० २१—२३ क० ( ३ भा० ४८, ४९ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्री० १७. ३. ८ ।

॥ पा० खं० ८. १. ४ ।

¶ द्वितीयकण्ठीटीप्पनी ( १४० पृ० ‘॥’ ) द्रष्टव्या ।

तस्य बीजावापस्य कृष्टक्षेत्राधिकरणत्वं मनूय स्तौति—  
 “स वै कृष्ट इति । यस्मात् कृष्टप्रदेशे बीजावापः क्रियते, तस्मा-  
 देव कारणात् लोके कृष्टकर्षणसंस्कारसंस्कृते भूमिभागे व्रीहि-  
 यवादिलक्षणम् ‘अन्नं पच्यते’ फलमिति । “यत् कृष्ट एवेत्या-  
 दिना कृष्टाकृष्टक्षेत्रे वपनायैकैकत्र बीजावापनिन्दा प्रतिपाद्यते ।  
 निगदसिद्धोऽर्थः । कृष्टाकृष्टात्मके यद्बीजावपनं विहितम्, तत्  
 करणमन्वाणा मपि ॥ १७ ॥

त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य स्तौति— “तिसृभिः कृष्टे चेति ॥ १८ ॥

एव मन्त्रचितिरूपेण बीजावापं संस्कृत्य भेषजरूपेणापि स्तौति  
 — “यद्देवेत्यादिना । पुराहृतकथनम् । सर्वा ह्योषधयो यावदन्न-  
 मूलफलकन्दादिरूपेण भेषजानि भवन्ति, तथा सति सर्वोषधि-  
 सम्बन्धिबीजावपनेन सर्वेणैव भेषजेन ‘देवाः’ ‘एनम्’ अग्निम् ‘अभि-  
 षज्यन्’ अचिकित्सन् । “भिषज चिकित्सायाम्”—इति धातुः \* ।  
 तद्वद् अयं यजमानोऽपि ‘एनम्’ अग्निं ‘संस्करिष्यन्’ ततः प्रागेव  
 सर्वोषधिबीजावापेन सर्वेणैव भेषजेन ‘भिषज्यति’ चिकित्सति ।  
 यथा करिष्यमाणश्चयनसंस्कारो वितथो न भवेत्, तथैनं भिषज्ये-  
 दित्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वत्वं मनूय स्तौति— “सर्वोषधं भवतीति । पूर्ववद्  
 व्याख्येयम् ॥ २० ॥

तच्चकरणकं बीजावपनं मनूयैतदपि भेषजहेतुत्वेन स्तौति—  
 “तिसृभिर्ऋग्भिरिति ॥ २१ ॥

चतसृषु सीतासु करणमन्त्राणां द्वादशसङ्ख्या मनुद्य भेषज  
हेतुत्वेन स्तीति— द्वादशभिर्ऋग्भिरिति ॥ २२ ॥

कृष्टप्रदेशे वपनस्य प्राणभेषज्यरूपता माह— “स यत्  
कृष्ट एवेत्यादि । अकृष्टप्रदेशस्य शरीरस्य च साम्यं गर्त्तराहित्यं  
कृष्टाकृष्टयोरुभयत्र बीजावापेन प्राणशब्दाभिधेयांश्चक्षुरादीन्,  
तदाश्रयभूतम् ‘आत्मानं’ शरीरम्, एतेन भिषज्येदित्यर्थः ॥ २३ ॥

बीजवपने च \* मन्त्रगतं त्रित्व मनुद्य, तस्यापि भेषजहेतुता  
माह— “तिसृभिः कृष्टे चाकृष्टे चेति ॥ २४ ॥

उदचमससङ्ख्यां बीजावापमन्त्रसङ्ख्यां चानूद्य सम्भूय प्रशं-  
सति— “पञ्चदशोदचमसानिति । “त्रिंशदक्षरा विराडिति ।  
द्वाभ्या मक्षराभ्या मनुष्टुभो न्यूनत्वात् त्रिंशदक्षरा ऋक् विराट्-  
कन्दस्का भवति । “जनाधिकेनैकेन निचृद्गुरिजौ, द्वाभ्यां विराट्-  
स्त्रराजौ”—इति † हि तल्लक्षणम् । सा च ‘विराट्’ ‘कृत्स्न मन्त्रम्’;  
भूरूपा हि तादृशी विराट् । अत एव श्रूयते— “इयं वै विरा-  
डिति ‡ । सा च स्वेप्सितव्रीहियवादिसर्वधान्योत्पत्तिहेतुत्वात्  
सर्वाक्षररूपा । तथा च विराट्सम्पत्त्या ‘अस्मिन्’ अग्निचेत्वे ‘सर्व  
मेवान्नम् एतत्’ ‘कृत्स्नं’ निरवशेषं ‘दधाति’ स्थापयति ॥ २५ ॥

अथ बीजावापमन्त्रपदानां मनुवादपूर्वकं मभिप्रायं व्याचष्टे—  
“या ओषधीरित्यादिना § । देवेभ्यस्त्रियुगं पुरेत्यस्य मन्त्रभागस्या-  
भिप्राय माह—“ऋतवो वै देवा इति । ‘याः’ ‘ओषधीः’ ओषधयः

\* “कृष्टाकृष्टबीजवपने च”— इति छ ।

† पि० सू० ४ खण्डे, ऋ० प्रा० ४ पटले, का० सर्वांशु० १ कण्ड्यां च दृश्यम् ।

‡ शत० ब्रा० १ का० ४ प्र० ३ ब्रा० २० क० (१ भा० ३४६ पृ०) दृश्यम् ।

§ वा० सं० १२. ७५—८६ ।

सृष्ट्यादावुत्पन्नास्ताः 'देवेभ्यः' ऋतुभ्यो वसन्तादिभ्यः 'पुरा' पूर्वं वसन्तप्राङ्मृशरदा मादिषु संवत्सरमध्ये 'त्रियुगं' त्रिकालं जायन्त इत्यर्थः ॥

उत्तरार्द्धं मनूय व्याचष्टे— "मनै नु बभ्रूणा मिति । असृतरूपेण सर्वेषां भरणात् 'बभ्रुः' सोमः, ओषधयोऽपि सोमदेवताकत्वात् । तदत्र बभ्रुशब्दाभिधेयास्तादृगोषधिपरिणामविशेष एव 'पुरुषः' मनुष्यशरीर मिति तत्तादात्म्यम् । अयं मर्थः,— 'बभ्रूणां' सौम्यानां ओषधीनां सम्बन्धानि वक्ष्यमाणानि, 'अहं' 'नु' अद्य 'मनै' मन्ये जानामि । कानि पुनस्तानि मन्त्रयानीत्याशङ्क्य चतुर्थपादं व्याचष्टे— "शतं धामानीतीति । ओषधिपरिणामस्य पुरुषस्य शरीरस्य यदिदं शतसंवत्सरं जीवनम्, एवं शतसङ्ख्याका अर्थाः प्रयोजनानि, यानि च तन्निष्पादकानि शतसङ्ख्याकानि वीर्याणि सामर्थ्यानि, 'एतानि' खल्वस्य ओषधिविकारस्य शरीरस्य 'तानि' मन्त्रोक्तानि शतसङ्ख्याकानि 'धामानि' । धामशब्दस्य त्रयोऽर्थाः यास्केनोक्ताः,— "धामानि त्रयाणि भवन्ति,— स्थानानि, नामानि, जन्मानीति \* । "सप्त चेति । 'य एवेमे' 'सप्त' सप्तसङ्ख्याकाः 'शीर्षन्' शीर्ष्णं सम्बद्धाश्चक्षुःश्रोत्रादिरूपाः 'प्राणाः' सप्त चेत्येतत्, तानिव 'प्राणान्' प्रतिपादयतीत्यर्थः । उदीरितलक्षणानि शतसङ्ख्याकानि धामानि, सप्तशीर्षणान् प्राणांश्च ओषधीनां सम्बन्धित्वेन जानामीत्यन्वयः ॥ २६ ॥

द्वितीयस्या ऋचः पूर्वार्द्धं मनूय व्याचष्टे— "शतं वो अस्मेति ।

‘इदम्’ इदानीं ‘शतधा’ शतप्रकारेण ‘सहस्रधा’ सहस्रप्रकारेण च ‘विरुद्धाः’ ‘उत्पन्नाः’ ओषधयो दृश्यन्त इति ‘यत्’, ‘एतत्’ एतेनार्धैर्चेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । ‘अम्ब’ हे मातः ! ओषधयः ‘वः’ युष्माकं ‘धामानि’ स्थानानि ‘शतं’ शतसङ्ख्याकानि । ‘उत’-शब्दोऽप्यर्थः । तथा ‘वः’ युष्माकं ‘रुहः’ प्ररोहाः अङ्गुरा अपि ‘सहस्रं’ सहस्रसङ्ख्याका इति ।

द्वितीयाहं मनूय तात्पर्यं माह— “अथा शतक्रत्व इति । ‘अध’-शब्दो हेतौ । हे ‘शतक्रत्वः’ शतकर्माण ओषधयः ! ‘यूयं’ मदीयम् ‘इमं’ पुरुषं ‘अगदं’ व्याधिरहितं ‘कृत’ कुरुत । ‘यम्’ इमम् आतुर मिदानीम् अहं ‘भिषज्यामि’, त मेव कुरुतेत्येतदस्य वाक्यस्य तात्पर्यं मित्यर्थः । “भिषज् चिकित्साया मिति धातुः \* कण्ठादिः ॥ २७ ॥

एव सृद्दयं व्याख्याय उत्तरासा मध्येव मेव व्याख्यान मित्यतिदिशति— “ता एता एकव्याख्याना इति । ‘ता एताः’ बोजावपनार्था ऋचः ‘एकव्याख्यानाः’ समानव्याख्यानाः , अतो न पृथक्तया व्याख्यायन्त इत्यर्थः ॥

अतिदिष्टं व्याख्यानं योजयति— “एत मेवाभीति । “इमं मे अगदं कृतेति । योऽयं पुरुषोऽनुक्रान्तः , एत मेवाभिलक्ष्य उत्तरा ऋचोऽप्यान्नाताः , तासाञ्चायं तात्पर्यगम्योऽर्थः,— ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘एत मेव’ पुरुषं चिकित्सको ‘भिषज्येत्’ भेषजैर्युक्तं कुर्यात् , तेन च भैषज्येन ‘एतं’ व्याधिग्रस्तं ‘पारयेत्’ पार मारोग्यं प्रापयेत् , हे ओषधयः ! तथा कुरुतेति शेषः ॥

तासां ऋन्दोदारेण भेषजहेतुता माह— “ता अनुष्टुभो भवन्तीति । “वागु सर्व भेषज मिति । वाक् खलु सर्व भेषजम् ; तदेतुत्वात् । एवं सति ‘एनं’ पुरुषविधं चेष्यमाण मग्निं ‘एतत्’ एतेनानुष्टुप्छन्दसः प्रयोगेण ‘सर्वेणैव भेषजेन’ ‘भिषज्यति’ भेषजं कृतवान् भवतोत्यर्थः ॥ २८ ॥

अथ विहिताना मनडुद्योजनादीना मोषधिवापान्तानां कर्मणां समन्वकामन्वकत्वं सम्भूय स्तौति— “अथातो निरुक्ता-  
निरुक्ताना मेवेति \* । ‘अथ’ अनन्तरं यतः समन्वकामन्वक-  
भेदेन द्विविधानि विहितानि कर्माणि , अतः कारणात् तेषां  
‘निरुक्तानिरुक्तानां’ समन्वकामन्वकाणां विहिताना मेव कर्मणां  
स्तुतिः क्रियत इति शेषः । निरुक्तानिरुक्तानि कर्माणि क्रमे-  
णानुक्रामति— ‘यजुषा’ मन्वेण “सीरा युञ्जन्ति”—इत्यादिकेन †  
‘द्वी धुर्यावनङ्गाहौ युनक्ति’ , ‘इतरान्’ अनडुहोऽग्रे बध्यमानान्  
तूष्णीं युनक्ति । तथा ‘चतस्रः सीताः’ पुरुषो मन्वेण ‘क्षपति’ ।  
‘इतराः’ द्वादश सीताः ‘तूष्णीं’ क्षपति । तूष्णीं दर्भस्तम्ब मित्याद्येवं  
व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

एवं निरुक्तानिरुक्तभेदेन विहितानि कर्माण्यनूद्य चित्याग्नि-  
रूपस्य प्रजपतेरपि निरुक्तानिरुक्तात्मना परिमितापरिमिता-  
त्मना च हेरूप्य माह— “प्रजापतिरेषोऽग्निरिति । ‘यः’ अयं  
मग्निः ‘एषः’ एव ‘प्रजापतिः’ । यदेतन्निरुक्तानिरुक्तात्मकं सुभय-  
विधं जगत् , असावेव स प्रजापतिः । अतो निरुक्तानिरुक्तजग-  
त्तादात्म्यात् प्रजापतिरपि ‘निरुक्तश्च’ ईदृगाकार इति निःशेषे-

\* का० श्रौ० १७. २. ११ ।

† वा सं० १२. ६७, ६८ ।

णोक्तञ्च , अनिरुक्तः तद्विपरीतः 'च' अत एव 'परिमितः' परि-  
च्छिन्नश्च , 'अपरिमितश्च' अपरिच्छिन्नश्च भवति ॥

इत्थं प्रजापतिरूपस्यापि निरुक्तानिरुक्तभेदेन द्वैविध्यं मुक्त्वा ,  
समन्वयेन निरुक्तनानुद्योजनादिकर्मणा निरुक्तभागस्य , इतरेणे-  
तरभागस्य च संस्कारं विभज्य योजयति--“तद्यद्यजुषा करोतीत्या-  
दिना । विहृदनुष्ठानं प्रशंसति--“स ह वा इति । 'कृत्स्नं' सर्वावयव-  
सहितम् , 'सर्वं' निरवशेषम् ; अतो न पौनरुक्त्यम् । बाह्याभ्यन्तर-  
भावेन निरुक्तानिरुक्तधर्मयोगात् चित्याग्नेः पशुरूपता मापाद्य  
स्तीति --“बाह्यानि रूपाणोति । यान्येतानि निरुक्तानि कर्माण्यनु-  
क्रान्तानि , तान्यग्नेः 'बाह्यानि रूपाणि' । अनिरुक्तानि 'अन्तराणि'  
अभ्यन्तरवर्त्तीनि भवन्ति । ईदृशो यदयं मग्निः , एषः 'पशुः'  
एव , 'तस्मात्' एव कारणात् लोके 'पशोः' 'बाह्यानि' बहिरवस्थि-  
तानि 'रूपाणि' रोमादीनि 'निरुक्तानि' , 'अन्तराणि' असृगादीनि  
'अनिरुक्तानि' च दृश्यन्ते ॥ ३० ॥ २ [ २. ४. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयाध्याये चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थान्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,

सप्ताब्दीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।



रत्नोत्सां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
 व्यश्राणोद्विश्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
 आञ्ज्योत्थं प्राञ्ज्यजन्मा लवणज मृगः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

( अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथमं ब्राह्मणम् . )

चितो गार्हपत्यो भवति \* । अचित आहवनीयो-  
ऽथ राजानं क्रीणात्ययं वै लोको गार्हपत्यो द्यौरा-  
हवनीयोऽथ योऽयं व्यायुः पवत ऽएष सोम एतं  
तदिमौ लोकावन्तरेण दधाति तस्मादेषु इमौ  
लोकावन्तरेण पत्रते ॥ १ ॥

यदेव चिते गार्हपत्ये † । अचित ऽआहवनीये ‡-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्निः प्राणः सोम  
आत्मन्तत् प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादय मात्मन्  
प्राणो मध्यतः ॥ २ ॥

यदेव चिते गार्हपत्ये § । अचित ऽआहवनीये-  
ऽथ राजानं क्रीणात्यात्मा वा ऽअग्नी रसः सोम  
आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादय मान्त मेवात्मा  
रसेनानुषक्तः ॥ ३ ॥

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, § 'गार्हपत्ये'—इति क, ख ।

‡ 'आहवनीये'—इति ख ।

राजानं क्रीत्वा पर्युह्य \* । अथात्मा ऽऽतिथ्यु<sup>१</sup>  
 हविर्निर्व्वपति तस्य हविष्कृता व्याचं विसृजते ऽथ  
 वा ऽएतद्वृत्तिषजत्यध्वरकर्म चाग्निकर्म च कर्मणः  
 समानतायै समानं मिदं कर्मासदिति ॥ ४ ॥

यदेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्निः प्राणो  
 ऽध्वर आत्मानं प्राणं मध्यतो दधाति तस्मादयं  
 मात्मा प्राणो मध्यतः † ॥ ५ ॥

यदेव व्यतिषजति । आत्मा वा ऽअग्नौ रसो  
 ऽध्वर आत्मानं तद्रसेनानुषजति तस्मादयं मानं मेवा-  
 त्मा रसेनानुषक्तो ऽथाहवनीयस्यार्द्धं मैति ॥ ६ ॥

तद्वैके । उभयद्वैव पलाशशाखया व्युद्धन्त्यु-  
 भयत्र वै चिनोतीति न तथा कुर्यादवस्यति व्याव  
 गार्हपत्येनोर्द्ध्वं एवाहनीयेन रोहति तस्मात्तथा न  
 कुर्यात् ॥ ७ ॥

अथ गार्हपत्यं ऽएवोषान्निवपति ‡ । नाहवनीयेऽयं

\* पर्युह्यः—इति ख । 'पर्युह्य'—इति ग, घ ।

† 'मध्यतः'—इति ग, घ ।

‡ 'निवपति'—इति ग, घ ।

वै लोको गार्हपत्यः पशुव ऊषा अस्मिंस्तुल्लोके पशुन्  
दधाति तस्मादिमेऽस्मिंस्तुल्लोके पशवः \* ॥ ८ ॥

अथाहवनीय एव पुष्करपर्णं सुपदधाति । न  
गार्हपत्य एवापो वै पुष्करपर्णं द्यौराहवनीयो दिवि  
तदपो दधात्युभयत्र सिकता निवपति रेतो वै  
सिकता उभयत्र वै व्विक्रियते तस्माद्रेतसोऽधि  
व्विक्रियाता इति ॥ ९ ॥

ता नाना मन्त्राभ्यां निवपति । मनुष्यलोको  
वै गार्हपत्यो देवलोके आहवनीयो नानो वा एत-  
द्यद्वैर्व च मानुषं च द्राघीयसा मन्त्रेणाहवनीये नि-  
वपति ऋसीयसा गार्हपत्ये द्राघीयो हि देवायुषं  
ऋसीयो मनुष्यायुषं स पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्ह-  
पत्ये सिकता निवपति रेतो वै सिकता अस्मा-  
द्रेतसोऽधीमा व्विक्रियान्ता इति ॥ १० ॥

तदाहुः । यद्योनिः परिश्रितो रेतः सिकता  
अथ पूर्वाः परिश्रिद्भ्यो गार्हपत्ये सिकता निव-  
पति कथं मस्यैतद्रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवती-

\* 'पशवः'—इति क । 'पशवः'—इति ग, घ ।

त्युल्लवं वा ऽजुषास्तद्यदूषान् पूर्व्वान्निवपत्येतेनो हास्यै-  
तदुल्लवेन रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवत्यथाहव-  
नीये परिश्रितो ऽभिमन्वयते तस्योक्तो बभ्रुरथ सि-  
कता निवपति रेतो वै सिकता एतयो ऽभस्यै-  
तद्योन्या रेतोऽपरासित्तं परिगृहीतं भवति\* ॥ ११ ॥

अथाहवनीय ऽएवाप्यानवतीभ्या † मभिमृशति ।  
न गार्हपत्येऽयं वै लोको गार्हपत्यः स्वर्गो लोको  
आहवनीयोऽहो वा ऽभय मस्मिंल्लोके जातो यजमानः  
स्वर्गं ऽएव लोके प्रजिजनयिषितव्यस्तद्यदाहवनीय  
ऽएवाप्यानवतीभ्या ‡ मभिमृशति न गार्हपत्ये स्वर्गं  
ऽएवैनं तल्लोके प्रजनयति § ॥ १२ ॥

अथ लोकेष्टका ॥ उपदधाति । इमे वै लोका  
एषो ऽग्निर्दिशो लोकेष्टका ॥ एषु तल्लोकेषु दिशो  
दधाति तस्मादिमा एषु लोकेषु दिशः ॥ १३ ॥

बाह्येनाग्नि माहरति । आप्ता वा ऽभस्य ता

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

†, ‡ 'एवाप्यानवतीभ्याम्'—इति सायणसम्मत इति डा० वेबरः ।

§ 'प्रजनयति'—इति ग, घ ।

॥ 'लोकेष्टका'—इति सा०-सम्मतः पाठ इति डा० वेबरः ।

दिशो या एषु लोकेष्वथ या इमांल्लोकान् पुरेण  
दिशस्ता अस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १४ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्तो वा ऽअस्य  
ता दिशो या अस्या मथ या इमां पुरेण दिशस्ता  
अस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १५ ॥

यद्देव लोकेष्टक्का उपद्वधाति । प्रजापतेर्व्विस्व-  
स्तस्य सूर्वा दिशो रसोऽनु व्यचरत् तं युत्र देवाः  
समस्कुर्व्वस्तदस्मिन्नेताभिर्लोकेष्टक्काभिस्तं रस मदधु-  
स्तथैवास्मिन्नय मेतद्वधाति ॥ १६ ॥

बाह्येनाग्नि माहरति । आप्तो वा ऽअस्य स  
रसो य एषु लोकेष्वथ य इमांल्लोकान् पराङ्मुखो-  
ऽत्यचरत्त मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १७ ॥

बहिर्व्वेदेरियं वै व्वेदिः । आप्तो वा ऽअस्य  
स रसो योऽस्या मथ य इमां पराङ्मुखोऽत्यचरत्त  
मस्मिन्नेतद्वधाति ॥ १८ ॥

स्फ्येनाहरति । व्वृजो वै स्फ्रो व्वीर्ये वै व्वृजो  
व्वित्तिरियं व्वीर्येण वै व्वित्तिं व्विन्दते ॥ १९ ॥

स पुरस्तादाहरति । मा मा हिंसीज्जनिता यः

पृथिव्या इति प्रजापतिर्वै पृथिव्यै जनिता मा मा  
 ह्विंसीत् प्रजापतिरित्येतद्यो वा दिवः सत्यधर्मा  
 व्यानडिति यो वा दिवः सत्यधर्मासृजतेत्येतद्व्या-  
 पश्चन्द्राः प्रथमो जजानेति मनुष्या वा ऽपश्चन्द्रा  
 यो मनुष्यान् प्रथमो ऽसृजतेत्येतत् कस्मै देवाय  
 हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्मै हविषा  
 विधेमेत्येतत् ता माहृत्यान्तरेण परिश्रित आत्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्राच्यां दिशि रसोऽत्यक्षरत् त  
 मस्मिन्नेतद्वधाल्यथो प्राची मेवास्मिन्नेतद्विशं दधाति\*  
 ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतः । अभ्यावर्त्तस्व पृथिवि यज्ञेन  
 पयसा सहेति यथैव यजुस्तथा बभ्रुर्व्वपां ते ऽअग्नि-  
 रिषितो ऽअरोहदिति यद्वै किं चास्याः सास्यै  
 व्वपा ता मग्निरिषित उपादीसो रोहति ता माह-  
 र्त्यान्तरेण पक्षसन्धि माव्यन्न उपदधाति स यो दक्षि-  
 णायां दिशि रसो ऽत्यक्षरत् मस्मिन्नेतद्वधाल्यथो  
 दक्षिणा मेवास्मिन्नेतद्विशं दधाति † ॥ २१ ॥

\* , † 'दधाति'—इति ग, घ ।

अथ पश्चात् \* । अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्  
 पूतं यच्च यज्ञिय मित्तीयं वा ऽअग्निरस्यै तदाह  
 तद्देवेभ्यो भरामसीति तदस्मै देवाय कर्मणे  
 हराम इत्येतत्ता माहृत्यान्तरेण पुच्छसन्धि मात्मन्नु-  
 पदधाति स यः प्रतीच्यां दिशि रसोऽत्यचरत् त  
 मस्मिन्नेतदध्यायथो प्रतीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति  
 स न सम्प्रति पश्चादाहरेन्नेद्यज्ञपथाद्रस माहुराणी-  
 तीत इवाहरति † ॥ २२ ॥

अथोत्तरतः ‡ । इष मूर्जं मह मित आद मित्ती-  
 ष मूर्जं मह मित आदद ऽइत्येतदृतस्य योनि मिति  
 सत्यं वा ऽऋतु सत्यस्य योनि मित्येतन् महिषस्य  
 धारा मित्यग्निर्वै महिषः स हीदं जातो महान्त-  
 सृज्व मैष्णादा मा गोषु विश्वा तनूष्वित्यात्मा वै  
 तनूरा मा गोषु चात्मनि च विश्वित्येतज्जुहामि  
 सेदि मुनिरा ममीवा मिति सिक्ताः प्रह्वंसयति

\* 'पश्चात्' इति ग, घ ।

† 'इवाहरति'—इति ग, घ ।

‡ 'अथोत्तरतः'—इति ग, घ ।



तद्यैव सिदिर्यानिरा यामीवा ता मेतस्यां दिशि  
 दधाति तस्मादेतस्यां दिशि प्रजा अशनायुकास्ता  
 माहृत्यान्तरेण पक्षसन्धि मात्मन्नुपदधाति स य  
 उद्दीच्यां दिशि रसो ऽत्युत्तरत् मस्मिन्नेतद्दधात्यथो  
 ऽउद्दीची मेवास्मिन्नेतद्दिशं दधाति ॥ २३ ॥

ता एता दिशः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतस्तद्दिशो दधाति तस्मात् सर्व्वतो दिशः  
 सर्व्वतः समीचीः \* सर्व्वतस्तत् समीचीर्दिशो दधाति  
 तस्मात् सर्व्वतः समीच्यो दिशस्ता नानोपदधाति  
 नाना सादयति नाना सूददोहसाधिवदति नाना  
 हि दिशस्तिष्ठन्नुपदधाति तिष्ठन्तीव हि दिशोऽथो  
 तिष्ठन्वै व्यीर्य्यवत्तरः ॥ २४ ॥

ता एता यजुष्मत्य द्रष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
 वोपदधाति न पक्षपुच्छेष्वात्मन् ह्यैव यजुष्मत्य द्रष्टका  
 उपधीयन्ते न पक्षपुच्छेषु ॥ २५ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पक्ताः श्रुता उपहिता  
 भवन्तीति रसो वा ऽएताः स्वयं श्रुत उ वै रसो-

ऽथो यद्वै किं चैत मग्निं व्यैश्वानरं मुपनि-  
गच्छति तत् एव तत् पक्वं शृतं मुपहितं  
भवति \* ॥ २६ ॥

अथोत्तरव्येदिं निवपति । इयं वै व्येदि-  
द्यौरुत्तरवेदिर्दिशो लोकेष्टकास्तद्यदन्तरेण व्येदिं  
चोत्तरवेदिं च लोकेष्टका उपदधातीमौ तल्लोका-  
वन्तरेण दिशो दधाति तस्मादिमौ लोकावन्त-  
रेण दिशस्तां युगमात्रीं वा सर्व्वतः करोति च-  
त्वारिंशत्पदां वा यतरथा कामयेताय सिकता  
निवपति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २७ ॥

ता उत्तरवेदौ निवपति । योनिर्व्यां ऽउत्तर-  
वेदिर्योनौ तद्रेतः सिञ्चति यद्वै योनौ रेतः सिञ्चते  
तत्प्रजनिष्णु भवति ताभिः सर्व्वं मात्मानं प्रच्छा-  
दयति सर्व्वं स्मिंस्तदात्मन्नेतो दधाति तस्मात् सर्व्व-  
स्मादेवात्मनो रेतः सम्भवति † ॥ २८ ॥

अग्ने तव श्रवो व्यय इति । धूमो वा ऽअस्य

\* 'भवति'—इति ग, घ ।

† 'सम्भवति'—इति क, 'सम्भवति'—इति ख ।

श्रुवो व्ययः स ह्येन ममुष्मिंस्लोके श्रावयति मृष्टि  
 भ्राजन्ते अर्च्यो विभावसविति महतो भ्राजन्ते-  
 ऽर्च्यः प्रभूवसवित्येतद् बृहन्नानो श्रवसा व्याज  
 मुक्थ्य मिति बलं वै श्रुवो बृहन्नानो बलेनान्न  
 मुक्थ्य मित्येतद्धासि दाशुषे कव ऽद्विति यज-  
 मानो वै दाश्वान्धासि यजमानाय कव ऽद्वत्ये-  
 तत् ॥ २९ ॥

पावकवर्चाः शुक्रवर्चा इति । पावकवर्चा  
 ह्येष शुक्रवर्चा अनूनवर्चा उदियर्षि मानुनेत्य-  
 नूनवर्चा उद्वीप्यसे मानुनेत्येतत् पुत्रो मातरा  
 विचरन्नुपावसीति पुत्रो ह्येष मातरा विचरन्नु-  
 पावति पृणक्ति रोदसी ऽउभे ऽद्वतौमे वै द्यावा-  
 पृथिवी रोदसी ते ऽएष उभे पृणक्ति धूमेनामूं  
 वृष्ट्येमाम् \* ॥ ३० ॥

ऊर्ज्जीनपाज्जातवेदः सुशस्तिभिरिति † । ऊर्ज्जी-  
 नपाज्जातवेदः सुष्टुतिभिरित्येतन् मन्दस्व धीतिभि-

\* 'वृष्ट्येमाम्'—इति ग, घ ।

† 'सुशस्तिभिरिति'—इति क, 'सुष्टुतिभिरिति'—इति ग, घ ।

र्हित इति दीप्यस्व धीतिभिर्हित इत्येतत्त्वे ऽदुषः  
सुन्दधुर्भूरिवर्षस इति त्वे ऽदुषः सुन्दधुर्बहुवर्षस #  
इत्येतच्चितोतयो व्वामजाता इति यथैव यजु-  
स्तथा वन्धुः ॥ ३१ ॥

इरण्यन्नने प्रथयस्व जन्तुभिरिति । मनुष्या  
वै जन्तवो दीप्यमानो ऽने प्रथस्व मनुष्यैरित्येत-  
दस्मै रायो ऽअमर्त्येयस्मै रयिं दधदमर्त्येत्येतत् स  
दर्शतस्य व्वपुषो व्विराजसीति दर्शतस्य ह्येष व्वपुषो  
व्विराजंति पृणञ्चि सानसिं क्रतु मिति पृणञ्चि  
सनातनं क्रतु मित्येतत् ॥ ३२ ॥

इष्कर्त्तारमङ्गुरस्य प्रचेतस मिति । अङ्गुरो वै  
यज्ञः प्रकल्पयितारं यज्ञस्य प्रचेतस मित्येतत्  
क्षयन्त् राधसो मह इति क्षयन्त् राधसिं  
महतीत्येतद्रातिं व्वामस्य सुभगां मही मिष मिति  
रातिं व्वामस्य सुभगां महती मिष मित्येतद्दधासि  
सानसिं रयि मिति दधासि सनातनं रयि-  
मित्येतत् ॥ ३३ ॥

\* 'सुन्दधुर्बहुवर्षस'—इति च डष्टं डा० वेवरमहोदयेन ।

ऋतावान् मिति । सत्यावान् मित्येतन् म-  
हिष मित्यग्निर्वै महिषो विश्वदर्शत मिति विश्व-  
दर्शतो ह्येषोऽग्निः सुम्नाय दधिरे पुरो जुना  
इति यज्ञो वै सुम्नं यज्ञाय वा ऽएतं पुरो  
दधते श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा  
युगेत्याश्रयवुन्त् सप्रथस्तमं त्वा गिरा देवं मनुष्या  
इवामह ऽद्व्येतत् \* ॥ ३४ ॥

स एषोऽग्निरेव वैश्वानरः । एतत् षडृच  
मारम्भाग्रैवेमाः सिकता न्युप्यन्तेऽग्नि मेवास्मिन्ने-  
तद्वैश्वानरः रेतो भूतः सिञ्चति षडृचेन षडृतवः  
संवत्सरः संवत्सरो वैश्वानरः † ॥ ३५ ॥

तदाहुः । यद्रेतः सिकता उच्यन्ते कि मा-  
साः रेतो रूप मिति ‡ शुक्ता इति ब्रूयाच्छुक्ताः  
हि रेतोऽयो पृश्नय इति पृश्नीव हि रेतः ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यदार्द्रं रेतः शुष्काः सिकता

\* 'ऽद्व्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'वैश्वानरः'—इति ग, घ ।

‡ 'रेतो रूप मिति'—इति क, ख ।

निवृपति कथं मस्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्तीति  
 रसो वै कृन्दाऽस्यार्द्र उ वै रसस्तद्यदेनाश्चुन्दो-  
 भिर्निवृपत्येव मु हास्यैता आर्द्रा रेतोरूपं भवन्ति  
 ॥ ३७ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्राभ्या मुप-  
 हिता भवन्तीति । द्वे वा अहोरात्रे शुक्लं च कृष्णं  
 च द्वे सिकते शुक्ला च कृष्णा चैव मु हास्यैता  
 अहोरात्राभ्या मुपहिता भवन्ति ॥ ३८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैता अहोरात्रैः सम्पन्ना  
 अन्यूना अनतिरिक्ता उपहिता भवन्तीत्यनन्तानि  
 वा ऽअहोरात्राण्यनन्ताः सिकता एव मु हास्यैता  
 अहोरात्रैः सम्पन्ना अन्यूना अनतिरिक्ता उपहिता  
 भवन्त्यथ कस्मात् समुद्रियं कृन्द इत्यनन्तो वै स-  
 मुद्रोऽनन्ताः सिकतास्तुत् समुद्रियं कृन्दः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैताः पृथङ् नाना यजुर्भि-  
 रुपहिता भवन्तीति मनो वै यजुस्तदिदं मनो  
 यजुः सर्वाः सिकता अनुविभवत्येव मु हास्यैताः  
 पृथङ् नाना यजुर्भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४० ॥

तदाहुः । कथं मच्छैताः सर्व्वेऽक्षुन्दोभिरुप-  
हिता भवन्तीति यदेवैना एतेन षडृचेन निवपति  
यावन्ति हि सप्तानां कुन्दसा मन्त्राणि तावन्त्ये-  
तस्य षडृचस्यान्तराण्येषु हास्यैताः सर्व्वेऽक्षुन्दो-  
भिरुपहिता भवन्ति ॥ ४१ ॥

यदेव सिकता निवपति । प्रजापतिरेषोऽग्निः  
सर्व्वं मु ब्रह्म प्रजापतिसृष्टैतद् ब्राह्मण उत्सन्ने \*  
यत् सिकता अथ यदनुत्सन्नं मिदं तद्योऽयं मग्नि-  
श्चीयते तद्यत् सिकता निवपति यदेव तद् ब्राह्मण †  
उत्सन्नं तदस्मिन्नेतत्प्रतिदधाति ता असङ्ख्याता  
अपरिमिता निवपति को हि तद्देव यावत् तद्  
ब्राह्मण ‡ उत्सन्नं स ह वा ऽएतत् सर्व्वं कृत्स्नं  
प्रजापतिः संस्करोति य एवं विद्वान्सिकता  
निवपति ॥ ४२ ॥

तदाहुः § । कैतासा मुसङ्ख्यातानां सृष्टेति  
हे ऽहुति ब्रूयाद् हे हि सिकते शुक्ला च कृष्णा चाथो

\* , † , ‡ 'ब्राह्मण'—इति क , ख ।

§ 'तदाहुः'—इति ग , घ ।

सप्तविंशतिशतानीति ब्रूयादेतावन्ति हि संवत्स-  
रस्याहोरात्राण्यथो हे दापञ्चाशे शते ऽव्युत्थेतावन्ति  
ह्येतस्य षड्विंशत्याक्षराण्यथो पञ्चविंशतिरिति पञ्च-  
विंशत् हि रेतः ॥ ४३ ॥

ता एता यजुष्मत्य वृष्टकाः । ता आत्मन्ने-  
वोपदधाति न पञ्चपुच्छेष्वात्मन् ह्येव यजुष्मत्य वृष्ट-  
का उपधीयन्ते न पञ्चपुच्छेषु न सादयति नेद्रेतः  
प्रजातिम् \* स्थापयानीति † ॥ ४४ ॥

अथैना आप्यानवतीभ्या मभिमृशति । इदं  
मेवैतद्रेतः सिक्तं माप्याययति तस्माद्योनौ रेतः  
सिक्तं माप्यायते सौमीभ्यां प्राणो वै सोमः प्राणं  
तद्रेतसि दधाति तस्माद्रेतः सिक्तं प्राणं मभि-  
सम्भवति पुयेह यद्वते प्राणात् सम्भवेदेषो ह्यैवात्र ‡  
सूददोहाः प्राणो वै सोमः प्राणः सूददोहाः  
॥ ४५ ॥

\* 'प्रजनयति'—इति क ।

† 'स्थापयानीति'—इति ग, घ ।

‡ 'देवां ह्यैवात्र'—इति च ङ इ० वेवरमहोदयेन ।



आप्यायस्व समेतु ते । विश्वतः सोम  
 वृष्णा मिति रेतो वै वृष्णा आप्यायस्व स मेतु  
 ते सर्वतः सोम रेत इत्येतद् भवा व्वाजस्य सङ्गथ  
 ऽइत्यन्ने वै व्वाजो भवान्नस्य सङ्गथ ऽइत्येतत् सं  
 ते पयांसि स मु यन्ति व्वाजा इति रसो वै  
 पयोऽन्ने व्वाजाः सं ते रसाः स मु यन्त्वन्नानीत्ये-  
 तत्सं वृष्णान्यभि मातिषाह इति स रेतोऽ-  
 सि पाप्मसह इत्येतदाप्यायमानो ऽअमृताय सो-  
 मेति प्रजात्यां तदमृतं दधाति तस्मात् प्रजाति-  
 रुमृता दिवि श्रवांस्तुतमानि धिष्वेति चन्द्रमा  
 वा ऽअस्य दिवि श्रव उत्तमं स ह्येन ममुष्मिंल्लोके  
 श्रावयति हाभ्या आप्याययति गायत्र्या च त्रिष्टुभा  
 च तस्योक्तो बभूवुः ॥ ४६ ॥

अथातः सम्पदेव \* । चतस्रो लोकेष्टका उप-  
 दधाति षड्रचेन निवपति हाभ्या आप्याययति  
 तद् द्वादश द्वादश मासाः संवत्सरः संवत्सरो-

\* 'सम्पदेव'— इति ग, घ ।

ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावत् तद् भव-  
ति ॥ ४७ ॥ ३ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके तृतीयं ब्राह्मणम् [३. १.]

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्वर्षमे , त महं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अथ साग्निचित्ये क्रतौ सोमक्रयणस्य कालं विधाय स्तौति—  
“चितो गार्हपत्य इति । गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्यकाले  
चोदकप्राप्तः सोमक्रयः कर्त्तव्य इत्यर्थः । सोमस्य गार्हपत्या-  
हवनीययोर्मध्येऽवस्थानं लोकत्रयरूपेणोपपादयति— “अयं वै  
लोक इति । भूलोकस्वर्लोकः कात्मकी गार्हपत्याहवनीयी । ‘यो-  
ऽयं वायुः पवते’, ‘एषः’ एव क्रियमाणः ‘सोमः’; तत्-  
क्रयस्य गार्हपत्यचयनादुर्ध्वं माहवनीयचयनात् पूर्वं मेतस्मिन्  
समयेऽनुष्ठानात् । ‘एतं’ सोमात्मकं वायुं ‘इमौ लोकावन्तरेण’  
अनयोर्लोकयोर्मध्ये ‘दधाति’ स्थापयति । “अन्तरान्तरेणेति \*  
द्वितीया । यस्मादेवं वायुसंस्तुतः सोमो मध्ये क्रियते , तस्मा-  
देव दृश्यमानो ‘वायुः’ ‘इमौ लोकी’ भूलोकस्वर्लोकौ ‘अन्तरेण’  
‘पवते’ परिवर्त्तते ॥ १ ॥

इत्थं सोमक्रयस्य मध्येऽनुष्ठानं मधिलोकं सुत्वा अध्यात्म  
मपि स्तौति— “यद्वेवेति । “आत्मा वा अग्निरिति । गार्ह-

पत्याहवनीयचित्वात्मकः 'अग्निः' 'आत्मा' विस्तृतावयवस्य प्रजा-  
पतिः शरीरम् । तन्मध्यवर्ती प्राणवायुः 'सोमः' ; अतस्तस्य  
गार्हपत्याहवनीयचयनयोर्मध्ये क्रियमाणत्वात् 'आत्मन्' आत्मनि  
शरीरे 'प्राण मेव मध्यतो दधाति' धारयति । 'तस्मात्' एव  
कारणात् पञ्चवृत्त्यात्मकः 'अयम् प्राणः' सर्वप्राणिनां 'आत्मन्'  
आत्मनि शरीरे 'मध्यतः' दृश्यते ॥ २ ॥

राजक्रथस्य मध्येऽनुष्ठानं मनूय कृत्स्नशरीरे रसानुषङ्गहेतुत्वेनापि  
स्तीति — "यद्देवेति । "रसः सोम इति । अभिषवादिसंस्कृतो  
हि सोमः सुत्यादिवसे रसात्मको भवति ; शरीरसंस्तुतयोर्गार्हपत्या-  
हवनीयनयोर्मध्ये रसात्मकस्य तस्यानुप्रवेशात् । 'आत्मानं' शरीरम्  
आध्यायनहेतुना 'रसेन' 'अनुषजति' अनुषक्तं मनुस्मृतं करोति ।  
'तस्मात्' एव कारणात् 'अयं मात्मा' देहः 'आन्तं' शिरःप्रभृति  
पादपर्यन्तं 'रसेन' 'अनुषक्तः' व्याप्तो दृश्यते ॥ ३ ॥

आतिथ्यहविष्कृदन्ते आहवनीयचितिसंस्कारं विधिक्षुः, ततः  
प्राक्तनं चोदकाप्राप्तं प्रयोगजातं मनुक्रामति — "राजानं क्रीत्वेति ।  
क्रयानन्तरम्, क्रीतस्य परिवहणं कृत्वापि अनन्तरम्, 'अस्मै'  
सोमाय 'आतिथ्यं' पूजार्हं 'हविः' प्रकृतिवत् 'निर्वपति' ; 'तस्य'  
कर्मणः सत्त्वमिना 'हविष्कृता' "हविष्कृदेहोति मन्त्रेण \* प्राङ्-  
नियमितां 'वाचं' 'विस्मृजते' † । अस्मिन् समये आहवनीयचिति-  
संस्कारं विधित्सुस्तदुपोद्घातत्वेन सौमिकाग्निकयोः कर्मणोः  
परस्परं व्यतिषङ्गं विधत्ते — "अथ वा इति । 'अथ' खलु 'एतत्'  
एवं कुर्वन्नुद्भूयः 'व्यतिषजति' व्यतिषक्तं परस्परं सङ्गतं

\* वा० सं० १. १५ ३ ।

† शत० ब्रा० १. १. ४. ११ (१ भा० ७४ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

करोति । “अग्नौ सङ्गे \*”—इत्यस्मात्तु “दंशसञ्जस्वस्त्रां शपि”—  
इत्यनुनासिकलोपः † । किन्तुदिति तदाह—“अध्वरेति । व्यति-  
षङ्गस्य प्रयोजनमाह—“कर्मण इति । सौमिकाम्निकभेदेन द्विवि-  
धस्य कर्मणः ‘समानतायै’ एकोभवनार्थम् । ननु व्यतिषङ्गमात्रात्  
कथं मनयोरेक्यसिद्धिः, तत्राह—“समानमिदमिति । ‘इदम्’  
अनुष्ठेयमानं सौमिकमाम्निकं च ‘कर्म’ ‘समानम्’ एकम्  
‘असत्’ भवेत् ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण तदुभयं व्यतिषजति;  
न खलु व्यतिषङ्गमन्तरेणानयोरेक्यसिद्धिरिति भावः ॥ ४ ॥

एतद्व्यतिषजनमनूय्य स्वीति—“यदेवेति । “प्राणोऽहुर इति ।  
‘अहुरः’ सोमयागः प्राणस्थानीयः, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘मध्यतः’  
मध्ये ‘तत्’ ‘प्राणं’ स्थापयति । ‘तस्मादयं प्राणः’ शरीरमध्ये  
वर्तत इति शेषः ॥

तथा—“रसोऽहुर इति । ‘अहुरः’ सोमयागो रसस्था-  
नीयः; सर्वप्रकृतित्वात् । गतमन्यत् । वाग्विसर्जनानन्तरमाह-  
वनीयसमीपदेशगमनं विधत्ते—“अथाहवनीयस्यार्धं मैतीति ।  
अर्धशब्दो देशवाचो । ‘आहवनीयस्य’ अग्नेः यत् स्थानं कर्ष-  
णादिसंस्कारसंस्कृतं हविष्कृदाह्वानानन्तरम्, तत् स्थानमाग-  
च्छेदित्यर्थः ॥ ५ ॥ ६ ॥

गार्हपत्यस्थानवदाहवनीयस्थानस्यापि पलाशशाखया व्यू-  
हनं मेकीयमतेनोपन्यस्य दूषयति—“तद्वैक इति ‡ । ‘तत्’  
तत्र उभयत्रैव, गार्हपत्ये आहवनीये च ‘एके’ शाखिनः ‘पलाश-

\* आ० ब्रा० ६८७ धा० ।

† पा० सू० ६. ४. २५ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. १. ३ ।

शाखया व्यूह्नं कुर्वन्ति । 'उभयत्र' खलु 'चिनोति' इति तत्र हेतुः । व्यूह्नस्य चयनार्थत्वात् आहवनीयचितावपि तत् कर्त्तव्यमित्यर्थः ।

तदेतन्निराकरोति— “न तथेति । प्रतिज्ञातं मर्थं सुप-  
पादयति— “अवस्यति वाषेति । गार्हपत्यचयनेन हि यं प्रदेशं  
मव्यवस्यति अव्यवसानसमये भूशोधनार्थं व्यूह्नमपेक्षितम् ;  
अथ पुनरारोहणसमये आहवनीयचयनेनाप्यूहः सन्नारोहति ,  
'तस्मात्' 'तत्र' कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

गार्हपत्यचितिवत् प्रसक्तं मूषाणां निवपनं मपि तत्रैव  
कर्त्तव्यमिति निगमयति— “अथ गार्हपत्य एवेति । एव-  
कारव्यवच्छेदं माह— “आहवनीये इति । अत्र हेतुमाह—  
“अयं वै लोक इति । भूरितिव्याहृत्या आहितत्वाद् गार्ह-  
पत्यो भूलोकात्मकः ; “भूरिति गार्हपत्यमादधाति”—इति हि  
ब्राह्मणम् । जघरप्रदेशस्य पशुभिल्लेख्यमानत्वात् जघाणां पश्वा-  
त्मकत्वम् ॥ ८ ॥

अथाहवनीये प्रतिनियतं विधास्यमानं पुष्करपर्णीपधानं  
मनूय प्रतिनियतफलप्रतिपादनेन स्तौति— “अथाहवनीय  
एवेति । अवधारणफलमाह— “न गार्हपत्य इति । अत्र हेतु  
माह— “आपो वा इति । पुष्करपर्णस्याप्सु जननात् तदवात्मक  
मित्यर्थः । “क्षीराहवनीय इति । सुवरिति व्याहृत्या आहित-  
त्वाद् आहवनीयो दुलोकात्मकः । 'तत्' तत्र पुष्करपर्णीपधानेन  
दुलोके 'अपः' उदकानि दृष्ट्युपादानत्वेन स्थापयतीत्यर्थः ॥

गार्हपत्यवदाहवनीयेऽपि सिकतानिवपनं कर्त्तव्यमिति  
विधत्ते— “उभयत्रेति । तदेतदुपपादयति— “रतो वा इति ।

सितभास्वरत्वादिरूपसाम्यात् सिकतानां रेतस्वम्, 'उभयत्र' गार्हपत्यस्थाने आहवनीयस्थाने च चितिरूपेण चित्योऽग्निः 'विक्रियते' विशिष्टरूपवान् क्रियते । विक्रियमाणश्चासौ 'तस्मात्' सिकतालक्षणात् 'रेतसः' 'अधि' उपरि 'विक्रियाते' विक्रियेत, विक्रितिं भजेत । 'इति' अनेनाभिप्रायेण उभयत्र सिकतानां निवपनम् ॥ ८ ॥

उभयत्र मन्त्रभेदं विधाय स्वीति — “ता नाना मन्त्राभ्या मिति । ‘ताः’ सिकताः भिन्नमन्त्राभ्या मित्यर्थः । “अग्नेर्भस्मासीति \* हि मन्त्रेण गार्हपत्ये सिकतानिवपनं विहितम् †; “अग्ने तव श्रवो वय ‡ इत्याहवनीये सिकतानिवपनस्य मन्त्रो विधास्यते § । एवं नानामन्त्रत्व मनुष्य स्तूयते— गार्हपत्याहवनीययोर्भूलोकस्वर्लोककात्मकत्वं क्रमेण प्रतिपादितम्, “नानो वा एतदिति । ‘दैवं’ देवसम्बन्धि, ‘मानुषं’ मनुष्यसम्बन्धि च यदेतत् स्थानद्वयम्, तदेतन्नानैव खलु विभिन्नं मेव । मन्त्रं दैर्घ्य-ऋसत्त्वाभ्यां स्वीति — “द्राघीयसेति । “अग्ने तव श्रव इति मन्त्रः, “अग्नेर्भस्मासीति मन्त्रापेक्षया ‘द्राघीयान्’ अतिशयेन दीर्घः; तेन ‘मन्त्रेण’ आहवनीये सिकता निवपति । ‘ऋसीयसा’ ऋस्यतरेण ‘अग्नेर्भस्मासीति मन्त्रेण । मन्त्रगतं द्राघीयस्त्वं ऋसीयत्वं च प्रतिपादयति — “द्राघीयो होति । दीर्घतमं हि ‘देवायुषं’ देवाना मायुर्जीवितम्, ‘ऋसीयः’ ऋस्यतमं स्वल्पं हि

\* वा० सं० १२. ४६. २ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ४, २१८० ) दृश्यम् । ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ पुरस्तादिहैव ६ कण्डिकायां ( १५६ ८० ) दृश्यम् ।

‘मनुष्यायुषं’ मनुष्यजीवितम् ; अतो देवलोकमनुष्यलोकसंस्तु-  
तयोर्राहवनीयगार्हपत्ययोस्तादृङ् मन्त्रसम्बन्धो युक्त इत्यर्थः ॥

गार्हपत्यचयने सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वभावित्व  
मनूय स्तौति — “स पूर्वा इति । तथा निवयने कारण  
माह — “रेतो वै सिकता इति । ‘अस्मात्’ सिकतारूपात्  
‘रेतसः’ ‘अधि’ उपरि ‘इमाः’ परिश्रितो ‘विक्रियान्तै’ विशिष्ट-  
रूपाः कृता भवेयुः । अन्यथा हि निरुपादानत्वात् परिश्रितां  
विक्रिया ऽ स्यादिति भावः ॥ १० ॥

सिकतानिवपनस्य परिश्रितां पूर्वत्वे दोषं दर्शयति —  
“तदाहुरिति । ‘तत्’ तत्र विषये ‘आहुः’ चोदयन्ति ब्रह्म-  
वादिनः । योनौ हि रेतः सिच्यते , परिश्रितश्च योनिसंस्तुताः ;  
तथा सति ‘अस्य’ अग्नेः ‘एतत्’ सिकतारूपं ‘रेतः’ ‘अपरासितं’  
आधारादन्यत्र सिक्तम् ; परिश्रिद्रूपयोन्यभावात् कथं परिगृहीतं  
परिवेष्टितं भवतीत्यस्य चोद्यस्य परिहार माह — “उत्सं वा  
जषा इति । गर्भस्यान्तर्वेष्टनं सुत्सं , तत्संस्तुता जषाः ; तेषां  
पूर्वनिवपनात् तदनन्तरम् न्युप्तं सिकतारूपं ‘रेतः’ ; तेनोत्सेन  
‘अपरासितं’ गर्भाशयादन्यत्र सिक्तं ‘परिगृहीतं’ परिवेष्टितं  
च ‘भवति’ ।

आहवनीयचितौ तु सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रिद्धिः  
परिश्रयणं मभिप्रेत्य तदभिमतम्बणं विधत्ते — “अयाहवनीय इति\* ।  
गार्हपत्यचयनादाहवनीयचितेर्वैलक्षण्यद्योतकः ‘अथ’-शब्दः । आह-  
वनीयचितौ सिकतानिवपनात् पूर्वं परिश्रितस्त्वक्तान् शर्करा-

परपर्यायान् जुद्धपाषाण मभिमन्त्रयते— “चितः स्येति \* मन्त्रेण ।  
सूत्रितं हि—“आह्ववनोयपरिश्रितोऽभिमन्त्रयते चितः स्येतीति† ।  
परिश्रिविधिशेष मर्थवादवाक्यं प्रागान्नातम् ‡— “योनिर्वै परि-  
श्रित्”—इत्यादिक मतिदिशति— “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ परि-  
श्रयणस्य विधिशेष उक्तः ।

सिकतानिवपनं विधाय स्तौति— “अथ सिकतानिवपतीति ।  
‘अथ’ परिश्रयणान्तरम् । “रेतो वा इत्याद्युक्तार्थः § ॥ ११ ॥

न्युमानां सिकतानां समन्त्रक मभिमर्शनं विधत्ते—  
“अथाह्ववनोय इति ॥ । आह्ववनोयस्थाने न्युमाना मेव सिकता-  
नाम् ‘आप्यायनवतोभ्यां’ आप्यायतिधातुनिष्पन्नशब्दयुक्ताभ्याम् ,  
“आप्यायस्वसन्ते ¶”—इत्येताभ्या मृगभ्या मभिमर्शनं कर्त्तव्य  
मित्यर्थः । अवधारणफल माह— “न गार्हपत्य इति । एतदेवो-  
पपादयति — “अयं वा इत्यादिना । ‘अस्मिंस्लोके जातः’ ‘अयम्’  
‘यजमानः’—इत्यय मर्थः । ‘अर्धः’ प्रत्यक्षसिद्धः , न यत्नसम्पाद्यः ।  
‘स्वर्गे लोके एव’ हि ‘प्रजिजनयिषितव्यः’ प्रजनयितुं प्रकर्षणोत्पा-  
दयितु मिष्टः , अतः स्वर्गलोकसंयुते ‘गार्हपत्ये’ तत्र स्वभावत एव  
जातत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

\* वा० सं० १२. ४६. ३ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. ६ ख ।

‡ पुरस्तात् १५३ पृ० १५ पं० दृश्यम् ।

§ पूर्ववेदेव ६-कण्ठीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( १७० पृ० ) ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ३. १६ ।

¶ वा० सं० १२. ११२, ११३ ।



अथ लोकेष्टकानां सुपधानं विधत्ते—“अथेति \* । तदेतत् प्रशंसति—“इमे वै लोका इति । ‘इमे’ खलु पृथिव्यादयस्त्रयो ‘लोकाः’ । ‘एषः’ एव खलु ‘अग्निः’ । लोकसंतुताभिस्त्रिभिः स्वयमात्म्याभिर्युक्तत्वात् लोकत एव सिद्धाः लोष्टरूपा इष्टकाः ‘लोकेष्टकाः’, परोक्षं ‘लोगेष्टका इत्युच्यन्ते † । तथाविधत्वं च तैत्तिरीये आम्नायते—“दिग्भ्यो लोष्टान् समस्यति, दिशा मेव वीर्यं भवत्यर्थः”—इति ‡ लोकसम्बन्धिन्यः प्राच्यादिदिशः ता लोकेष्टकाः । अतस्तदुपधानेन ‘एषु’ एव लोकेषु ता एव ‘दिशः’ स्थापयति । ‘तस्मात्’ एव कारणात् ‘इमाः’ प्राच्यादि-‘दिशः’ ‘एषु लोकेषु’ दृश्यन्ते ॥ १३ ॥

वेदेर्वाह्यदेशेनेष्टकानां माहरणं विधाय स्तौति—“वाह्येनाग्निमिति । अग्निवाह्येन अग्निचेत्त्राह्यदेशेनेता इष्टकाः ‘आहरति’ । “आप्ता वा इत्यादि । ‘अस्य’ अग्नेः यजमानस्य वा ‘ता दिशः’ ‘आप्ताः’ प्राप्ताः । ‘याः’ इमाः ‘एषु’ लोकेषु दृश्यन्ते । ‘अथ’ या ‘दिशः’ ‘इमान् लोकान्’ परेण एभ्यो लोकेभ्यो बहिर्वर्त्तन्ते, ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘एतत्’ एतेन वाह्यदेशादाहरणेन ‘दधाति’ धारयति ॥ १४ ॥

आहरणस्याग्निचेत्त्रापेक्षया बहिर्देशसम्बन्धः, वेद्यपेक्षयापि तथात्वं विधत्ते—“बहिर्वेदेरिति § । अग्नेर्लोकत्रयात्मकत्वात् ततो बहिराहरणम्, लोकत्रयाद् बहिरवस्थितानां दिशा मासिहेतु-

\* का० औ० सू० १७. ३. ११ ।

† ‘लोगेष्टकाः’ मृत्खण्डानि—इति कर्काचार्यः ।

‡ तै० सं० ५. २. ५. २० द्रष्टव्यम् ।

§ का० औ० सू० १७. ३. १२ ।

रित्युक्तम् ; इदानीं तु वेदेर्भूमिरूपत्वात् अस्या बहिरवस्थिताः  
यावत्यो दिशः , तासां प्रात्यये वेदिबाह्यदेशादाहरण मित्यभिप्रे-  
तोऽर्थः । “अथ या इमां परेणिति । ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘परेण’  
परस्ताद् , बहिरित्यर्थः । “एनवन्यतरस्याम्”—इति \* परशब्दा-  
देनप् , “एनपा द्वितीया” † ॥ १५ ॥

विहितं लोकेष्टकोपधान मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति—  
“यद्वेवेति । ‘विस्त्रस्तस्य’ विस्त्रस्तावयवस्येत्यर्थः । ‘सर्वाः’ प्राच्यादि-  
‘दिशः’ अनु लक्ष्य तदीयो ‘रसः’ व्यक्षरत् विविध भक्षरत् , ‘यत्’  
यस्मिन् देशे ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ ‘समस्कुर्वन्’ चित्वा-  
ग्निरूपेण संस्कृतवन्तः । “अडभ्यासव्यवायेऽपीति ‡ कात् पूर्वः  
सुट् तच्च ‘अस्मिन्’ अग्न्यात्मके प्रजापतौ ‘एताभिर्लोकेष्टकाभिः  
तं रसम्’ ‘अदधुः’ स्थापितवन्तः । एव मेव ‘अस्मिन्’ अग्नौ ‘अयं’  
यजमानोऽपि ‘एतद्’ रसं ‘दधाति’ धारयति , लोकेष्टकोपधा-  
नेनेत्यर्थः ॥ १६ ॥

आहरणस्याग्निबाह्यत्व मनूय स्तौति— “बाह्येनेति ।  
पूर्ववदेनप् § , अत एव ‘अग्निम्’ इति द्वितीया ॥ ; अग्नेर्बाह्यदेशे-  
नेत्यर्थः । “आप्तो वा अस्थेत्यादि । “आप्ता वा अस्थ ता दिशं  
इत्यादिवद् ¶ व्याख्येयः । “इमान् लोकान् पराङ् रस इति ।  
‘इमान्’ पृथिव्यादिलोकान् विहाय परागतो रस इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* पा० सू० ५. ३. ३५ ।

† पा० सू० २. ३. ३१ ।

‡ पा० ६. १. १४० सू० १ वा० ।

§ . ॥ इदमेव पूर्वच (\*, †) टीप्पन्यौ द्रष्टव्ये ।

¶ इदमेव पूर्वच १७४ पृ० द्रष्टव्यम् ।

बहिर्वेदेरित्येतदपि अनूद्य पृथिवीसकाशाद् बहिर्भूतरस-  
स्थापनं हेतुत्वेन स्तौति — “बहिर्वेदेरिति । आहरतीति शेषः ।  
एतदपि पूर्ववद् व्याख्यातप्रायम् \* । “इमां पराङ् इति ।  
इमा मतिक्रम्य परागतो रसः इत्यर्थः ॥ १८ ॥

इत्थं लोकेष्टकानां माहुराणि अग्नेर्वेदेष्ट बाह्यो देशो विहितः ,  
अथ तत्र साधनं विधाय स्तौति — “स्फेनेति । “वज्रो वै स्फा  
इति, त्रेधा भग्नस्य वज्रस्यांशत्वात् स्फास्य वज्रात्मकता । तथाहि  
तैत्तिरीयकम् — “इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत् , स त्रेधा व्यभवत् ,  
स्फास्तृतीयं रथस्तृतीयं यूपस्तृतीयमिति † । वृत्रासुरबधहेतुत्वात्  
स वज्रो वीर्यात्मकः । ‘इयं’ वेदिलक्षणा भूमिः ‘वित्तिः’ लब्धव्या  
धनरूपा , तथा च स्फेनाहरन् वज्ररूपेण ‘वीर्येण’ एव ‘वित्ति’  
लब्धव्यां भूमिं ‘विन्दते’ लभते ॥ १९ ॥

अथ पूर्वस्माद्दिग्भागादाहरणं समन्त्रकं विधत्ते — “स पुरस्ता-  
दाहरतीति ‡ । ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्याः दिशः सकाशात्लोकेष्टकां स्फेन  
‘आहरति’ । पञ्चम्यर्थे अस्तातिः § । “मा मा हिंसीदिति ॥ तन्मन्त्रः ।  
‘यः पृथिव्याः’ ‘जनिता’ जनयिता ‘स मां’ ‘मा हिंसीत्’ मा  
वधिष्ट । य इति सर्वनाम्ना कृत्स्नजगत्कारणत्वेन प्रसिद्धः प्रजापति-  
रेव प्रतिपाद्यते इत्याह — “प्रजापतिर्वा इति । ‘पृथिव्यै’-इति  
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ¶ । ‘जनिता’ जनयिता “जनिता मन्त्रे”-

\* इत्थेव पुरस्तात् १५ क० भाष्यं ( १७४ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† तै० मं० ५. २. ६. ४१ ।

‡ का० औ० छ० १७. ३. ११ ।

§ पा० छ० ५. ३. २७ ।

॥ वा० सं १२. १०२ । ¶ पा० छ० २. ३. ६२ छ० १ वा० ।

इति \* । निपातनाट्टिष्ठोपः । उक्तं मर्थं योजयति — “मा मा हिंसीत् प्रजापतिरित्येतदिति ।

द्वितीयपाद मनुष्य तत्र व्यानडिति क्रियापदस्यार्थं माह — “यो वा दिव मिति । ‘सत्यधर्मा’ सत्य मवितथं धर्मं साधारण-  
शक्तिर्यस्य तादृशो ‘यः’ ‘दिवं’ ‘व्यानट्’ व्याप्नोत् । व्यापनं मत्र  
सर्जनं मेवेत्याह — “असृजतेत्येतदिति । “मनुष्या वा इत्यादि ।  
‘चन्द्राः’ आह्लादिकाः, ‘आपः’ रेतोरूपाः । अनेन च कारण-  
वाचिशब्देन कार्यभूता मनुष्या एवोच्यन्त इत्यर्थः । अत एव  
छान्दोग्ये समाम्नातम् — “पञ्चम्या माहुतावापः पुरुषवचसो  
भवन्तीति † । पर्यवसितं मर्थं माह — “मनुष्यान् प्रथम इति ।  
सर्वप्राणिभ्यः पूर्वं सुत्यन्नत्वात् प्रजापतिरेव प्रथमः । अत एवा-  
न्नातम् — “हिरण्यगर्भः समवर्त्तताय इति ‡ ।

चतुर्थपाद मनुष्य तत्र ‘किं’-शब्दस्यार्थं माह — “प्रजापतिर्वै  
क इति । निरुक्तानिरुक्तरूपत्वेनानिर्धारितस्वरूपत्वात् किं-  
शब्दः प्रजापतेर्वाचक इत्यर्थः । एवम्भूतो यः ‘तस्मै देवाय’  
“क्रियाग्रहणं मपि कर्त्तव्य मिति § कर्मणः सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।  
तं देवं ‘हविषा’ ‘विधेम’ परिचरेमेति, विदधातिः परिचरणार्थः ॥

एव माहताया इष्टकायाः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते —  
“ता माहृत्येति । परिश्रितज्ज्ञाना सुपहितानां शर्कराणां  
मध्यन्तरदेशे आत्मनि ता सुपदध्यात् स्थापयेत् । तस्य प्रयोजनं

\* पा० ६. ४. ५३ सू० ।

† छा० उप० ५. ६. १ दृश्यम् ।

‡ वा० सं० १३. ४ ।

§ पा० १. ४. ३२ सू० १ वा० ।

माह— “स य इति । ‘स यः’ प्रसिद्धो यो ‘रसः’ विस्त्रस्तात् प्रजापतिशरीरात् ‘प्राच्यां दिशि’ ‘अत्यक्षरत्’ अतिक्रम्य द्युतोऽभवत्, एतेनोपधानेन, ‘तम्’ एव रसम् ‘अस्मिन्’ प्रजापतिरूपेऽग्नौ पुनः स्थापयति । ‘अथो’ अपि च ‘प्राची’ दिक्स्वन्वात्ता मेव दिशम् ‘अस्मिन्’ स्थापितवान् भवति ॥ २० ॥

दक्षिणस्या दिश आहरणं समन्त्रकं विधत्ते— “अथ दक्षिणत इति । पञ्चम्यर्थं तसिः \* । आहरतीति शेषः । अथ वा पूर्वदिग्भागात् यत् आहरणम्, तदनन्तरं दक्षिणस्या दिशः सकाशात् लोकेष्टका माहरतीत्यर्थः । “अभ्यावर्त्तस्वेति † तन्मन्त्रः । पूर्वाह्नस्य निगदव्याख्यातत्वं माह— “यथैव यजुस्तथा बभ्रुरिति । यजुर्वाक्यं यथैव श्रूयते, तादृगेव तद्व्याख्यायकं ब्राह्मणवाक्यम् ; अतः स्पष्टार्थत्वान्न पृथग् व्याख्यायत इत्यर्थः ।

उत्तरार्धे मनूय तत्र वपाशब्दस्यार्थं माह— “यद्वै किञ्चेति । अस्यां पृथिव्यां यदेव किञ्चिद् वस्तु तरुगुल्मादिकं दृश्यते, सा एव ‘अस्यै’ ‘वपा’ विधेया । सेति नपुंसकलिङ्गार्थो निर्देशः ‡ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी § । अयं मर्थः— हे पृथिवि ! ‘यज्ञेन’ यागसाधनेन ‘पयसा’ पयोलक्षणेन ‘रसेन’ सह अन्नदभिमुखं मावर्त्तस्व । ‘इषितः’ प्रेरितो दीप्तोऽयं मग्निः त्वदीयं तरुगुल्मादिरूपम् ‘आरोहति’ अधितिष्ठति । आहूतायास्तस्याः स्थानविशेषे उपधानं विधत्ते—

\* पा० सू० ५. ३. ७ ।

† वा० सं १२. १०३ ।

‡ ‘सेति पुंलिङ्गनिर्देशः’— इति ऊ-पाठः ।

§ पा० २. ३. ६२ सू० वा० ।

“ता माह्वयेति । ‘तां’ लोकेष्टकां दक्षिणदिग्भागाद्बहिर्वदेः  
‘आह्वत्वं’ ‘पक्षसन्धि मन्तरेण’ दक्षिणपक्षस्य आत्मभागस्य च यः  
सन्धिप्रदेशः, तस्याभ्यन्तरे आत्मभागे स्थापयेदित्यर्थः । अनेनापि  
पूर्ववद्दसंस्थापनं दिक्स्थापनञ्चात्र कृतं भवतोत्याह — “स यो  
दक्षिणाया मिति ॥ २१ ॥

प्रतीच्यां दिशि समन्तकं लोकेष्टकाया आहरणं विधत्ते —  
“अथ पश्वादिति \* । ‘अथ’ अनन्तरं प्रतीच्याः दिशः सकाशात्  
स्फेानं लोकेष्टका माहरतीति शेषः । तच्चान्वः — “अग्ने यत्त  
इति † । अत्राग्निशब्देन तदधिष्ठिता भूमिरेव अग्नेदोषचारे-  
णोच्यत इत्याह — “इयं वा अग्निरिति । ‘अस्यै’ पृथिव्यै ।  
तादर्थ्यं चतुर्थी । पूर्वार्धेन प्रार्थनं पृथिव्यर्थं मित्यर्थः । तृतीय-  
पाद मनुय देवशब्दस्य विवक्षितं मर्थं माह — “तदस्मै देवा-  
येति । एतदग्निचयनाख्यं कर्मैवात्र देवशब्दस्यार्थः । चिति-  
रूपावयवभेदापेक्षया बहुवचन मित्यभिप्रायः ॥

अर्थस्तु — हे पृथिवि ! त्वदीयं यत् ‘शुक्रं’ रसवदङ्गम्, यच्च  
‘चन्द्रम्’ आह्लादकरम्, तथा ‘पूतं’ शुद्धम्, ‘यज्ञियं’ यज्ञार्हञ्च  
यदस्ति, ‘तत्’ ‘अस्मै’ अग्न्याख्याय देवाय ‘कर्मणे’ आहराम  
इति । ‘तां’ लोकेष्टकाम् ‘आह्वत्वं’ इत्यादि पूर्ववत् ‡ । “पुच्छ-  
सन्धि मिति । पक्ष्याकारस्य चित्वाग्नेः पुच्छस्यात्मभागस्य च यः  
सन्धिः, ‘तम्’ अन्तरेण तस्य मध्ये ‘आत्मन्’ आत्मनि । अन्यद्  
गतार्थम् ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

† वा० सं० १२. १०४ ।

‡ एतत्पूर्वकण्वीभाष्यं ( १ प्र० ) द्रष्टव्यम् ।

साक्षात्पश्चादाहरणं निषेधति— “स न सम्प्रतीति । ‘सः’ अद्भ्युः ‘सम्प्रति’ मुख्या या प्रतीची दिक्, तत्सकाशात् ‘नाहरेत्’ । निषेधुरभिप्राय माह— “नेद्यन्नपथादिति । यज्ञस्य पत्न्याः यज्ञपथः, अग्नेः पाश्चात्तो देशो हविर्हो-  
नादिः; ततः सकाशात् नैव \* रस माहुराणीति । यदि खलु तादृग्विधात्साक्षात्पश्चाद्भागादाहरेत्, तर्हि प्रजापतिसम्ब-  
धिनो विस्त्रस्तारसस्याहृतत्वात् तत्र करिष्यमाणो यज्ञो नीरसः  
स्यादित्यभिप्रायः । कथं तर्हि तत्राहरणं मित्यत आह— “इत  
इवेति । ‘इतः’ प्रतीच्या दिश ‘इव’, न तु साक्षात् प्रतीच्या दिशः,  
उत्तरापरस्या दिश आहरेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन—  
“उत्तरापरस्याः पथादिति † ॥ २२ ॥

उत्तरस्या दिश आहरणं विधत्ते— “अथोत्तरत इति ।  
आहरतोति शेषः । “इषं मूर्जं मित्याहरणमन्त्रः ‡ । ‘आदम्’  
—इतिक्रियापदस्यार्थं माह— “आदद इत्येतदिति । मनसा  
यथार्थं सङ्कल्पनम् ‘ऋतम्’, यथार्थभाषणं ‘सत्यम्’ । अत्र तु  
“ऋतस्य योनिम्”—इति § मन्त्रभागे तादृशो भेदो न विवक्षित  
इत्यभिप्रेत्याह— “सत्यं वा ऋत मिति । “महिषस्य धारा  
मिति । महिषशब्दस्यार्थं माह— “अग्निर्वै महिष इति । कथं  
मस्य महिषशब्दमभिधेयतेत्याशङ्क्य तन्निर्ब्रूते—“स होदं जात इति ।  
‘सः’ खल्वग्निः ‘इदम्’ इदानीं ‘जातः’ जातमान एव ‘महान्’

\* ‘नेदु’—इति च पाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. १२ ।

‡ वा० सं० १२. १०५ ।

§ वा० सं० १२. १०५ ख ।

अतिरिक्तो \* भूत्वा 'सर्व' जगत् 'ऐषात्' व्याप्नोत्, अतो महत्त्वा-  
देषित्वाच्च महिषशब्दाभिधेयः सम्पन्न इत्यर्थः । "ऐषात्"—  
इति "इष आभो ऋषे"—इत्यस्मात्तु १ । तृतीयं पाद मनूय तत्र  
तनूशब्दस्यार्थं मभिधाय योजयति— "आ मेति । तनूष्विति  
बहुवचनम् तेन बह्ववयवोपेत आत्मा देह उच्यते । गत मन्यत् ॥

मन्त्रार्थस्तु—'इषम्' इष्यमाण मन्त्रम् । 'जर्ज' बलकरं रसम् ।  
'इतः' अस्या उदोच्या दिशः सकाशादहम् 'आददे' । किंविशि-  
ष्टम् ? 'ऋतस्य' सत्यस्य यथार्थफलस्य यज्ञस्य 'योनिः' कारणम्,  
'महिषस्य' महतोऽग्नेः 'धारां' धाराप्रवाहभूतां तदस्माधिताम् ।  
इदृशी च सा , मा मुद्दिष्य मदीयासु 'गोषु' 'तनूषु' शरीरेषु  
'आविशतु'—इति चतुर्थेन पादेन सम्बन्धः ॥

तस्यां दिशि सिकतानां प्रध्वंसनं विधत्ते— "जहामीति ।  
अत एवोक्तं कात्यायनेन— "उत्तरस्याः सिकताः प्रमार्ष्टि जहामि  
सेदि मिति ‡ ।

मन्त्रस्यार्थं माह— "तद्येवेति । 'तत्' तत्र 'यैव' खलु  
'सेदिः' अवसादापरपर्याया हानिः , या च 'अनिरा' इरा  
अन्नं तदभावरूपा पोडा , 'या' च 'अमोवा' रोगात्मिका ।  
'ताम्' एतस्याम् उत्तरस्यां 'दिशि' एतन्मन्त्रकरणकेन सिकता-  
प्रध्वंसनेन स्थापयति । इरादीनां तत आहृतत्वादिति भावः ।  
एतच्च तत्कार्यदर्शनादवगम्यत इत्याह— "तस्मादिति । यस्माद्  
अवसादादीनि स्थापितानि , तस्मादेतस्या उत्तरस्यां दिशि

\* 'अविवेको'—इति उ , च ।

† ब्रा० प० ५३ धा० ।

‡ का० औ० सू० १७. ३. १३ ।



सर्वाः 'प्रजाः' 'अशनायुकाः' अशनाया अशनेच्छा क्षुधा, तया पीडिता अट्टश्यन्त इत्यर्थः ॥

“ता माहृत्येत्यादि पूर्ववत् \* ॥ २३ ॥

अथैताः सम्भूय प्रशंसति— “ता एता दिश इति । ‘ताः’ प्राच्यादिदिक्षु क्रमेणोपहिताः ‘एताः’ इष्टकाः ‘दिशः’ दिगात्मिकाः, ‘ताः’ सर्वाभ्यो दिग्भ्यः आहृत्य ‘उपदधाति’ । तेन चोपधानेन ‘सर्वतः’ एव ‘दिशः’ ‘दधाति’ स्थापयति । ‘तस्मात्’ एव कारणात् इदानीं सर्वतो दिशो दृश्यन्ते ।

धर्मविशेषं विधाय स्तौति— “सर्वतः समीचीरिति † । सर्वासु दिक्षु ‘समीचीः’ सङ्गतदिगाभिमुख्यं गता उपदधाति, न तु तिर्यक्तेनेत्यर्थः । ‘तत्’ तेन ‘सर्वतः’ दिश एव ‘समीचीः’ अनूचीनायाः स्थापयति । “तस्मादिति फलनिर्देशः । उपधानादौनां पृथगनुष्ठानं विधत्ते— “ता नानोपदधातीति । प्रतीष्टकं समन्त्रकं स्थापनं पृथगेव कर्त्तव्यम्, “तया देवतयेति सादनमपि पृथक्, “ता अस्येति सूददोहसा मन्त्रेणाधिवदनमपि पृथक् । तत्र कारणमाह— “नाना हीति । ‘हि’ यस्मात् ‘दिशः’ परस्परं विभिन्नाः, अतो दिक्संस्तुताना मध्यासां पृथगुपधानादिकं युक्तमित्यर्थः । तस्मिन्नुपधाने स्थितिगुणं विधत्ते— “तिष्ठन्निति । ‘तिष्ठन्’, न तु आसीन इत्यर्थः । “तिष्ठन्तीव हि दिश इति । प्राच्याद्याः ‘दिशः’ अपि ‘हि’ ‘तिष्ठन्तीव’ ऊर्ध्वाकारतया दृश्यमानाः स्थितियुक्ता इव लक्ष्यन्त इत्यर्थः ।

\* २१-कण्ठीभाष्यं ( १७६ पृ०, १ पं० ) दृश्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. १४ ।

‘अथो’ अपि च आसीनात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’ खलु ‘वीर्यवत्तरः’  
अधिकवीर्यवान् । इतोऽपि तिष्ठता उपधेया इत्यर्थः ॥ २४ ॥

अथासां समन्त्रकत्वं मनूय अग्निक्षेत्रस्यात्मभागे एवोपधानं  
प्रतिपादयति— “ता एता इति । “यजुष्य इति । कारण-  
भूतैर्यजुर्मन्त्रैर्युक्ता इत्यर्थः । ‘ताः’ ‘आत्मन्’ आत्मनि आत्मभागे  
एव ‘उपदधाति’ । अवधारणफलमाह— “न पचेति । तत्र  
कारणमाह— “आत्मन् ह्येवेति । आत्मभागे एव हि यजु-  
र्मन्त्रोपधेया वक्ष्यमाणा इष्टका उपधीयन्ते ; अत एवासा  
मुपधानमपि समन्त्रकमित्यात्मन्येवेति नियमद्वयमुपपन्न-  
मित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथेतिरेष्टकावदासां अपणाभावादशृतत्वं माशङ्क्य निरस्यति  
— “तदाहुरिति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘एताः’ लोकेष्टकाः ‘कथं’ केन  
प्रकारेण ‘पक्ताः शृताः’ पाचनसंस्कारसंस्कृताः सुशृताः \* सत्य  
उपहिताः ‘भवन्ति’-इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । ‘रसो वा एताः’-  
इति अस्योत्तरम् । विलसत्तस्य प्रजापतिशरीरस्य रसरूपाः खल्वेता  
इष्टकाः ‘स्वयं शृताः’ खलु , अग्न्यादिपाकानपेक्षः खलु रसः ।  
परिहारान्तरमाह— “अथो इति । ‘अथो’-शब्दः पक्षान्तर-  
द्योतने । एष एव हि चित्योऽग्निः जीव्यो† भूत्वा विश्वनरसम्बन्धी  
वर्त्तते , ‘यत्’ किञ्चिदप्यामद्रव्यम् ‘एतमग्निं वैश्वानरं’ प्राप्नोति ,  
‘तत एव’ तस्मादेव संसर्गात् ‘तत्’ सर्वं ‘पक्वं शृतं’ पाकेन  
संस्कृतं सुशृतं ‘तत्’ तत्र ‘उपहितं भवति’ इत्यर्थः ॥ २६ ॥

\* पदमेतत् छ-पुस्तकमात्रे दृश्यते ।

† ‘भायो’-इति छ-पाठः ।

चोदकप्राप्त सुत्तरवेदिनिवपनं यस्मिन् काले कर्त्तव्य मिति विधत्ते — “अथेति । लोकेष्टकोपधानानन्तर्यं मयशब्दार्थः । एतदुपपादयति — “इयं वा इत्यादिना । ‘इयं’ भूमिरिव महावेदिः, उत्तरवेदिस्तु द्युलोकात्मिका, लोकेष्टकात्मिका दिशः । एवं च वेद्युत्तरवेद्योर्मध्ये लोकेष्टकोपधानं द्यावापृथिव्योर्मध्ये दिशां स्थापनाय भवति । ‘तस्मात्’ कारणादिदानीं मनयोर्लोकयोर्मध्ये दिशोऽलक्ष्यन्त इत्यर्थः । उत्तरवेदेः परिमाणं विधत्ते — “तां युगमात्रो मिति । षडशोऽलक्षुलपरिमितं युगम् ; उक्तं ह्यापस्तम्बेन — “अष्टाशीतिशत मीषातिर्यगक्षत्तुःशतम्, षडशीतिर्युगं वास्येति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु तावन्मात्रा सुत्तरवेदिं कुर्यादित्येकं परिमाणम्, ‘चत्वारिंशत्पदां वेति परिमाणान्तरम् । चत्वारिंशत्पदानि प्रमाणं मस्याः सा तथोक्ता । अनयोः प्रमाणयोर्मध्ये ‘यथा’ येन प्रकारेण ‘कामयेत’ तथा कुर्यादित्यर्थः ॥

सिकतानिवपनं विधत्ते — “अथेति \* । उत्तरवेदिनिवपनानन्तर्यं मयशब्दार्थः । “तस्योक्त इति । ‘तस्य’ सिकतानिवपनस्य स्तावको वाक्यशेषः “अग्नेरेतद् वैश्वानरस्य भस्म यत् सिकताः” — इत्यादिः † प्रागान्नात इत्यर्थः ॥ २७ ॥

तस्य निवपनस्य स्थानविशेषं विधाय स्तौति — “ता उत्तरवेदाविति । अग्निवपनक्षेत्रे युगमात्रोत्थादिलक्षणा योत्तरवेदिर्निर्गुक्ता, तस्यां सिकतां निवपति । “योनिर्वा उत्तरवेदिरिति ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. १३ ।

† पुरस्तात् १ प्र० १ ब्रा० ६ क० ( ७भा० ४४० ) दृष्टव्यम् ।

निखिलयागोत्पत्तिकारणाहवनीयस्थानत्वात् 'उत्तरवेदिः' अपि 'योनिः' ; अत एवाग्निप्रणयनीयास्त्रान्नायते \*—“जर्णावन्तं प्रथमः सीद योनि मिति † । 'तत्' तेन उत्तरवेदौ सिकतानां निवपनेन 'योनौ' एव 'रेतः' सिक्तं भवतीत्यर्थः । 'यत्' खलु 'योनौ' गर्भाशये रेतः 'सिच्यते', 'तत्' 'प्रजनिष्णु' प्रजननशीलम्, उत्पत्तिमद् 'भवति' ॥

अस्यात्मभागस्य ताभिः प्रच्छादनं विधत्ते—“ताभिः सर्व मिति । 'तत्' तेन प्रच्छादनेन 'सर्वस्मिन्नेव' आत्मनि 'रेतः' 'दधाति' स्थापयति । 'तस्मात्' एव कारणात् 'सर्वस्मादेव' हस्तपादादिसर्वावयवसहितात् 'आत्मनः' देहात् 'रेतः' 'सम्भवति' उत्पद्यते । अतएव मन्त्रवर्णः—

“अङ्गादङ्गात् सम्भवसि हृदयादधिजायसे”—इति ‡ ॥ २८ ॥

अस्मिन्निवपने “अग्ने तवेति षडृचं सूक्तं § करणत्वेन विधत्ते—“अग्ने तव अवो वय इतीति ॥ । तत्र अव इति पदस्याभिप्रेतं मर्थं माह—“धूमो वा अस्येति । 'अस्य' अग्नेः 'अवः' श्वणहेतुः वयः स्वरूपं 'धूमो वै' धूमः खलु । एतदुपपादयति—“स ह्येन मिति । 'एनम्' अग्निम् 'अमुष्मिन्' स्वर्गे 'लोके' 'सः' खलु धूमः श्रावयति' प्रख्यापयति ; आकाशि धूमं दृष्ट्वा यागार्थं मग्नय प्राहिता इति द्युलोकवर्त्तिनो देवा बुध्यन्त इत्यर्थः । अतोऽन्त-

\* ऐ० ब्रा० १. ५. २ ।

† ऋ० सं० ६. १५. १६ (ख) ।

‡ सा० वे० म० ब्रा० १ प्र. ५ ख. १६ म ।

§ वा सं० १२. ३०६—१११ ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ३. १५ ।

भाविताख्यार्थात् शृणोतेः आवायस्यनेनेति करणे अपि सति \* प्रत्यये  
अव इति रूपं भवति ।

द्वितीयं पाद मनूय तत्रत्यं पदद्वयं व्याचष्टे— “महि  
भ्राजन्त इति । महत्पातिपदिकस्य अच्छब्दलोपे सति महीति  
सप्तम्यन्तं पदम् । अत्र “सुपां सुलुक्”—इति † व्यत्ययेन षष्ठ्यर्थो  
वर्त्तत इति व्याचष्टे— “महतो भ्राजन्त इति । ‘विभा’-  
शब्दस्य तेजोवाचकत्वं प्रसिद्धम् , अत्र तु भूयस्त्व मेव तेन शब्देन  
विवक्षित मित्याह— “प्रभूवसवित्येतदिति ।

तृतीयपाद मनूय शवसेत्यस्य बल मर्थः , ‘वाज’-शब्दस्य  
चान्न मर्थ इत्याह— “बलं वै शव इति ।

चतुर्थपाद मनूय दाशुष इति पदस्यार्थं माह— “यजमानो  
वै दाश्वानिति । “दाशु दाने”—इत्यस्मात् ‡ कसौ “दाश्वान्  
साज्जान्”—इति § निपातनाद् दत्तवानित्यर्थो भवति । स चात्र  
प्रकरणाद् यजमान एवेत्यभिप्रायः ॥

ऋगर्थस्तु,— हे ‘अग्ने !’ ‘तव’ सम्बन्धी ‘अवः’ धूमः आहुति-  
परिणामरूपत्वाद् ‘वयः’ देवाना मन्त्रम् । हे ‘विभावसो’ प्रभुत-  
धनाग्ने ! ‘महि’ महत्स्त्व ‘अर्चयः’ अर्चीषि ‘भ्राजन्ते’ दीप्यन्ते ।  
किञ्च हे ‘बृहन्नानो’ महादीप्ते ! हे ‘कवे’ क्रान्तदर्शिन् !  
‘शवसा’ बलेन सहितम् ‘उकथ्यम्’ उक्त्यार्हं प्रशस्यं ‘वाजम्’ अत्रं  
‘दाशुषे’ दत्तवते यजमानाय ‘दधासि’ प्रयच्छसीति ॥ २८ ॥

\* “ऋदोरप्”—पा० सू० ३. ३. ५७ ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ आ० उ० ८८२ धा० ।

§ पा० सू० ६. १. १२ ।

॥ वा० सं १२. १०६ ।

द्वितीया नृच मयैव मेव \* पांद्शो व्याचष्टे— “पावकवर्चा इति † । ‘एषः’ अग्निः ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’ शुक्लवर्णतेजस्क इत्येतदुभयं प्रसिद्धम् ; अतो न पृथग् व्याख्येय मिति ‘हि’-शब्दार्थः । उदियर्षीत्यस्यार्थं माह— “उद्दीप्यस इति । अग्निरुद्गमनं नामोर्द्ध्वलनम्, अत उद्दीप्यस इत्यस्मिन्ने पर्यवस्यतीत्यभिप्रायः । तृतीयपादार्थोऽपि प्रसिद्ध इति ‘हि’-शब्देनैव व्याचष्टे— “पुत्रो ह्येष इति । चतुर्थपाद मनूय व्याचष्टे— “इमे वा इति । ‘इमे’ खलु ‘द्यावापृथिव्यौ’ ‘रोदसी’-शब्देन वाच्ये ‡ ‘एषः’ अग्निस्ते ‘उभे’ ‘पृणक्ति’ संयुक्ते करोति । केन किं मिति तदाह— “धूमेनेति । द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्त्तमानोऽयं मग्निः ‘धूमेन’ उद्गच्छता ‘अमूं’ दिवं पृणक्ति ; आहुति-द्वारा जनितया ‘वृद्ध्या’ च ‘इमां’ पृथिवीं संयोजयति ॥

मन्वार्थस्तु— ‘पावकवर्चाः’ शोधकदीप्तिः, ‘शुक्लवर्चाः’ निर्मलदीप्तिः, ‘अनूनवर्चाः’ न्यूनतारहिततेजस्कश्च सन्, हे अग्ने ! त्वं ‘भानुना’ तेजसा ‘उदियर्षि’ उद्गच्छसि, उद्दीप्यसे, द्यावा-पृथिव्योर्मध्ये जातत्वात् तयोः ‘पुत्रः’ भूत्वा ‘मातरौ’ सकल-भूतानां निर्मात्रौ द्यावापृथिव्यौ ‘विचरन् उपावसि’ समीपगतो रक्षसि । यथा लौकिकः पुत्रो मातृसमीपे सञ्चरन् तां रक्षति, तद्वत् । रक्षणप्रकारोऽभिधीयते— ‘उभे’ ‘रोदसी’ द्यावापृथिव्यौ क्रमात् धूमेन वृद्ध्या च ‘पृणक्षि’ संयोजयसि । “पृची सम्पर्के”-इति § धातुः ॥ ३० ॥

\* ‘नृच मनूय ता मेव’-इति ऋ-पाठः ।

† वा० सं० १२. १०७ ।

‡ निघ० ३. ३०. ४ ।

§ रु० प० २५ धा०

तृतीया मृचं व्याचष्टे—“जर्जोर्नपादित्यादिना \* । सुशस्तिभि-  
रिति पदं व्याचष्टे—“सुष्टुतिभिरित्येतदिति । द्वितीयतृतीययोः  
पादयोः ‘मन्दस्व’-‘भूरि’-शब्दावगुवादेन व्याख्यातौ । चतुर्थ-  
पादसु निगदसिद्ध इत्याह—“यथैव यजुरिति ॥

ऋगर्थसु—हे ‘जातवेदः’ जातानां वेदितः ! हे ‘जर्जो-  
नपात्’ बलकरस्य अन्नरसस्य न पातयितः !, पौत्र ! वा,  
‘सुशस्तिभिः’ सुष्टुतिभिः अस्मत्प्रयुक्ताभिः हृष्टो भूत्वा ‘हितः’  
निहितस्त्वं ‘धैतिभिः’ कर्मभिः, प्रभाभिर्वा ‘मन्दस्व’ दीप्यस्व ।  
‘त्वे’ त्वयि खलु ‘इषः’ इष्यमाणान्यन्नानि ‘सन्धुः’ संहितानि  
बभूवुः । इषो विशेष्यन्ते—‘भूरिवर्षसः’-इति । “वर्षः”-इति  
रूपनाम † । बहुरूपाः, ‘चित्रोतयः’ विचित्ररक्षणोपेताः, ‘वाम-  
जाताः’ प्रशस्तजननोपेताः ॥ ३१ ॥

चतुर्थी मृच मनुद्य व्याचष्टे—“इरज्यन्नग्न इति ‡ । “मनुष्या  
वै जन्तव इति । जायन्ते पुरुषार्थोपयोगित्वेनोत्पद्यन्त इति  
जन्तवोऽत्र मनुष्याः ; न तु क्लिमिकीटादय इत्यर्थः । “इरज्यतिः §”  
कण्डूदिर्दीप्तिकर्मेत्यभिप्रेत्याह—“दीप्यमान इति । द्वितीयपादे  
‘रिः ॥’-शब्द-स्यार्थं माह—“रयिं दधदिति । तृतीयपादार्थः प्रसिद्ध  
इति ‘हि’-शब्देन व्याचष्टे—“दर्शतस्व ह्येष इति । चतुर्थपादे

\* वा० सं० १२. १०८ ।

† निघ० ३. ७. ३ ।

‡ वा० सं० १२. १०६ ।

§ कण्डू० ६ धा० ।

॥ ‘रयिः’-इति ङ-पाठः, ‘रयि’-इति क-पाठः ।

‘सानसि’-शब्दः सनातनपर्याय इति \* च व्याचष्टे— “सनातनं क्रतु मित्येतदिति ॥

ऋगर्थस्तु — हे ‘अग्ने !’ ‘जन्तुभिः’ प्रशस्तजनैर्मनुजैर्ऋत्विग्भिः ‘इरज्यन्’ दौष्यमानः सन् ‘प्रथयस्व’ । स्वार्थिकी णिच् । प्रथस्व , विस्तीर्णी भव । हे ‘अमर्त्य’ मरणरहितान्ने ! त्वयसादात् ‘अस्मे’ अत्माकं ‘रायः’ धनानि सन्तु । ब्राह्मणे तु “अस्मे रयिं दधदित्यर्थतो व्याख्यानम् † । तथाविधः ‘सः’ त्वं ‘दर्शतस्व’ ‘दर्शनीयस्य वपुषः’ ज्वालारूपस्य शरीरस्य शोभातिशयेन ‘विराजसि’ विशेषेण ‘दौष्यसे’, तथा ‘सानसि’ सनातनं नित्यफलविषयं ‘क्रतु’ यजमानसङ्कल्पं ‘पृणस्मि’ फलेन संयोजयसीति ॥ ३२ ॥

पञ्चमी ऋचं व्याचष्टे—“इष्कर्त्तार मिति ‡ । उपसर्गस्यादिलोप-  
श्चान्दसः । निष्कर्त्तारम् । तथैव तैत्तिरीयैरान्नायते § । ‘अध्वरस्य’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्ता निष्कर्त्ता । तथैव यज्ञस्य प्रकल्पयिते-  
त्यर्थः सिद्धातीत्याह— “अध्वरो वा इति । द्वितीयपादे राधसो  
मह इति षष्ठ्यन्तयोः सप्तम्यर्थता माह— “राधसि महतीति ।  
तृतीयपादे ‘महि’-इतिशब्दस्य ‘महती’-शब्दपर्यायता माह—  
“महती मिष मित्येतदिति ॥

अय मर्थः— ‘इष्कर्त्तारं’ यज्ञस्य निःशेषेण कर्त्तारम् , अत  
एव प्रकष्टज्ञानवन्तम् । ‘राधः’-इति धननाम ॥ । ‘महति’ प्रभूते

\* उण० ४ पा० १०६ सू० दृष्टव्यम् ।

† पुरस्तात् १६१ पृ० ७ पं० दृष्टव्यम् ।

‡ वा० सं० १२. ११० ।

§ तै० सं० ४. २. ७. १० दृष्टव्यम् ।

॥ निघ० २. १० १७ ।



‘दाधसि’ धने विषये ‘क्षयन्तं’ । “क्षयतिरैश्वर्यकर्मा” \* । ईश्वर-  
त्वेन सत्तम्, ममेति शेषः । स त्वं ‘वामस्य’ वननीयस्य धनस्य  
‘राति’ दानं ‘सुभगां’ शोभनां ‘महीं’ महतीम् ‘इषम्’ इष्ट-  
माणं मन्त्रं च ‘सानसि’ सनातनं चिरन्तनं गवाश्वादिपशुरूपं ‘रयिं’  
च यजमानाय ‘दधासि’ धारयसीति ॥ ३३ ॥

षष्ठी मृच मनूय पादशो व्याचष्टे— “ऋतावान मिति † ।  
यद्यपि ऋतसत्ययोर्मानसवाचिकयथार्थसङ्कल्पनतद्वाङ्मण्यरूपत्वाद्  
भेदोऽस्ति, तथाप्यत्र तादृशो भेदो न विवक्षित इत्याह—“सत्यावान  
मित्येतदिति । “अग्निर्वै महिष इति । “स ह्रीदं जातो महा-  
न्स्वर्वं मैश्यादिति ‡ तन्नामनिर्वचनस्य प्रागान्नातत्त्वादिति भावः ।  
सर्वदर्शनीयत्व मस्य प्रसिद्धं मतो न पृथग् व्याख्यातव्य मित्यभिप्रे-  
त्याह— “विश्वदर्शतो ह्येष इति । “यज्ञो वै सुम्न मिति ।  
यद्यपि सुखवाची ‘सुम्न’-शब्दः §, तथाप्यत्र प्रकरणात्तत्साधनो  
यज्ञ एव तस्यार्थः । उत्तरार्द्धे मनूय शुक्लर्णपदं व्याचष्टे—  
“आशृण्वन्त मिति । श्रवणशीलकर्णेपितम्, आ समन्तात्  
शृण्वन्त मिति यावत् । ‘गिरा’-इतिविशिष्टसाधनश्रवणात्  
योग्यक्रियाध्याहारेण वाक्यं पूरयति— “मनुष्या हवामह इत्येत-  
दिति ॥

ऋतार्थसु— सत्यवन्तं, महान्तं, सर्वेषां दर्शनीयम्, एव-  
न्भूतं मग्निम्, ऋत्विग्यजमानलक्षणाः ‘जनाः’ ‘सुम्नाय’ सुखसाध-

\* निघ० २. २१. ३ ।

† वा० सं० १२. १११ ।

‡ पुरस्तात् १५७ पृ० १२ पं०, ततः १८० पृ० १७ पं० ।

§ निघ० ३. ६. १६ ।

नाय यज्ञाय 'पुरो दधिरे' पुरस्कुर्वन्ति, वय मपि 'शुक्लार्णम्'  
अभिमतफलप्रार्थनं सम्पक् शृण्वन्तं, 'सप्रथस्तमम्' अतिशयित-  
कीर्त्तिवन्तं, 'दैव्यं' स्वार्थिकस्तद्धितः, देवं 'त्वा' त्वां 'गिरा'  
स्तुतिरूपया वाचा 'हवामहे' आह्वयामः । कर्त्तारो विशे-  
ष्यन्ते— "मानुषेति । 'मानुषाणि' मनोः सम्बन्धीनि 'युगा'  
युगानि, युगलानि भूत्वा, जायापत्यात्मना युगलभूता मनुष्या  
इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

इत्थं सिकतानिवपने कारणभूतं षडृचं व्याख्याय तस्य वैश्वा-  
नरात्मकतां प्रतिपादयन् स्तौति— "स एष इति । यत्  
'एतत् षडृचं' सूक्तम्, 'एषः' साक्षात् 'वैश्वानरोऽग्निरेव', तथा-  
विधस्याग्नेः 'आरम्भाय' उत्पादनाय 'एव' हि 'इमाः सिकता  
न्युप्यन्ते'; तस्माद्वैश्वानरात्मकेन सूक्तेन तन्निवपनात् 'वैश्वानरं'  
तम् अग्निं 'रेतोभूतं' रेतोरूपेणावस्थितम्, एतस्मिंश्चेष्टमाणे अग्नी  
'सिञ्चति' प्रक्षिपति । षडृचकरणकत्वं मनूय तत् सङ्ग्रह-  
द्वारेण स्तौति— "षडृचेति \* । न्युप्यत इति शेषः । "संवत्सरो  
वैश्वानर इति । संवत्सरधारणेन जायमानत्वात् वैश्वानराग्नेः  
संवत्सरात्मकता ॥ ३५ ॥

सिकतानां रेतस्त्वे तत्साम्यं भवश्यं वर्णनीयं मिति प्रश्न-  
पूर्वकं तदाह— "तदाहुरिति । यदीमाः सिकता रेतःसंस्तुताः,  
तत्रावश्यं तत्साधर्म्यं वक्तव्यम्,— 'किं' तदासां सिकतानां सम्बन्धि  
'रेतोरूपं' रेतःसम्बन्धी धर्मविशेष इति प्रश्नार्थः । "शुक्ला इत्या-  
द्युत्तरम् । शौक्ल मासां रेतसश्च तादात्म्यहेतुः साधारणो धर्मः ;

अथ मेकस्तादात्म्यहेतुः । ‘अथो’ अपि च ‘पृथग्यः’ सूक्ष्मपरिमाण-  
विन्दुरूपा हि सिकताः, ‘रेतोऽपि हि’ ‘पृथ्नीव’ सिकतोपमैः  
सूक्ष्मपरिमाणविन्दुभिर्युक्त मिव भवति ; अथ मपरस्तादात्म्य-  
हेतुरित्यर्थः ॥ ३६ ॥

नन्वाद्रेतः, शुष्काः सिकताः, कथं मासा मार्द्रत्वलक्षणं  
रेतोरूपं स्यादिति प्रश्नपूर्वकं तत् प्रतिपादयति— “तदाहु-  
रिति । “कथं मस्यैता इति । ‘अस्य’ वैश्वानरस्याग्नेः ‘एताः’ सिकताः  
‘कथं मार्द्राः’ सत्यो ‘रेतोरूपं’ रेतसः सम्बन्धि आर्द्रत्वलक्षणं  
स्वरूपं ‘भवन्तीति’ प्रश्नः । “रसो वा इत्याद्युत्तरम् । गायत्र्या-  
दीनि हि ‘हृन्दांसि’ ‘रसः’ ; सारवच्चात् । रसस्य चार्द्रत्वं मन्यत्र  
प्रसिद्धं मित्याह— “आर्द्रं उ वा इति । ततः किं मित्याह  
— “तद्यदेना इति । अस्मिन् षडृचे गायत्र्यादीनां समानां  
हृन्दासा मन्तर्भावोऽप्ये प्रतिपादयिष्यते \* ; ‘तत्’ तथा सति ‘यत्’  
यस्माद् ‘एनाः’ † सिकताः शब्दरसात्मकैः ‘हृन्दोभिर्निवपति’,  
ततः ‘एवम्’ अनेन प्रकारेण खलु ‘अस्य’ सम्बन्धिन्यः सिकताः  
‘आर्द्राः’ सत्यः रेतःस्वरूपं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ सिकतानां शुक्लक्षणरूपद्वयं स्तोतुं पृच्छति— “तदाहु-  
रिति । ननु चित्योऽग्निः संवत्सरात्मकः, संवत्सरश्चाहोरात्रा-  
त्मकः, तत्समुदायरूपत्वात् ; अतः सिकतोपधानं मध्यहो-  
रात्राभ्यां करणभूताभ्यां निष्पादनीयम्, तत् कथं सुपपद्यत  
इति ब्रह्मवादिनां प्रश्नः । “हे वा इति परिहारः । ‘हे’ एव हि

\* इहेव परस्तात् ४१ कण्ठी ( मूलानु—१६४८० १ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

† ‘एताः’—इति सर्वटीकापुस्तकपाठः, मूलपुस्तकेषु तु मद्दृष्टेयु  
सर्वेष्वेव ‘एनाः’—इति ।

‘अहोरात्रे’ पर्यावर्त्तमाने ; तत्र ‘शुक्लम्’ अहः, ‘कृष्णं’ रात्रिः<sup>३</sup> ; सिकता अपि शुक्लकृष्णभेदेन द्विविधाः ; अतस्तद्वर्णयोगादेतासां सुपधानम् ‘अहोरात्राभ्याम्’ एव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ ३८ ॥

इत्थं वर्णतोऽहोरात्रसाम्यं मुक्तम्, अथ सङ्ख्यासम्बन्धिरपि कथं मित्याशङ्कापूर्वकं प्रतिपादयति— “तदाहुरिति । संवत्सर-सम्बन्धिभिः ‘अहोरात्रैः’ समानसङ्ख्याकाः, न्यूनाधिकसङ्ख्यारहिताः कथम् ‘उपहिता भवन्तीति’ प्रश्नः । “अनन्तानि वा”—इत्युत्तरम् । संवत्सराणां मानव्यात् तदवयवा अहोरात्रा अध्यनन्ताः । यद्यपि “रात्राङ्गाः पुंसि”—इति \* पुल्लिङ्गेन भवितव्यम्, तथापि “हेमन्तशिगिरावहोरात्रे च च्छन्दसि”—इति † निपातनास्तिङ्गाद् बहुवचनान्तस्यापि नपुंसकलिङ्गता । “एव सु हास्येत्यादि स्पष्टम् ॥

अथैतदुपधानकरणस्य षड्वचस्य यच्छन्दस्तस्य समुद्रिय मिति नाम कस्मान्नमित्तादिति पृच्छति— “अथ कस्मादिति । तन्निमित्तं माह—“अनन्तो वा इति । ‘अनन्तः’ अन्तरहितः ; समाप्तिरहितः खल्वयम् समुद्रो जलनिधिः, सिकताश्चानन्ताः ; परिगणनानर्हत्वात् । अतस्तासां सुपधानमन्त्रसम्बन्धिनश्छन्दसोऽपि अन्तराहितत्वात् समुद्रसाम्यात् समुद्रे भवं समुद्रिय मिति व्युत्पत्त्या तन्नामधेयतेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

नन्वनन्तानां सिकतानां सुपधानम् पृथक् पृथक् कथं समन्तकं स्यादिति पृच्छति— “तदाहुरिति । “मनो वा इत्याद्युत्तरम् । मन एव हि सर्वासां सिकतानां साधारणं यजुः ; तदुच्चारणहेतुत्वात् मनसो यजुद्वम् । ‘तदिदं’ मनो-

\* पा० ख० २. ४. २६ ।

† पा० सू० २. ४. २८ ।

रूपं 'यजुः' सर्वाः सिकताः 'अनुः'-लक्ष्य 'विभवति' प्रत्येकं व्याप्तुं शक्नोति । अनेनैव हि प्रकारेण 'अस्य' चित्यस्थानेः 'एताः' सर्वाः सिकताः 'पृथक् नाना' 'यजुर्भिः' विभिन्नैः यजुर्मन्त्रैः 'उपहिता भवन्ति' ॥ ४० ॥

अपि एतस्मिन् षडृचे समानां छन्दसा मन्तर्भावप्रदर्शनाय सूति— "तदाङुरित्यादिना । 'एताः' सिकताः 'सर्वैः' गायत्र्यादिभिः सप्तभिः 'छन्दोभिः' 'कथं सुपहिता भवन्ति' । "अने तव श्रवः"—इत्यादीनां षष्ठा मृचां \* प्रतिनियतैकच्छन्दोरूपत्वादित्यभिप्रायेण प्रश्नः । "यदेवैना इत्युत्तरम् । 'यत्' यत एव कारणात् 'एताः' 'एतेन' षडृचेन सूक्तेन 'निवपति', तेनैताः सर्वे छन्दोभिरुपहिता भवन्ति' ।

कथं मिति चेत्, उच्यते— गायत्र्यादीनां जगत्यन्तानां समानां छन्दसां यावन्त्यक्षराणि मिलित्वा सम्पद्यन्ते, तावन्त्येतस्य षडृचस्याक्षराणि भवन्ति । तथाहि,— गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा, उष्णिगष्टाविंशत्यक्षरा, अनुष्टुभो द्वाविंशदक्षराणि, बृहत्याः षड्विंशदक्षराणि, पङ्केष्टत्वारिंशत्, चतुश्चत्वारिंशत् त्रिष्टुभः, अष्टाचत्वारिंशज्जगत्याः ; तानि च सम्भूय द्विपञ्चाशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति ।

अस्मिन् षडृचे प्रथमा चत्वारिंशदक्षरा, द्वितीया एकचत्वारिंशत्, तृतीया चतुर्थी च चत्वारिंशदक्षरा, पञ्चमी-षष्ठ्योः द्विचत्वारिंशदक्षराणि ; एवं पञ्चचत्वारिंशदधिकशतद्वयसङ्ख्याकानि भवन्ति । अन्यानि सप्ताक्षराणि चैप्रसंयोगविभागेन

द्रष्टव्यानि । एवं सप्तच्छन्दांस्यक्षरसङ्ख्याद्वारेणास्मिन् षडृचे अन्तर्भवन्ति । “एव मु हास्येति , प्रतिपादितार्थनिगमनम् ॥ ४१ ॥

उत्सन्नयज्ञभागस्य पुनराहरणार्थत्वेन सिकतानिवपनं स्तौति—  
“यद्वेवेति । ‘एषः’ चित्योऽग्निः विराडात्मकः ‘प्रजापतिः’ । ‘सर्वं’  
निरवशेष मेव कृत्स्नं ‘ब्रह्म’ मन्त्रजातम् , स ‘प्रजापतिः’ । ‘तत्’  
तथा सति तस्य ब्रह्मणो यदेतत् ‘उत्सन्नं’ विशेषं स्वरूपम् ,  
तत् सिकतात्मना परिणतम् । ‘अथ ‘यत्’ तु ‘अनुत्सन्नम्’ अवि-  
नष्टं ब्रह्मणो रूपं चीयमानाग्निरूपम् । ‘तत्’ ततोऽग्नेन सिक-  
तानिवपनेन ‘ब्रह्मण उत्सन्नम्’ एव रूपं पुनः अस्मिन् प्रजापत्या-  
त्मकेऽग्नौ सन्धातीति ॥

तासां अपरिमितत्व मनूय स्तौति— “ता असङ्ख्याता इति ।  
‘तद्ब्रह्मण उत्सन्नं’ रूपम् , यत् परिमाणविशिष्ट मिति , तत् को  
नाम जानीयात् ? अतस्तासां अपरिमितत्वम् ; अपरिमित-  
स्योत्सन्नरूपस्य प्राप्तौ सम्प्रदात इत्यर्थः ॥

विह्वदनुष्ठानं प्रशंसति— “स ह वा इति । ‘सर्वं’ निरवशेषम् ,  
‘कृत्स्नं’ सर्वावयवसहितम् । स्पष्ट मन्यत् ॥ ४२ ॥

अपरिमितानां मध्येनासां सङ्ख्याविशेषप्रदर्शनेन स्तुतिशिकी-  
र्षिता , तदर्थं पृच्छति— “तदाहुरिति । ‘असङ्ख्यातानाम्’  
अपरिमितानाम् ‘आसां’ सम्बन्धिनी सङ्ख्या कीदृशेति प्रश्नः ।  
चतुर्धा सङ्ख्यासङ्गावं प्रशंसति— “द्वे इत्यादिना । शुक्लकृष्णात्मना  
द्वैराश्यादपरिमितानां सिकतानां द्वित्वम् । “सप्तविंशतिशतानीति ।  
सिकतानां महोराचरूपता प्रागुक्ता \* । संवत्सरसम्बन्धिना

सङ्कां रात्रीषाञ्च परिगणने सति विंशत्यधिकानि सप्तशतानि भवन्ति ; अतस्तदात्मिकानां सिकताना मपि सैव सङ्का भवतीत्यर्थः । “इे हापञ्चाशे शते इति । द्विपञ्चाशदधिकद्विशत-सङ्काया सङ्केयाः सिकता इति ब्रूयात् । तदुपधानमन्वस्य षड्वचस्य तावत्सङ्काकाक्षरोपेतत्वात् तेषा मक्षराणां सिकतानाञ्च तादात्म्य मित्यर्थः ।

“अथो पञ्चविंशतिरिति । पञ्चविंशतिसङ्काया सङ्केयाः सिकताः कुत इत्यत आह — “पञ्चविंशं हीति । शरीरं हि प्रकृतिमहदादि-चतुर्विंशतितत्त्वात्मकम् , तत उत्पन्नं ‘रेतः’ पञ्चविंशं पञ्चविंशति-सङ्कापूरकम् \* , रेतःसंस्तुताश्च सिकताः ; अतः पञ्चविंशति-सङ्काकत्वं तासां प्रतिपत्तव्य मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

लोकेशकावत् सिकताना मय्यात्मभागे एवोपधानं विधत्ते — “ता एता इति । इद मपि लोकेशकाप्रकरणस्यवाक्य-वद् व्याख्येयम् † । सिकताना मपीष्टकात्वादितरेष्टकास्त्रिव प्रसक्तं सादनं निषेधति — “न सादयतीति । “तया देवतयेति ‡ मन्त्रेण स्थापनं सादनम् , तन्न कर्त्तव्यम् । निषेधकारण माह — “नेद्रेत इति । प्रजोत्पत्तिकारणं ‘रेतः’ शुक्रम् , नैव कचिदेव ‘स्थाप-यानि’ ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण ; सादने हि तत् कचिदेव प्रतिष्ठितं स्यात् , न तु चलितं सत् गर्भाशये प्रविशेदिति भावः ॥ ४४ ॥

अथ समन्वक मेतासा मभिमर्शनं विधत्ते — “अथैता

\* शरीरमित्याद्येतदन्तं नानाऽशुद्धपाठसमन्वित मिदं वाक्यं च-बुद्धते ।

† पुरस्तादिहैव २२-कण्ठीभाष्य मारभ्य दृश्यम् ( १७६ पृ० ) । का० श्री० ख० १७. ३. ११, १२ द्रष्टव्ये ।

‡ वा० सं० १२. २ । का० श्री० ख० १७. १. १२ ।

इति । ‘आप्यायनवतीभ्यां’ आप्यायनक्रियाप्रतिपादकः शब्दः , आप्यायनम् , उपचारात् ; तद्वतीभ्यां “आप्यायस्व”—“सन्ते”— इत्येताभ्याम् \* । “इद मेवैतदिति । ‘इद मेवैतत्’ सिकतात्मकं रूपं ‘सिक्तं रेतः’ ‘आप्यायति’ धातुयुक्तमन्त्रकरणकाभिमर्श-  
नेनाप्यायति प्रवर्धयति । यत एवैव यज्ञे , तस्मादेव स्त्रीणां ‘योनौ’ पुरुषैः ‘सिक्तं रेतः’ ‘आप्यायते’ शरीराकारेण परिणतं सङ्कते । मन्त्रसम्बन्धिदेवतादारेण प्रशंसति— “सौमीभ्या मिति । सोमोऽनयोर्देवता “सास्य देवतेत्यर्थे सोमात् अण् † “टिङ्गाण-  
जिति ‡ डीप् । ऋग्भ्या मभिमृशतीति शेषः § ॥

“प्राणो वै सोम इति । प्राणस्य तावदुदकमयत्वं प्रसिद्धम् ; “आपोमयः प्राणः”—इति श्रुतेः॥ । तथाच सोमोऽपि अमृतमयरसा-  
त्मकतया प्राणोपादानत्वात् प्राण एव । ‘तत्’ तेन सौमीभ्या मभि-  
मर्शनेन सिकतात्मके सिक्ते रेतसि सोमात्मकं प्राण मेव स्थापयति । “तस्मात्”—इत्यादिना लोकस्थितिनिरूपणम् । यस्माद्वैदिके कर्मणि रेतसि प्राणः स्थापितः , तस्मादेव कारणात् प्राण मभिलक्ष्य प्राणसहित मेव गर्भाशये ‘सिक्तं रेतः’ ‘सम्भवति’ शरीराकारेण परिणमते । यत्तु प्राणादृते रेतः सिच्यते , तत् पूयेदेव , न शरीरा-  
कारेण सम्पद्यत इत्यर्थः । एव मेवैतरेयकैश्चाम्नातम्— “न ह वा

\* वा० सं० १२. ११२, ११३ ।

† पा० सू० ४. २. २४ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १६ ।

§ पा० सू० ४. १. १५ ।

॥ छा० उप० ६. ५. ४ ।



ऋते प्राणाद्वेतः सिच्यते , यदा ऋते प्राणाद्वेतः सिच्यते , पूयेन सश्ववेदिति ।

अस्याभिमर्शनस्य सूददोहसाधिवदनकार्यकरत्वात् तदात्मकता माह— “एषो हैवात्रेति । यत् सोमोभ्या मभिमर्शनम् , ‘एषा’ वा ‘अच’ सिकतोपधाने ‘सूददोहाः’ “ता अस्य सूददोहस इति \* मन्त्रकरणक मधिवदनम् ॥

कथ मन्यस्यान्यात्मतेत्यत आह— “प्राणो वा इति । अभिमर्शनमन्त्रप्रतिपाद्यस्य सोमस्य सूददोहसश्च प्राणात्मकत्वसाम्यादित्यर्थः ॥ ४५ ॥

तत्र प्रथमा सृच मनूद्याप्रसिद्धार्थं पदं व्याचष्टे— “आप्यायस्वेति । “रेतो वै वृष्ण मिति । वृषा सेचनसमर्थो युवा , तत्र भवं वृष्ण मिति व्युत्पत्तेः वृष्णशब्देन रेतः प्रतिपाद्यत इत्यर्थः ॥

पदार्थं मुक्त्वा वाक्यार्थं योजयति— “सर्वतः सोम रेत इत्येतदिति । “अन्नं वै वाज इति । वाजशब्दस्य “वज ब्रज गतौ” †—इत्यस्माद् व्युत्पन्नस्य गत्यर्थत्वात् अत्र च तत्प्रतिपादकत्वायोगात् रूक्षा वाजशब्देनान्न मुच्यत इत्यर्थः । अत एव वाजशब्दोऽन्ननामसु पठ्यते— “अन्धः वाजः पय”-इति ‡ । हे सोम ! त्वम् ‘आप्यायस्व’ वर्धस्व , अस्मान् वर्धय वा । त्वदीयं ‘वृष्णं’ वृषसम्बन्धि ‘रेतः’ इमं मग्निं ‘विश्वतः’ सर्वतः ‘समेतु’ प्राप्नोतु । अन्नस्य सङ्गमनाय त्वं मस्माकं भवेति मन्त्रार्थः ॥

\* वा० सं० १२. ५५ । का० औ० सू० १६. ७. १४ ।

† आ० प० २५२ , २५३ प्रा० ।

‡ निघ० २. ७. २ ।

द्वितीया माध्यायनवती मनूयाप्रसिद्धार्थानि पदानि व्याचष्टे—  
 “सन्ते पयांसीति \* । अत्र पयःशब्दो रसपरः, वाजशब्दोऽन्नपरः,  
 तथा चाय मर्थ इत्याह— “सन्ते रसा इति । द्वितीयाहं ‘अभि-  
 माति’-शब्देन पाप्मोच्यत इत्याह— “पाप्मसह इत्येतदिति ।  
 तृतीयपादे ‘अमृत’-शब्दस्याभिप्राय माह— “प्रजात्या मिति ।  
 पुत्रपौत्रादिरूपेण यैव प्रजातिलक्षणा प्रजोत्पत्तिरूपा क्रिया  
 ‘अमृता’, “आप्यायमान इत्यनेन मन्त्रभागेन तस्यां प्रजा-  
 त्या ममृतत्वं स्थापयति ! यस्मादेवं ‘तस्मात्’ ‘प्रजातिः’  
 प्रजोत्पत्तिः ‘अमृता’ मरणरहिता अविच्छिन्ना सार्वकालिकी  
 वर्तते इत्यर्थः । चतुर्थपादे ‘अवः’-शब्दस्यार्थ माह— “चन्द्र-  
 मा वा अस्य दिवि अव इति । ‘अस्य’ ( अधियज्ञं † ) लता-  
 रूपेण वर्त्तमानस्य सोमस्य ‘दिवि’ द्युलोके ‘उत्तमम्’ उत्कृष्टं  
 ‘अवः’ नाम चन्द्रमा एवोच्यते । कथं मस्य अवःशब्दाभिधेयतेति  
 तत् प्रतिपादयति— “स ह्येन मिति । ‘अमुष्मिन्’ स्वर्गे लोके  
 ‘सः’ खलु ‘चन्द्रमाः’ ‘एनं’ सोमम् अमृतात्मना पीयमानः सन्  
 ‘आवयति’ प्रस्थापयति, अतः आवयितृत्वात् अवःशब्देन स  
 उच्यत इत्यर्थः ॥

मन्त्रगतं द्वित्वं ऋन्विशेषज्ञानूद्य ‘तस्य’ स्तावको वाक्यशेषः  
 प्रागाम्नात इत्याह— “हाभ्या मिति । “द्विपाद्यजमान इत्यादि-  
 द्वित्वसङ्ख्यासुतिः ॥ ४६ ॥

लोकेष्टकादिसङ्ख्यां सम्भूय स्तौति—“अथातः सम्पदेवेति । स्पष्टो-

\* वा० सं १२. ११३ ।

† च-पुस्तके एषोऽधिकः पाठः ।

ऽर्थः । “यावानग्निरित्यादि । प्रागुक्तोऽर्थः \* ॥ ४७ ॥ ३ [३.१.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

आप्यानावतोभ्या मभिमृश्य । प्रत्येत्यातिथ्येन  
प्रचरत्यातिथ्येन प्रचुर्य प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचरति  
प्रवर्ग्योपसङ्गां प्रचर्यथैतां चूर्मणि चितिः समवश-  
मयन्ति तद्यच्चूर्मणि चूर्म वै रूपः रूपाणा मुपाप्तौ  
लोमतो लोम वै रूपः रूपाणा मुपाप्तौ रोहिते  
रोहिते ह सूर्वाणि रूपाणि सूर्वेषां रूपाणा  
मुपाप्त्या ऽत्रानडुहे ऽग्निरेष यदनड्वानग्निरूपाणा  
मुपाप्तौ प्राचीनग्रीवे तद्धि देवता † ॥ १ ॥

तदग्रेण गार्हपत्यम् । अन्तर्ब्यदुत्तरलोम प्रा-  
चीनग्रीव मुपस्तृणाति तदेतां चितिः समवशम-

\* पुरस्तात् ११८ पृ० द्रष्टव्यम् ।

† ‘देवता’—इति ग, घ ।

यन्त्यथ प्रोक्षति तद्यत् प्रोक्षति शुद्धं मेवैतन्मेध्यं करो-  
त्याज्येन तद्धि शुद्धं मेध्यं मयो ऽअनभ्यारोहाय न  
हि किञ्चनान्यद्विराज्येन प्रोक्षन्ति तूष्णीं मुनि-  
रुक्तं वै तद्यत् तूष्णीं सृज्यं वा ऽअनिरुक्तं सृज्यं-  
गैवैतच्छुद्धं मेध्यं करोत्यथो ऽअनभ्यारोहाय न हि  
किञ्चनान्यद्विस्तूष्णीं प्रोक्षन्ति ॥ २ ॥

यदेव प्रोक्षति । हविर्वा ऽएतत् तदेतदभि-  
घारयति यद्वै हविरभ्यक्तं यदभिघारितं तज्जुष्टं  
तन्मेध्यं माज्येनाज्येन हि हविरभिघारयन्ति तूष्णीं  
तूष्णीं हि हविरभिघारयन्ति दधैस्ते हि शुद्धा  
मेध्या अग्नैरग्नौ हि देवानाम् ॥ ३ ॥

तुदाहुः । यत् प्रथमा मेव चितिं प्रोक्षति  
कथं मुखैष सृज्योऽग्निः प्रोक्षितो भवति कथं चूर्मणि  
प्रणीतः कथं मश्वप्रणीत इति यदेवात्र सृज्यासां  
चित्तीना मिष्टकाः प्रोक्षत्येव मु हास्यैष सृज्योऽग्निः  
प्रोक्षितो भवत्येवं चूर्मणि प्रणीत एव मश्वप्रणीत  
उदच्छत्येतां चितिम् ॥ ४ ॥

अथाहाग्निभ्यः प्रक्षिप्यमाणेभ्योऽनुब्रूहीति । एतद्वै

देवानुपप्रेष्यत् एतं यज्ञं तस्यमानान् रुचांसि  
 नाष्टा अजिघांसन् \* यक्ष्यध्वे न यज्ञं तस्यध्व  
 ऽइति तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका वृज्यान् क्षुर-  
 पवीन् कृत्वा प्राहरंस्तैरेनानस्तृणवत तान्स्तृत्वाभये  
 ऽनाष्टु ऽएतं यज्ञं मतन्वत ॥ ५ ॥

तद्वा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
 नु तानि रुचांसि देवैरेवोपहतानि † यत् त्वेतत्  
 करोति यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो यदेव रुचो  
 यः पाप्मा तेभ्य एतानग्नीनेता इष्टका वृज्यान्  
 क्षुरपवीन् कृत्वा प्रहरति तैरेनान्स्तृणते ता-  
 न्स्तृत्वाभयेऽनाष्टु ऽएतं यज्ञं तनुते ॥ ६ ॥

तद्यदग्निभ्य इति । बहवो ह्येतेऽग्नयो यदे-  
 ताश्चितयोऽथ यत् प्रक्रियमाणेभ्य इति प्र हि  
 हरति ॥ ७ ॥

तद्वैकेऽन्वाहुः । पुरीष्यासो ऽअग्नयः प्राव-  
 शेभिः सजोषस इति प्रायणरूपं न तथा कुर्या-

\* 'अजिघांसन्'—इति क ।

† 'देवैरेवोपहतानि'—इति क, ख ।

दाग्नेयीरेव गायत्रीः कामवतीरनुब्रूयादा ते व्यत्सो  
मनो यमत्तुभ्यं ता अङ्गिरस्तमाग्निः प्रियेषु धाम-  
स्विति ॥ ८ ॥

आग्नेयीरन्वाह । अग्निरूपाणां मुपाप्यै काम-  
वतीः कामानां मुपाप्यै गायत्रीर्गायत्रीऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतद्रेतो भूतः  
सिञ्चति तिस्रस्त्रिंशदग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा  
तावतैवैन मेतद्रेतो भूतः सिञ्चति ताः सप्त सम्प्र-  
द्यन्ते सह त्रिरनूक्ताभ्यां सप्तचितिकोऽग्निः सप्त-  
ऽर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरोऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य  
मात्रा तावत् तद् भवत्युपांश्वन्वाह रेतो वा  
ऽश्वत् यज्ञ उपांशु वै रेतः सिञ्चते पश्चादनु-  
ब्रुवन्नन्वेति कुन्दोभिरेवैतद्यज्ञं पश्चादभिरक्षन्नेति  
॥ ९ ॥

अथाश्वः शुक्लं पुरस्तान्नयन्ति । एतद्देवै देवा  
अविभयुर्यद्देव इह रुचांसि नाष्टा न हन्यु-  
रिति त एतं वृक्षं मपश्यन्न मु मेवादित्य मसौ वा  
ऽआदित्य एषो ऽश्वस्त एतेन वृक्षेण पुरस्ताद्

रुद्रांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति सुमा-  
श्रुवत तथैवैतद्यजमान एतेन व्यञ्जेण पुरस्ताद्-  
रुद्रांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टे स्वस्ति समश्रुत  
ऽआगच्छन्त्यग्निं दक्षिणतः पुच्छस्य चिति मुपनिद-  
धत्युत्तरतोऽश्व माक्रमयन्ति ॥ १० ॥

त मुत्तरार्द्धेनाग्नेः \* । अन्तरेण परिश्रितः प्राञ्चं  
नयन्ति तत् प्राच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति तं  
दक्षिणा तद्दक्षिणायै दिशः पाप्मान मपहन्ति तं  
प्रत्यञ्चं तत् प्रतीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति त  
मुदञ्चं तदुदीच्यै दिशः पाप्मान मपहन्ति सर्वाभ्य  
एवैतद्दिग्भ्यो रुद्रांसि नाष्टा अपहृत्याभयेन मुदञ्चं  
प्राञ्चं प्रसृजति तस्योक्तो बन्धुः ॥ ११ ॥

तं प्रत्यञ्चं यन्तम् । एतां चिति मवघ्रापयत्यसौ  
वा ऽआदित्य एषोऽश्व इमा उ सर्वाः प्रजा या  
इमा इष्टकास्तद्यदवघ्रापयत्यसावेव तदादित्य इमाः  
प्रजा अभिजिघ्रति तस्मादु हैतत् सर्वोऽस्मीति  
मन्यते प्रजापतेर्वीर्येण तद्यत् प्रत्यञ्चं यन्त मवघ्रा-

\* 'त मुत्तरार्द्धेनाग्ने'—इति ग, घ ।

पुयति प्रत्यङ् छेवैष युन्निमाः सुज्वाः प्रजा अभि-  
जिघ्रति ॥ १२ ॥

यद्वेवावघ्रापयति । असौ वा ऽआदित्य एषो-  
ऽश्व इमं ऽउ लोका एताः स्वयमातृणास्तद्यदव-  
घ्रापयत्यसुवेव तदादित्य इमांल्लोकान्सूचे समाव-  
यते तद्यत् तत् सूत्र मुपरि तस्य बन्धुः ॥ १३ ॥

यद्वेवावघ्रापयति । अग्निर्देवेभ्य \* उदक्रामत्सो-  
ऽपः प्राविशत्तेदेवाः प्रजापति मब्रुवंस्तुमिमं मन्विच्छ  
स तुभ्यः स्वाय पितृ ऽआविर्भविष्यतीति तमश्वः  
शुक्लो भूत्वान्वैच्छत् मङ्गा उपोदास्यत् पुष्करपर्णे  
विवेद तं मभ्यवेक्षाञ्चक्रे स हैनमुदवोष तस्मा-  
दश्वः शुक्ल उदुष्ट मुख इवाथो ह दुरक्षो भावुकस्तु  
मु वा ऽऋत्वेव हिंसित्वेव मेने तं होवाच व्वरं  
ते ददामीति ॥ १४ ॥

स होवाच । यस्त्वानेन रूपेणान्विच्छाद्विन्दा-  
देव त्वा स इति स यो हैन मेतेन रूपेणान्विच्छति  
व्विन्दति हैनं व्वित्त्वा हैवेनं चिनुते ॥ १५ ॥

\* 'अग्निर्देवेभ्यः'— इति क ।



स शुक्लः स्यात् । तच्चेतस्य रूपं य एष तपति  
यदि शुक्लं न विन्देदप्यशुक्लः स्यादश्वस्त्वेव स्याद्य-  
द्युखं न विन्देदप्यनङ्गानेव स्यादाग्नेयो वा ऽअनङ्गा-  
नग्निरु सर्वेषां पाप्मना मपहन्ता \* ॥ १६ ॥

अथातोऽधिरोहणस्यैव † । तं हैके पुरस्तात्  
प्रत्यञ्च मधिरोहन्ति पश्चाद्वा प्राञ्चं न तथा कुर्यात्  
पशुरेष यदग्निर्यो वै पशुं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मधि-  
रोहति विषाणाभ्यां तं हन्यथ यः पश्चात् प्राञ्चं  
पद्भ्यां त मात्मनैवैन मारोहेद्यं वा ऽआत्मना पशु-  
मारोहन्ति स पारयति ‡ स न हिनस्त्युत्तरतो यं  
हि कञ्च पशुमारोहन्युत्तरत् एवैन मारोहन्या-  
रुह्याग्नि मौत्तरवेदिकं कर्म कृत्वात्मन्नग्निं गृह्णीत  
ऽआत्मन्नग्निं गृहीत्वा सत्यं साम गायति पुष्कर-  
पर्णं मुपदधाति तस्यातः § ॥ १७ ॥

अथैतं साये भूतेऽश्वं परिणयन्ति । एतद्वै

\* 'मपहन्ता'—इति ग, घ ।

† 'अथातोऽधिरोहणस्यैव'—इति ग, घ ।

‡ 'मारयति'—इति क ।

§ 'तस्यातः'—इति क । 'तस्यातः'—इति ग, घ ।

देवा अविभयुर्यद्वै न इमं मिह रुक्षांसि नाष्ट्रा  
 न हन्युरिति तस्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं मकु-  
 र्वन्नमु मेवादित्य मसौ वा ऽआदित्य एषोऽश्वस्तथै-  
 वास्मा ऽअयं मेतं वृच्च मभिगोप्तारं करोति ॥ १८ ॥

तं वा ऽउपास्तमय मादित्यस्य परिणयति । एष  
 वा ऽअस्य प्रत्यक्षं दिवा गोप्ता भवति रात्रि स्या  
 च यान्यु वै रुक्षांसि रात्र्या एवास्मा ऽएतं वृच्च  
 मभिगोप्तारं करोति सर्व्वतः परिणयति सर्व्वतः  
 एवास्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं करोति त्रिष्कृत्वः  
 परिणयति त्रिवृत मेवास्मा ऽएतं वृच्च मभिगोप्तारं  
 कक्षोत्थैर्न मुदच्चं प्राच्चं प्रसृजति तस्योक्तो बभ्रुरय  
 स पुनर्व्विपुल्ययते तस्योपरि बभ्रुः ॥ १९ ॥ ४ ॥

॥ इति द्वितीयप्रपाठके चतुर्थं ब्राह्मणम् [३. २.] ॥

एव माहवनीयदेशस्य संस्कारसमनन्तरं कर्त्तव्यं प्राक्तनं  
 प्रयोगजातं मनुकामयितुं प्रागुक्तयोः \* आग्निकसौक्तिकयोः  
 कर्मणोर्व्यतिषष्टं दर्शयति †— “आप्यानवतीभ्या मित्यादिना ।  
 ‘प्रत्येत्य’ उत्तरवेदिदेशात् प्राग्वंशम् प्रत्यागत्येत्यर्थः । अन्यत्

\* ‘प्रागुक्त’—इति ङ, क, ज ।

† ‘दर्शयितुं’—इति ङ, क, ज ।

निगदव्याख्यातम् । प्रथमं प्रवर्ग्योपसदन्तं कर्त्तव्यं मिति समुदायार्थः ॥

अनन्तरं मान्निकस्य कर्मणः प्रवेशं दर्शयति— “अथैता मिति । ‘अथ’-शब्दः प्रथमोपसदानन्तर्ये । आनडुहे लोहिते ‘चर्मणि’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चितिं’ प्रथमचित्यर्थं मिष्टकासमूहं ‘समव-शमयन्ति’ सम्यग् दृष्टावोक्षणेन तप्तानां मिष्टकानां शमनं कुर्युरित्यर्थः । तस्य चर्माधिकरणतां स्तौति— “तद्यच्चर्मणि चर्म वै रूप मिति । चर्मसम्बन्धिनां \* लोम्नां नानावर्णोपेतत्वाद् असृगादीनां मान्तरधातूनां त्वचाच्छादने सति रूपकरणत्वेन चर्मणो रूपात्मकता, अतश्च तस्मिन्निष्टकानिधानं सर्वेषां रूपाणां प्राप्तौ सम्पद्यत इत्यर्थः । तच्च लोमप्रदेशे कर्त्तव्य मिति विधाय स्तौति— “लोमत इति । ‘चितिं समवश-मयन्ति’-इत्यनुषङ्गः । लोहित्यगुणं चर्मणो विधाय स्तौति †— “रोहित इति । एतत् सर्वं कात्यायनेनापि सूत्रितम्— “आतिथ्यशेषाद्योपसदः कृत्वा रोहिते चर्मण्यानडुहेऽन्तःपात्यस्य पुरस्तादिष्टकाः करोति प्रथमचित्तरिति ‡ । लोहितवर्णेषु लोमसु मूलमध्याग्रभेदेन शुक्लादीनि सर्वाणि रूपाणि दृश्यन्त इत्यर्थः ॥

चर्मणोऽनडुहिकारतां विधाय स्तौति— “आनडुह इति । अत्रो वहतोत्यनड्वान्, तथाविधस्य बलीवर्द्धस्याग्निरूपत्वं प्रागान्नातम्

\* ‘चर्मसम्बन्धिनां’-इति ड ।

† लोमत इत्यारभ्य स्तौतोक्तितदन्तः पाठो न दृश्यते ड-पुस्तकादन्यत्र ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. १७ ।

—“अग्निदग्ध मिव वा अग्न्य वहं भवतीति \* । “अग्निरूपाणा  
मिति । चित्त्वस्वाम्नेः सम्बन्धीनि यानि रूपाणि , तेषां मध्येऽम-  
ङ्गान्त्येकं रूपम् ; अतस्तत्त्वस्वन्धिनचर्मण आस्तरणेन तेषां मन्त्रि-  
रूपाणां मुक्तवस्त्रमाणां कारस्त्रेण प्राप्त्यर्थं सम्पद्यत इत्यर्थः ।  
स्तरणे प्रकारविशिषं विधत्ते— “प्राचीनग्रीवे इति । प्राचीना  
प्रागायता ग्रीवा यस्य तत्तथोक्तम् , एतच्च विधेयविशेषणम् , चर्मणः  
प्राचीनग्रीवता यथा भवति तथा स्तृणीयादित्यर्थः । “तद्धि-  
देवत्वेति । ‘तद्धि’ प्राग्दिकस्वन्धित्वं ‘देवत्वा’ देवेषु योग्यम् ;  
तस्याः दिशो देवैरात्मीयत्वेन स्वीकृतत्वात् । अत एव हि तैत्ति-  
रीयके श्रूयते—“देवमनुष्या दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवा इति † ।  
देवत्वेति “देवमनुष्येत्यादिना ‡ सप्तम्यर्थे त्वा-प्रत्ययः ॥ १ ॥

उदीरितलक्षणस्य चर्मणो देशविशेषे स्तरणं विधत्ते— “तद्वे-  
णेति । ‘गार्हपत्य मग्नेण’ गार्हपत्यचितेरदूरेण पूर्वभागे महावेदि-  
मध्ये ‘तत्’ चर्म उदीरितविशेषणविशिष्टम् ‘उपस्तृणाति’ । ‘तत्’  
‘तत्र’ ‘एतां’ प्रथमां ‘चिति’ प्रथमचितेः पर्याप्तमिष्टकासङ्गं § ‘समव-  
शमयन्ति’ संशान्तीणां ॥ कुर्युः । आज्येन प्रोक्षणं विधत्ते—  
“अथैति । औष्ण्यसंशमनानन्तरं तां चितिं आज्येन ‘प्रोक्षति’

\* पुरस्तात् ( ३६ पृ० ) १. १. २. ६ द्रष्टव्यम् ।

† तै० ब्रा० ६. १. १. १ ।

‡ पा० सू० ५. ४. ५६ ।

§ ‘सङ्घातं’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘सौम्यौष्ण्यं’—इति ऊ-पाठः , वेबरदृष्टम् ।

प्रकर्षेण सिञ्चति \* । तदेतदनूय स्तौति— “तद्यदिति । तस्मिन् प्रोक्षणे द्रव्यं विधत्ते— “आज्येनेति । प्रोक्षतीत्यनुषङ्गः । “तद्धि शुद्ध मिति । ‘तत्’ खल्व्वाज्यं शुद्धम् ; ‘तेजो वै घृत मित्यादि श्रुत्या † तस्य तेजोरूपत्वप्रतिपादनात् पुरोडाशादिहविःशुद्धिहेतुत्वाच्च । अत एव ‘मेध्यं’ मेधारहम् । ‘अथो’ अपि च ‘अनभ्यारोहाय’ अभ्यारोहण मतिक्रमणम् , आज्येन प्रोक्षण मनतिक्रमणाय श्रेष्ठाय सम्पद्यते । एतदेव दर्शयति— “न हीति । दृष्टकाभ्योऽन्यत् चरुपुरोडाशादिकं किं मपि हविर्न हि आज्यकरणकेन प्रोक्षणेन संस्क्रियते ; उदकेनैव हि तस्य प्रोक्षणम् ; अब्विलक्षणेन तेजोरूपेणाज्येनेष्टकानां प्रोक्षणम् , चित्तेः पादसंस्पर्शविरहरूपानभ्यारोहणाय भवतीत्यर्थः । प्रोक्षणस्यामन्त्रकत्वं विधाय स्तौति— “तूष्णी मिति । “अनिरुक्तं वा इत्यादि गतम् ‡ । न हि अन्यच्च तूष्णीं प्रोक्षण मस्ति , अतस्तद्वैलक्ष्येनेष्टकाप्रोक्षणस्य सर्वात्मकानिरुक्तत्वसम्पादनं तस्य चित्वाधेरनतिक्रमणीयत्वाय कल्प्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथैतत् प्रोक्षण मनूय हविष्टसम्पादनद्वारा स्तौति— “यदेवेति । “हविर्वा इत्यादि यत् , तदिष्टकारूपं हविः खलु हविर्विदेवानां तृप्तिकरम् ; अतस्तदेतदिष्टकारूपं हविः आज्यप्रोक्षणेन ‘अभिधारयति’ अभितो घृतधारया सिञ्चति । तस्य प्रयोजन माह— “यद्वा इति । ‘यत्’ खलु पुरोडाशादिकं ‘हविः’ अभितः सर्वतः

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० क ।

† तै० सं० २. २. ६. ७ ।

‡ पुरस्तात् १२४ ए० ४५० (७. २. १. ३) द्रष्टव्यम् ।

आज्येन 'अक्तं' सिक्तं 'यत्' च 'अभिघारितम्' उपरि दृतधारया संस्कृतम्, 'तत्' 'शुष्टं' देवैः सेवितं योग्यम्, अत एव 'तत्' 'मिध्यम्' यन्नाहम् । आज्यकरणकत्वं मनूय स्त्रीति—“आज्येनेति । इविषां पाकसमये सुश्रुतत्वे सति आज्येन खल्वभिघारणं क्रियते, अतोऽत्राप्याज्येन प्रोक्षणं युक्तं मिति । अमम्वक्तृत्वतः मनूय स्त्रीति—“तूष्णीं मिति । आज्यप्रोक्षणे करणविशेषं विधाय स्त्रीति—“दर्भेरिति । दर्भैः करणभूतैराज्याभ्यक्तैस्तत् प्रोक्षणं कर्त्तव्यमित्यर्थः । “ते हि शुद्धा इति । “तप हैताः अनूपयिता आपो यद्दर्भा इति \* श्रुतेस्तेषां शुद्धत्वम् । तत्राप्यग्रभागैः कर्त्तव्यमिति विधायोपपादयति—“अग्रैरिति । “अग्रं हीति । दर्भेषु ह्यग्रभागो देवानां सम्बन्धी ; अत एवान्यत्रान्नातम्—“यत् परुषि दिनं तद्देवानां, यदन्तरा तन्मनुष्याणां, यत् समूलं तत् पितॄणां मिति † ॥ ३ ॥

प्रथमचितिप्रोक्षणसमये द्वितीयतृतीयादिचित्त्वर्थानां मिष्टकानां प्रोक्षणं विधित्सन् ‡ ब्रह्मवादिनां प्रश्नं भवतांरयति—“तदाहु रिति । प्रथमा मेवेत्येवकारेण प्रोक्षणस्यान्ययोगव्यावृत्तिः सूच्यते । एवं प्रथमचितिरेव प्रोक्षणात् सप्तचित्वात्मक एषोऽग्निरस्य यजमानस्य कथं प्रोक्षितो भवति ? न ह्येकदेश-प्रोक्षणे कृत्स्नोऽग्निः प्रोक्षणसंस्कारसंस्कृतो भवतीत्यर्थः ; तथा प्रागुक्तानङ्कुर्मणि द्वितीयादिचित्तीनां प्रणयनं कथम् ? अश्व-

\* १ का० १ प्र० ३ ब्रा० ५ क० ( १भा० ६० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

† ते० ब्रा० १. ६. ८. ६. ७ ।

‡ 'विधित्सुः'—इति च-पाठः ।

सहितं प्रणयनञ्च कथं सिध्यति ? इति त्रयः प्रश्नाः । अस्मोत्तर-  
माह—“यदेवात्रेति । ‘अत्र’ अस्मिन् समये ‘सर्वासां चितीनां’  
सम्बन्धिनीः ‘इष्टकाः’ आग्नयेन दर्भाग्रैः ‘प्रोक्षति’ इति यदस्ति,  
‘एवम्’ एव प्रनेन प्रकारेणैव स्तु ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एषः सर्वः’  
सप्तचितिकः ‘अस्मिः’ ‘प्रोक्षितो भवति’ । एव मेव चर्माधि-  
करणकप्रणयनं मण्डसहितप्रणयनं चास्मादेव प्रोक्षणात् सिध्य-  
तीत्यर्थः । अथ चर्मण्यवस्थितानां प्रथमचित्यर्थानां मिष्टकानां  
सुदुग्रहणं विधत्ते—“उद्यच्छन्तीति । चर्मणः सकाशादिष्टका  
सुदुग्रहन्ति यजमानपरिचारकाः ॥ ४ ॥

अथाहवनीयदेशं प्रति निनयनं विधिक्षुस्तदर्थं होतार  
सुदिश्याध्वर्योः सम्प्रैषवचनं विधत्ते—“अथाहेति । “अग्निभ्यः  
प्रक्रियमाणेभ्योऽनुब्रूहि”—इति सम्प्रैष मध्यर्ग्युर्नूयात् । बहुवचनान्ते-  
नाग्निशब्देनाग्न्यवयववाञ्छितयो विवक्षिताः \* । आहवनीयदेशं प्रति  
प्राचीनं क्रियमाणेभ्य इष्टकारूपेभ्योऽग्न्यवयवेभ्यः “हे होतरनु-  
ब्रूहि”—इति प्रैषार्थः † । तच्चानुवचनं होतुराश्वलायनेन दर्शि-  
तम्—“प्रेषितः पुरीषसञ्चितयेऽन्वाहेति प्रक्रम्य पुरीषासो  
चमय इति ‡ त्रिरूपांश्च सप्रचवा मिति । एतच्चाग्रे एकीय-  
मतत्वेनोपन्यस्य पचान्तर मप्यान्वास्यते—“आग्नेयीरन्वाहेति § ।  
सम्प्रैषानन्तरम् प्रथमचित्यर्थानां मिष्टकानां पूर्वस्यां दिशि हरणं

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २१ ।

† ‘सम्प्रैषार्थः’—इति च-पाठः ।

‡ वा० सं १२. ५० ।

§ पुरस्तादिहेव २०३ पृ० ४ पं० दृश्यम् ।

विभित्सुस्तदाख्यायिकाया स्तौति— “एतद्दे देवानिति । ‘एतद्’  
 एतस्मिन् समये ‘रक्षांसि’ रक्षोरूपाः ‘नाष्टाः’ नाशकारिण्यः प्रजाः  
 ‘देवान्’ ‘अजिघांसन्’ हन्तुं मैच्छन् । कथञ्चूतान् ? ‘प्रेक्षतः’  
 प्राचीन माह्वनोयं देशं गन्तुं मुद्युक्तान् । ‘एतम्’ अग्निचयना-  
 त्ककं ‘यज्ञं’ ‘तंस्वमानान्’ विस्तारयिष्यमाणान् ‡ । जिघांसूना  
 मभिप्राय माह — “न यक्ष्यध्व इत्यादि । हे देवाः ! यूयं न  
 ‘यक्ष्यध्वे’ यागं न करिष्यथ , तथा ‘यज्ञं’ ‘न तंस्वध्वे’ न विस्तार-  
 यिष्यथ † ‘इति’ अनेनाभिप्रायेण एवं दृष्टाभिप्रायेभ्यः ‘तेभ्यः’  
 रक्षोभ्यः ‘एतान्’ चितिरूपान् ‘अग्नीन्’ ‘एताः’ तदवयवभूताः  
 ‘इष्टकाः’, द्वितीयावहुवचन मेतत् , ‘क्षुरपवीन्’ क्षुरवत्तीक्ष्णधरोमे-  
 तान् वप्यान् ‘कृत्वा’ ‘प्राहरन्’ पूर्वादिदिगवस्थितानि तानि रक्षांसि  
 लक्ष्मीकृत्य प्रहृतवन्तः । ‘तैः’ इष्टकारूपैर्वज्रैः ‘एतान्’ अक्षुरान्  
 ‘अस्तृण्वत’ अहिंसन् । ‘तान्’ ‘स्तृत्वा’, ‘अभये’ भयरहिते ‘अनाद्रे’  
 नाशरहिते ‡ ‘एतं’ यज्ञम् ‘अतन्वत’ विस्तारितवन्तः ॥ ५ ॥

एव माख्यायिकाया इष्टकाहरणस्य रक्षोनिरसनहेतुता  
 मुक्ता प्रकृते योजयति— “तदा एतदिति । ‘तत्’ खलु ‘एतद्’  
 वैः कृत मिष्टकानां प्रहरणं मतं ‘क्रियते’ यजमानैरनुष्ठीयते ।  
 किं पुनस्तदेतदित्याह— “यद्देवा इति । देवैरेव रक्षसां  
 निरस्तत्वादिदानीन्तनयजमानकर्तृक मिष्टकानां प्रहरणं केवलं  
 तदनुकरणार्थं मित्याह— “इदं न्वित्यादिना । ‘इदं’ तु ‘इदानीं’

व ‘विस्तारिष्यमाणान्’—इति च-पाठः ।

† ‘विस्तारयथ’—इति च-पाठः ।

‡ ‘नाशकरहिते’—इति क-पाठः ।



खलु यज्ञविरोधीनि 'तानि रक्षांसि' 'दैवैरेव' 'अपहतानि' \*  
बाधितानि । अतो 'यद्' 'देवाः' 'पूर्वम्' अकुर्वन् 'तत्' इदानीं मह  
मपि 'करवाणीति' तदनुकरणं मेवेदानोन्तनेष्टकाप्रहरणस्य  
प्रयोजनं मित्यर्थः ॥

निरस्तसजातीनां रक्षसां पाप्मनाच्च विद्यमानत्वात्तच्चिरसन-  
हेतुत्वं मपि सम्भवतीति पक्षान्तरं माह— “अथो यदेवेति ।  
पक्षान्तरद्व्योतकोऽयोशब्दः । 'यदेव रक्षो यः पाप्मा' इति च  
जातावेकवचनम् ; 'तेभ्य इति प्रतिनिर्देशबहुत्वस्य श्रुतत्वात् ।  
'तेभ्य एतानित्यादि , पूर्ववत् योज्यम् ।

अस्माच्चार्थवादादिष्टकाः पुरस्तादरेदिति विधिरुचेतव्यः † ॥ ६ ॥

स प्रैवं व्याचष्टे— “तद्यदग्निभ्य इति । ननु एक एव  
चित्तोऽग्निः , कथं मस्य बहुत्व मित्याशङ्क्याह— “बहवो हीति ।  
सप्तचित्त्यभिप्रायेण बहुवचनम् । तासां मन्वेकदेशत्वादग्निशब्दा-  
भिधेयता ॥

“अथ यत् प्रक्रियमाणेभ्यः”—इति । पदं मनूय निर्वृत्ति—  
“प्र हीति । 'हि' यस्मादध्वर्युरिमा इष्टकाः 'प्रहरति' पुरस्तादा-  
हवनीयदेशं प्रापयति , अतः प्राचीनं क्रियन्त इति प्रक्रिय-  
माणास्तेऽग्नय उच्यन्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र होत्रानुवक्तव्या सृच मेकीयमतेनोपन्यस्य व्याचष्टे— “त-  
च्चैक इति ‡ । 'तत्' तत्र खलु 'एके' केचन ऋक्शाखाध्यायिनः

\* 'अपहतानि'—इति च बहुमूलपुस्तकपाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २४ ।

“पुरीथासो अग्नय इत्येता सृच मन्वाहुः \* , तत्र पुरीषशब्दस्य पशुपर्यायत्वात् पुरीथास इत्यस्य पशव्यास इति व्याख्यानम् ; पशुभ्यो हिता इत्यर्थः । “प्रावणेभिरिति । प्र शब्दोपेतं पदं सूचकं रूप मित्यर्थः ॥

एतदेकीयं मतं प्रतिषिध्य स्वमत माह— “न तथा कुर्यादिति । ‘आग्नेयीः’ अग्निदेवताकाः , ‘कामवतीः’ कामशब्दोपेताः , ‘गायत्रीः’ गायत्रीच्छन्दस्का एव ऋचः ‘अनुब्रूयात् । काः पुनस्ता इति ता आह— “आ ते वक्ष इत्यादिना † ॥ ८ ॥

आग्नेयीत्यादिधर्मानवयुत्पानूद्य स्तौति— “आग्नेयीरन्वाहेति । देवतारूपेणाग्निना तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां रूपाणां मुपासिर्भवतीत्यर्थः । तथा तासां सृचां कामशब्दोपेतत्वात् सर्वकामोपाप्तिरपि भवति । “रेतोभूतं सिञ्चतीति । अस्या भवस्थायी रेतःसंस्तुतानां सिकतानां निवपनात् रेतोरूपापन्नः खल्वयं चित्योऽग्निस्तादृशं ‘सिञ्चति’ अङ्गप्रत्यङ्गयुक्तं संस्कारीतीत्यर्थः । ऋचां जित्व मनूय स्तौति— “तिस्र इति । निगदसिद्ध मेतत् । “ताः सप्तेत्यादि । ‘ताः’ तिस्र ऋचः ‘सप्त’ सङ्ख्याकाः ‘सम्पद्यन्ते’ । सम्पत्तिप्रकारमाह— “सहेति । ‘त्रिः’ त्रिवार मुक्ताभ्यामाद्योत्तसाभ्यां ‘सङ्’ ‘सप्त’ सङ्ख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । “सप्तर्त्तवः संवत्सर इति । वसन्ताद्याः षट् , संसर्प्याहस्यतिलक्षणः सप्तम ऋतुः ‡ ॥

\* ऋ० सं० ३. २२. ४ ; वा० सं० १२, ५० ।

† वा० सं० १२. ११५, ११६, ११७ ।

‡ “संसर्प्योऽहस्यताय त्वा”—इति तै० सं० १. ४. १४. १ ।

अनुवचने उपांशस्वरं विधाय स्तौति— “उपांशश्चाहेति । यथा पार्श्वस्था जना न शृण्वन्ति, तद्यानुब्रूयादित्यर्थः । ‘अन्नं’ अस्मिन् समये रेतोरूपः खलु ‘यज्ञः’, रेतःसेचनस्योपांशत्वं परैरन्नायमानतया कसंश्र्यत्वं लोके प्रसिद्धम् ; तस्मादनुवचनमुपांशु कर्त्तव्यमित्यर्थः । अनुवचनसमये होतुरनुगमनं विधत्ते— “अनुवचनमेवेति । अनुवचनं कुर्वन् होता स्वयं मपीष्टकाः ‘अन्वेति’ अनुगच्छति । सर्वेषु छन्दःसु गायत्र्या अन्तर्भावात्तदन्तर्भूतैः ‘छन्दोभिरेव’ ‘एतत्’ एतेनानुगमनेन ‘यज्ञं’ ‘पश्चात्’ पृष्ठतः ‘अभिरचन्’ अभितः ‘पश्चात्’ सर्वतो रक्षःप्रभृतिभ्यो गोपायन् ‘एति’ ॥ ८ ॥

इष्टकाहरणसमये श्वेतस्याश्वस्य पुरतो नयनं विधत्ते— “अथाश्व मिति \* । अश्वस्यादित्यरूपवज्ज्वात्मकत्वं कथयन् तस्मै पुरस्तान्नयनं यज्ञविघातकरक्षोनिर्हरणहेतुत्वेन स्तौति— “एतद् वा इत्यादिना । “यद्वै न इति । ‘नः’ अस्मानित्यर्थः । “असौ वा आदित्य एषोऽश्व इति । विड् रूपस्य प्रजापतेरश्वस्यैव हि चक्षुषी, अश्वश्च तदीयाश्चक्षुष उत्पन्नः । तथा च श्रूयते— “प्रजापतेरश्वस्यैव तत्परापतत् ततोऽश्वः समभवदिति † । अत एव तैत्तिरीयेऽपि श्रूयते— “अमु मादित्य मश्वं श्वेतं भूतं

“संसर्पोऽस्यांश्वात्वाय त्वेवाहासि तयोद्गो मास इवाहुः”—इति तद्ब्राह्मणम् । ते० सं० ६. ५. ३. १० । अ० सं० १. २५. ८ । य० वा० सं० २२. ३०, ३१ । “असङ्क्रान्ति-दिसङ्क्रान्ती संसर्पाहवती समौ”—इति च नारदब्राह्मणायाम् (ज्यो०) ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ख ।

† ते० सं० ५. ३. १२. १ ।

दक्षिणा मनयन्निति । “स्वस्ति समाश्रवतेति । ‘स्वस्ति’  
अविनाशरूपं क्षेमं सम्यगाप्नुवन्नित्यर्थः \* । अन्यद् व्याख्यात-  
प्रायम् । अग्निक्षेत्रसमीपगमनं विधत्ते — “आगच्छन्त्यग्नि मिति ।  
अश्वप्रमुखास्ते ऋत्विग्यजमाना इष्टकाभिः सहाग्निसमीप  
मागच्छेयुः, आगत्य च अग्निपुच्छस्य दक्षिणभागे चर्मणा-  
हतां ‘चितिम्’ ‘उपनिदधति’ चित्यर्थं मानोता इष्टकाः स्थाप-  
यन्तीत्यर्थः † ॥ १० ॥

“तं सुत्तराङ्गेनेति । तस्याग्निपुच्छस्योत्तरभागेन परिश्रिताख्याः  
शर्कराः ‘अन्तरेण’ परिश्रिता मग्नेश्च मध्यप्रदेशे ‘प्राञ्च’ प्राङ्मुखं  
‘नयन्ति’ । ‘तत्’ तेन ‘प्राञ्चे’ षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । प्राचोदिकस्त्वन्धि  
‘पाप्मानम्’ आदित्यात्मकाश्चलक्षणेन वक्ष्येण ‘अपहन्ति’ हिनस्ति ।  
पुनः ‘तम्’ अश्वं पूर्वस्यां दिशि अग्नेः परिश्रितां च मध्ये ‘दक्षिणा’  
दक्षिणतो निहितमुख मित्यर्थः । “दक्षिणादाच्” ‡ । गतं मन्यत् ।  
“तं प्रत्यञ्च मित्यादावेवं योज्यम् । एषं चतसृषु दिक्षाक्रामणेन  
‘सर्वाभ्य एव दिग्भ्यः’ ‘रक्षांसि’ विनाश्यानन्तरम् ‘एनम्’ अश्वम्  
‘उदञ्चन्त्याच्च’ प्रागुदङ्मुख मित्यर्थः । ‘प्रसृजति’ विमुञ्चति ।  
‘तस्य’ प्रागुदङ्गतस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागान्त्रात इत्यति-  
दिशति — “तस्योक्त इति । एवं हि प्रागान्त्रातम् — “एषा  
होभयेषां देवमनुष्याणां दिग् यदुदीची-प्राचीत्यादि § ॥ ११ ॥

तस्याश्वस्य प्रत्यङ्मुखनयनसमये चितेरवन्नापणं विधत्ते — “तं

\* ‘सम्यगाप्नुवन्नित्यर्थः’ — इति च-पाठः ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. ३२ ।

‡ प्रा० सू० ५. ३. ३६ ।

§ इका० ४प्र० ४ब्रा० ३क० ।

प्रत्यञ्च मिति \* । पुच्छस्य दक्षिणतो निहिताम् 'एतां चितिं' 'प्रत्यञ्चं'  
 प्रत्यङ्मुखं 'यन्तं' गच्छन्तं 'तम्' अश्वम् 'अवघ्रापयति' यथा सोऽश्व-  
 खिति मवजिघ्रति , तथा तं प्रेरयेदित्यर्थः । "घ्रा गन्धोपादाने" †  
 -इत्यस्मात्सिचि "अर्तिङ्गीत्यादिना ‡ पुक् । तदेतदिष्टकाना  
 मादित्येवघ्रापणं प्रजासु प्राणप्रतिष्ठापनहेतुत्वेन स्तीति—  
 "असौ वा आदित्य इत्यादिना । अश्वस्यादित्यात्मकत्वं युक्तम् § ।  
 'इमाः' परिदृश्यमाना देवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपाः 'सर्वाः प्रजाः'  
 ईदृक्प्रजारूपाः 'ईदृकाः' बहुत्वसाम्यात् । "असावेवेत्यादि ।  
 'तत्' तेनाश्वकर्तृकैष्टकावघ्रापणेन 'असौ' युलोकस्य आदित्यः  
 'एव' 'इमाः प्रजाः' प्राणात्मकैः स्वरश्मिभिः 'अवजिघ्रति' ॥  
 अवघ्राणं करोति । तस्मादेव कारणात् 'एतद्' इदानीं 'सर्वः'  
 जनः 'अस्मिन्' सव्यात्मको भवामि 'इति' 'मन्यते' स्वात्मसत्ता  
 मवगच्छति । "प्रत्यङ् मुखेवैष इति । प्रत्यङ्मुख एव 'एषः'  
 सूर्यो 'यन्' गच्छन् 'इमाः सर्वाः प्रजाः' स्वरश्मिभिः 'अभिजिघ्रति'  
 'हि' यस्मादेवं प्रत्यङ्मुखेन गच्छता अश्वेन चितेरवघ्रापणं  
 युक्तं मित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथैतदवघ्रापणं लोकत्रयसमावयने हेतुत्वेन स्तीति—"यदे-  
 वेत्यादिना । याः 'एताः' उपधास्यमानास्तिष्ठः स्वयमाह-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २६ ।

† धा० भा० प० ६२६ ।

‡ पा० सू० ७. ३. २६ ।

§ पुरस्तादिहैव २१६ पृ० १३ पं० दृश्यम् ।

॥ 'अभिजिघ्रति'—इति सर्वमूलपुस्तकसम्मतः पाठः ।

लाख्याः 'शर्कराः' क्षुद्रपाषाणाः पृथिव्यादिलोकत्रयात्मिकास्ताः ।  
 'तत्' तथा सति अखेन 'अवघ्रापयति' इति 'यद्' अस्ति ; 'तत्'  
 तेन 'असावादित्य एव' 'इमान्' पृथिव्यादीन् 'लोकान्' खरन्ध्या-  
 त्मके \* 'सूत्रे' मणिवत् 'समावयते' सम्यक् प्रोतान् करोति ।  
 "वेज् तन्तुसन्ताने"—इति † धातुः । यदेतत् सूत्रं , 'तस्य' प्रति-  
 पादको वाक्यशेषो उपरिष्ठादान्नास्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथैतदेवाखकर्तृकं मवघ्रापणं मनूय अखलक्षणेनैव प्रजा-  
 पतिना रूपेण निलीयमानस्याग्नेधेतव्यस्य पुत्रलाभो नान्येनेत्या-  
 ख्यायिकया स्तोति— "यद्वैवेत्यादिना ‡ । "स्वाय पित्र इति ।  
 ज्ञात्याख्यायां वर्तमानत्वादस्य स्व-शब्दस्य सर्वनामसञ्ज्ञा पर्यु-  
 दस्ता "स्व मज्जातिधनाख्याया मिति § ; अतः सर्वनामकार्यं न  
 क्रियते । "त मखः शुक्ल इत्यादि । इत्थं देवैरभ्यर्थितः प्रजा-  
 पतिः 'शुक्लः' शुक्लवर्णः 'अखो भूत्वा' स्वपुत्रं अप्सु निलीनं तम्  
 अग्निम् 'अन्वेच्छत्' अन्विष्टवान् । अन्विष्टं 'तम्' अग्निम्  
 'अद्भ्यः' सकाशात् 'उपोदासृजम्' उपनिष्क्रान्तम् पद्मिनीपत्रे स्थितं  
 'विवेद' लेभे । 'तम्' 'अभि'-गम्य 'अवेक्षाञ्चके' ईक्षितवान् । 'सः'  
 खल्वग्निः 'एनम्' अखरूपिणं प्रजापतिम् 'उदुवोष' उत्पत्य  
 ददाह । "जष दाहे ॥"—इत्यस्मात्तिट् । एवं यस्मादुवोष , 'तस्मात्'

\* इह 'खरन्ध्यात्मके'—इति च-पाठः , 'खरन्धिभ्यात्मके'—इति  
 क-पाठः । अन्यत्र ग्रन्थाभावः ।

† धा० भ्वा० उ० १००७ ।

‡ का० अ० सू० १७. ३. २६ ।

§ पा० सू० १. १ ३५ ।

॥ धा० भ्वा० प० ६८३ ।

कारणात् शुक्लवर्णः 'अश्वः' 'उदुष्ट मुख इव' उत्तिष्ठत्मुख इव लोके दृश्यते । 'अथो' खलु तस्मादेवाग्निशाहात् सोऽश्वो 'दुरक्षो भावुकः' दुष्टे अक्षिणी यस्यासौ दुरक्षः । "बहुव्रीही सकृत्स्थो रिति \* पञ्च-समासान्तः । दुष्टाक्षिभ्यां युक्तो भवितुं शीलवान् भवतीत्यर्थः । 'तम्' अश्वरूपिण मेव प्रजापतिं 'ऋत्वेव' अर्त्ति† गमयित्वेव, 'हिंसित्वेव' हिंसनं कृत्वेव । 'इव'-शब्दो वाक्यालङ्कारे, अर्त्तिहिंसयोरपारमार्थ्यद्योतको वा ; न ह्यश्व-सम्बन्धिहिंसादिना परमार्थतः प्रजापतेर्हिंसा भवतीत्यभिप्रायः । एव मश्वं दाहेन हिंसित्वा पश्यान्मदीयः प्रजापतिरेवाय मश्व-रूपेण स्थित इति 'मेने' ज्ञातवान् । अथ च भीतः सन् 'तम्' अश्वरूपिणं प्रजापतिम् 'उवाच' हे प्रजापते ! 'तुभ्यं वरम्' अभिलषित मर्थं 'ददामि' प्रयच्छामि ॥ १४ ॥

"स होवाचेति । 'सः' खलु 'उवाच' प्रजापतिः । 'अनेन' अश्वेन मदीयरूपेण 'यः' यजमानः 'त्वा' त्वाम् 'अन्विच्छात्' । लोट आडागमः‡ । 'सः' यजमानस्त्वां 'विन्दादेव' लभेतैव । एतं वर मष्टं वृणे इत्यर्थः । "स यो हैन मित्यादिना आख्यायिकासिद्धस्यार्थस्य प्रकृते योजनम् । 'एनम्' अग्निम् 'एतेन' अश्वेन 'रूपेण' 'वित्त्वा' लब्ध्वेत्यर्थः । स्पष्ट मन्यत् ॥ १५ ॥

तस्याश्वस्य वर्णनियमं विधाय स्तीति—"स शुक्लः स्यादिति § ।

\* पा० सू० ५. ४. ११३ ।

† 'अर्त्ति'—इति जातिरिक्तेषु पुस्तकेषु पाठः ।

‡ पा० सू० ३. ४. ६४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

‘तत्’ खलु शौक्लाम् ‘एतस्य’ सूर्यस्य ‘रूपम्’, ‘य एषः’ परिदृश्य-  
मानः सन् अन्तरिक्षे रश्मिभिः ‘तपति’, अतस्तत्कारूप्याय शुक्ल-  
वर्ण एवाश्वो नेतव्य इत्यर्थः । तदसम्भवे वर्णान्तरविशिष्टोऽपि  
स्यादित्याह— “यदि शुक्ल मिति । शुक्लाभावे लोहितश्यामा-  
दिवर्णविशिष्टो भवेत्, स च तादृशोऽश्वस्त्वेव कर्त्तव्यः ।

अश्वासम्भवे पक्षान्तर मप्याह— “यद्यश्व मिति \* ।  
ननु अगदुहः सूर्यात्मकवज्ररूपत्वाभावात् पापहृन्ननरूपाश्चकार्य-  
करत्वं कथं स्यादित्याशङ्क्याह— “आग्नेयो वा इति । अग्नि-  
समीपे निर्वापार्थं स्थितस्यानसो वह्नादनङ्गानग्निदेवताकः,  
‘अग्निः’ अपि ‘सर्वेषां पाप्मनां’ रक्षसाञ्च ‘अपहृन्ता’ बाधकः,  
अतस्तथाविधाग्निदेवताकत्वादनङ्गानप्यश्ववत् रक्षांसि पाप्मनञ्च  
विनाशयितुं शक्नोतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अग्निक्षेत्रस्याधिरोहणे प्रकारविशेषं विधितुः प्रसूति—  
“अथात इति † । यतोऽध्वर्युणा आहुतिप्रदानसमयेऽग्निक्षेत्र-  
स्याधिरोहण मपेक्षितम्, अतः कारणात् ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अधि-  
रोहणस्यैव’ । अधिरुपर्यर्थः ‡ । अग्निक्षेत्रस्योपरि पादनिधान-  
सक्षणं क्रमण मधिरोहणम्, तस्यैव विचारः क्रियत इति  
शेषः । तत्रैकीयं मत मुपन्यस्य निरस्यति— “तं हैक इति ।  
“पुरस्तात् प्रत्यञ्च मिति । पूर्वभागे प्रतिमुख मञ्चन्त मात्मा-  
भिमुख्येन स्थित मग्निं मुखप्रदेशे ‘अधिरोहन्ति’-इत्येकः पक्षः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २० ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ३. २३ ।

‡ निरु० १. १. ५ ।



“पश्चाद्वेति, पश्चान्तरम् । ‘पश्चाद्’ भागे पुच्छभागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाञ्चन्तम् अनभिमुखं मग्निं मारोहन्तीत्यर्थः \* । “न तथ कुर्यादिति । एतस्य पक्षद्वयस्य निषेधः । पक्षद्वयेऽपि दोष माह— “पशुरेष इति । अग्निरिति यदस्ति पशुरूपः †, ‘यः’ खलु ‘पशुं’ ‘पुरस्तात्’ पूर्वभागे ‘प्रत्यञ्चं’ प्रतिसुखं मञ्चन्तम् ‘अधिरोहति’ ‘तं’ पशुं ‘विषाणाभ्यां’ शृङ्गाभ्यां ‘हन्ति’ ॥

‘अथ’ एतद्दोषपरिहाराय ‘पश्चाद्’ भागे ‘प्राञ्चं’ प्रकर्षेणाञ्चन्तं ‘तम्’ अनभिमुखं सन्तं पशुं मारोहति, ‘तम्’ आरोहन्तं पुरुषं स पशुः ‘पद्भ्यां’ पाद्यात्यपादाभ्यां माहन्ति । यद्येवं पूर्वपश्चिम-भागयोरुभयत्राप्यारोहणे दोषः, कथं तर्हि तदारोहणं कर्त्तव्यमित्यत्राह— “आत्मनैवेति । शिरःप्रदेशं पादप्रदेशञ्च विहाय ‘आत्मना’ आत्मभागेन मध्यप्रदेशेन ‘एव’ ‘एनम्’ अध्ययुः ‘आरोहत्’ । लौकिकस्यापि पशोर्मध्यदेहेनैवारोहणं यतो दृश्यत इत्याह— “यं वा इति । ‘यं’ खलु ‘पशुम्’ अश्वादिकम् ‘आत्मना’ शिरःपुच्छदेशौ विहाय मध्यप्रदेशेन ‘आरोहन्ति’, ‘सः’ पशुः तान् ‘पारयति’ पारं गन्तव्यावधिम् प्रापयति ; ‘न’ च ‘हिनस्ति’ आरूढं पुरुषं न व्यथयति । एव मग्नेरप्यधिरोहणं मात्मभागे कर्त्तव्यमिति विहितम् । तत्राप्युत्तरतः कर्त्तव्यमिति विधत्ते— “उत्तरत इति । पुच्छस्योत्तरभागे उत्तरपक्षस्य च सन्धौ तदधिरोहणं कर्त्तव्यम् । लोकप्रसिद्धिरप्येवमेवेत्याह— “यं हि कञ्चेति । ‘यं’ कम् अपि अश्वादिलक्षणं

\* का० श्रौ० सू० १७.१३. २४ ।

† ‘सम्यग्रूपः’—इति च-पाठः ।

‘पशु मारोहन्ति’ लौकिकाः, ‘उत्तरतः’ वामभागत ‘एवेन मारोहन्ति ॥

आरोहणान्तरं प्राकृतवैकृतपदार्थानां मनुष्ठाने क्रमविशेषं मनुक्तामिति— “आरुह्याग्निं मिति । आरोहणान्तरम् ‘औत्तर-वेदिकम्’ उत्तरवेदिसंस्काररूपं यत् कर्मजातं मस्ति, तत् कृत्वेत्यर्थः \* । तच्च कात्यायनेन विशदं सुक्तम्— “पशुवदुत्तरवेदि-प्रोक्षणाद्यां सभारनिवपनात् कृत्विति † । तदनन्तरम् ‘आत्मन्’ अर्ध्वर्युः स्वात्मनि स्वकीयम् ‘अग्निं’ ‘गृह्णीते’, यथा बहि-धित्याग्निप्रदेशे न निष्क्रामति, तथा “मयि गृह्णामि”—इति ‡ मन्त्रजपेन § स्वात्मनि धारयेदित्यर्थः । तदुक्तं कात्यायनेन— “उत्तरवेदि मन्तरेण ॥ ०—० मयि गृह्णामीति जपतीति ¶ । अग्निग्रहणान्तरं यत् सत्यसामेति प्रसिद्धं सामवेदे \*\*\* तदज-मानो गायेत् ¶¶ ॥

पुष्करपर्णस्योपधानं विधत्ते— “पुष्करपर्णं सुपदधातीति ††† । “तस्यात इति । ‘तस्य’ पुष्करपर्णीपधानस्य ‘अतः’ अस्माद् ब्राह्मणादुत्तरस्मिन् ब्राह्मणे (३प्र० १ब्रा० ७क०) “योनिर्वै पुष्कर-पर्णं मित्यादिना वाक्यशेषेण स्तुतिः करिष्यत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

\* ‘उत्तरवेदिसंस्काररूपं कर्म कृत्वेत्यर्थः’—इति ज-पाठः ।

† का० औ० सू० १७. ३. २६, २७ ।

‡ वा० सं १३. १ । § ‘मन्त्रपदेन’—इति ज-पाठः ।

॥ ‘मन्तरेण’—इति का० औ० सू० वाल्मीकि-सुद्धित-पाठः ।

¶ का० औ० सू० १७. ३. २७ ।

\*\*\* सा० वि० ब्रा० १. १. २ ।

¶¶ का० औ० सू० १७. ३. २८ । †† का० औ० सू० १७. ४. १ ।

सायङ्काले कर्त्तव्यं विधत्ते— “अथैत मिति । ‘अथ’ पुष्करपर्वापधानानन्तरम् ‘एत मखं’ ‘साये भूते’ अङ्गोऽवसाने जाते ‘परिणयन्ति’ अग्निदेवं परित आवर्त्तयन्ति \* । “षी अस्त-कर्मणि †”—इत्यस्मात् जातः सायशब्दः । अथैतदश्वस्य परितो नयनं यज्ञविघातकरक्षोनिमित्ताद् भयाद्रक्षणहेतुत्वेन स्तौति— “एतद्वै देवा इति । “एतं वक्ष्य मिति । अश्वात्मकं वक्ष्य मित्यर्थः । ‘अभिगोप्तां’ अभितः सर्वासु दिक्षु रक्षितारम् । “असु मेवादित्य मिति । असुभिन्नाकाशे दृश्यमानम् ‘आदित्यम्’ आदित्यात्मक मखम् । अश्वस्य चादित्यात्मकता प्रागेवोक्ता ‡ , इदानी मप्याह— “असौ वा आदित्य इति । “तथैवास्मा इति । यथा सूर्यो राक्षसाद्यज्ञस्याभिगोप्ता , तेनैव प्रकारेण ‘अयम्’ अश्वर्युः ‘अस्मै’ चेष्यमाणायाग्नये ‘एतम्’ अश्वात्मकं वक्ष्यम् । सिद्ध मन्थत् ॥ १८ ॥

सायङ्कालेऽप्यस्तमयात् प्रागेवाश्वपरिणयनस्य कर्त्तव्यता माह— “तं वा इति । ‘आदित्यस्य’ ‘अस्तमय सुप’ अस्त-मयस्य समीपे आदित्ये विद्यमाने सत्येवेति यावत् । “एष वा अस्तेत्यादि । ‘एषः’ खलु आदित्यः ‘अस्य’ चीयमान-स्याग्नेः ‘दिवा’ अङ्गि ‘प्रत्यक्षं गोप्ता भवति’ । रात्रिं सचन्ते समवयन्ति इति ‘रात्रिसाचयानि’ रात्रौ सञ्चरणशीलानि खलु ‘रक्षांसि’ तादृश्या ‘रात्रा एव’ सकाशात् ‘अस्मै’ चित्या-

\* का० श्रौ० सू० १७. ३. २५ ।

† धा० दि० प० ४१ ।

‡ पुरस्तादिहैव १०३ पृ० १७ पं० द्रष्टव्यम् ।

अथे 'एतम्' अखात्मकं 'वज्रं' परोक्षमादित्यात्मकम् 'अभि-  
 गोप्तारम्' अभितो रक्षितारं करोति । 'परिणयति'—इति परि-  
 शब्देन सूचितं मर्थे स्तोतुमाविष्करोति— "सर्वत इति ।  
 'सर्वतः' सर्वासु दिक्षु । परिणयनक्रियायाः त्रिरावृत्तिं विधाय  
 स्तौति— "त्रिष्कृत्व इति । "त्रिवृत्तमेवास्मा इति । 'त्रिवृत्तं'  
 त्रिगुणितम् । "अथैनमुदञ्च भित्वादि । 'अथ' त्रिष्कृत्वः  
 परिणयनानन्तरम् 'एनम्' अश्वं प्राशुदञ्चं विसृजेत् । तस्य च  
 स्तावको वाक्यशेषः प्राक्समास्नात् इत्यर्थः । तस्याश्वस्य पुनः  
 प्रयोगं विधत्ते— "अथ स पुनरिति । 'सः' अश्वः पुनर् 'विपल्ययते'  
 विपरिवर्त्तते, उपधानकाले \* कर्मणोऽङ्गभावं प्रतिपद्यत इत्यर्थः ।  
 "अथ पय गतौ †"—इत्यस्मात् लट्, "उपसर्गस्यायतौ"—इति  
 लत्वम् ‡ । 'तस्य' अश्वपर्यावर्त्तनस्योपरिष्ठात् प्रयोजनमभिधास्यत  
 इत्यर्थः ॥ १८ ॥ ४ [३. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे तृतीयाध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ३ ॥

\* 'उपचारकाले'—इति च-पाठः ।

† घा० आ० आ० ४७४ ।

‡ पा० सू० द. २. १६ ।

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूर्ववै स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्ताब्दीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतत्त्वताधेनुसौवर्णभूमौः ।  
 रत्नोक्तां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ साययिः सिङ्गणार्यौ ,  
 व्यश्राणीद्विस्त्रचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटश्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजम्भा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
 चाज्योत्थं प्राज्यजम्भा लवणज मन्थुः शर्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाब्जो रत्नरूपं गिरि मज्जत सुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्भ्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्नाज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ ३ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे द्वितीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अत्रत्याटीयान्यः पञ्चमकाण्डीयद्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्याः ।

† एतस्मात्प्रपाठकसमाप्तिवचनाद्वनन्तरम्— “कण्डिकाः १०५”—

इति क, ख, “कण्डिकासप्त्या १०५”—इति ग, घ । तन, १ब्रा० ६क०,  
 २ब्रा० ३०क०, ३ब्रा० ४७क०, ४ब्रा० १६क० ; सङ्कलनयान् द्वितीय-  
 प्रपाठकीयचतुर्थं ब्राह्मणेषु १०५ कण्डिकाः श्रुता इति सिद्धम् ॥

अथ

तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

चतुर्थाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।

॥ हरिः ॐ ॥

आत्मन्नग्निं गृह्णीते चेष्ट्यन् । आत्मनो वा  
ऽएत मधिजनयति यादृशाहै जायते तादृङ्खेव  
भवति स यदात्मन्नगृहीत्वाग्निं चिनुयान् मनुष्या-  
देव मनुष्यं जनयेन्मर्त्यान्मर्त्यं मनपहतपाप्मनोऽनप-  
हतपाप्मन मथ यदात्मन्नग्निं गृहीत्वा चिनोति  
तदग्नेरेवाध्यग्निं जनयत्यमृतादमृतं मपहतपाप्मनो-  
ऽपहतपाप्मानम् ॥ १ ॥

स गृह्णाति । मयि गृह्णाम्यग्रे ऽअग्नि मिति ।  
तदात्मन्नेवाग्रेऽग्निं गृह्णीते \* रायस्पोषाय सुप्रजा-

\* 'गृह्णाति'—इति ग, घ ।

स्त्वाय सुवीर्यायेति तदु सर्वा आशिष आत्मन्  
 गृह्णीते मा मु देवताः सचन्ता मिति तदु सर्वान्  
 देवानात्मन् गृह्णीते तद्यत् किञ्चात्मनोऽधि जन-  
 यिष्यन् भवति तत् सर्वं मात्मन् गृह्णीते स वै  
 तिष्ठान्नात्मन्नग्निं गृह्णीत्वानूपविश्य चिनोति पशु-  
 रेष यदग्निस्तस्मात् पशुस्तिष्ठन् गर्भं धित्वानूप-  
 विश्य विजायते \* ॥ २ ॥

अथ सत्यं साम गायति । एतद्वै देवा  
 अब्रुवन्सत्यमस्य मुखं करवाम ते सत्यं भविष्यामः  
 सत्यं नोऽनुवर्त्यति सत्यो नः स कामो भविष्यति  
 यत् कामा एतत् करिष्यामह ऽद्विति ॥ ३ ॥

तु ऽएतत् सत्यं साम पुरस्तादगायन् । तदस्य  
 सत्यं मुखं मकुर्वन्स्ते सत्यं मभवन्सत्यं मेनानन्व-  
 वर्त्तत सत्यं एषां स कामोऽभवद्यत्कामा एतद्-  
 कुर्वन्त ॥ ४ ॥

तथैवैतद्यजमानः । यत् सत्यं साम पुरस्ताद्

\* 'विजायते' इति क, ख ।

गायति तदस्य सत्यं मुखं करोति स सत्यं भवति  
सत्य मेन मनुवर्त्तते सत्योऽस्य स कामो भवति यत्-  
काम एतत् कुरुते \* ॥ ५ ॥

तद्यत् तत् सत्यम् † । आप एव तद्वापो हि  
वै सत्यं तस्माद्वेनापो यन्ति तत् सत्यस्य रूप  
मित्याहुरप एव तस्य ‡ सर्वस्याय मकुर्वन्तस्मा-  
द्यदेवापो यन्त्यथेदं सर्वं जायते यदिदं  
किञ्च § ॥ ६ ॥

अथ पुष्करपर्णं मुपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनि मेवैतदुपदधाति ॥ ७ ॥

यदेव पुष्करपर्णं मुपदधाति । आपो वै  
पुष्करं तासा मियं पर्णं यथा ह वा ऽद्भुतं पुष्कर-  
पर्णं मण्डस्वध्याहित मेवमिय मण्डस्वध्याहिता सेयं योनि-  
रग्नेरियं ह्यग्निरस्यै हि सर्वोऽग्निश्चीयत ऽब्रुमा

\* 'कुरुते'—इति ग, घ ।

† 'सत्यम्'—इति क ।

‡ 'तदस्य'—इति क, ख ।

§ 'किञ्च'—इति ग, घ ।



मेवैतदुपदधाति ता मुनन्तर्हिताः सत्यादुप-  
दधातीमां तत् सत्ये प्रतिष्ठापयति तस्मादियं  
सत्ये प्रतिष्ठिता तस्माद्वियमेव सत्यं मियं चैवैषां  
लोकानां महातमाम् ॥ ८ ॥

अपाम्पृष्ठं मसि योनिरग्नेरिति । अपां  
हीयं पृष्ठं योनिर्हीयं मग्नेः समुद्रं मभितः पिन्व-  
मान मिति समुद्रो हीमा मभितः पिन्वते व्युर्ध-  
मानो महा २॥९॥ ऽथा च पुष्कर ऽद्विति व्युर्धमानो  
महीयस्व पुष्कर ऽद्वत्येतद्विवो मात्रया व्वरिष्णा  
प्रथस्वेत्यनुविमार्ष्टसौ वा ऽथादित्य एषोऽग्निर्नो  
हैतं मन्यो दिवो व्वरिमा यन्तु मर्हति द्यौर्भूत्वेनं  
यच्छेत्वेवैतदाह स्वराजोपदधाति स्वाराज्यं चपां  
सादयित्वा सृददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः  
॥ ९ ॥

अथ रुक्ममुपदधाति । असौ वा ऽथादित्य  
एष रुक्म एष हीमाः सर्वाः प्रजा अतिरोचते  
रोचो ह वै तं रुक्म इत्याचक्षते परोऽन्नं परो-  
ऽन्नकामा हि देवा अमुमेवैतदादित्यमुपदधाति

सु हिरण्यस्यो भवति परिमण्डल एकविंशति-  
निर्बाधस्तस्योक्तो बभ्रुरधस्तान्निर्बाध मुपदधाति  
रश्मयो वा ऽएतस्य निर्बाधा अवस्तादु वा ऽएतस्य  
रश्मयः ॥ १० ॥

तुं पुष्करपर्णः ऽउपदधाति । योनिर्वै पुष्कर-  
पर्णं योनावैवैन मेतत् प्रतिष्ठापयति ॥ ११ ॥

यद्देव पुष्करपर्णः ऽउपदधाति । प्रतिष्ठा वै  
पुष्करपर्णं मियं वै पुष्करपर्णं मियं मु वै प्रतिष्ठा यो  
वा ऽअस्या मप्रतिष्ठितोऽपि दूरे सन्नप्रतिष्ठित एव  
सु रश्मिभिर्वा ऽएषोऽस्यां प्रतिष्ठितोऽस्या मेवैन  
मेतत् प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठापयति ॥ १२ ॥

यद्देव पुष्करपर्णः ऽउपदधाति \* । इन्द्रो हवत्  
हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्ता अन्न-  
वीहिभेमि वै पुरं मे कुरुतेति सु योऽपाए रस  
आसीत्त मूर्ध्वं समुदौहस्ता मस्मै पुर मकुर्व्वंस्तद्युदस्मै  
पुर मकुर्व्वंस्तस्मात् पूष्करं पूष्करं † इ वै तत् पुष्कर

\* 'उपदधाति'—इति क, ख ।

† 'पुष्करं पुष्करं'—इति घ-पुस्तकपाठः, इह अ वा० वेबरमहोदयेनापि ।

मित्याचक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्त-  
दात् पुष्करपर्णं ऽउपदधाति य मेवास्थैत मापो रसः  
समुदौहत्या मस्मै पुर मकुर्व्वस्तस्मिन्नेवैन मेतत् प्रति-  
ष्ठापयति ॥ १३ ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्तादिति । असौ वा  
ऽआदित्यो ब्रह्माहरहः पुरस्ताज्जायते वि सीमतः  
सुरुचो व्वेन आवरिति मध्यं वै सीमेमे लोकाः  
सुरुचो ऽसावादित्यो व्वेनो यद्वै प्रजिजनिषमाणो  
ऽवेनत्तस्मादेनस्तानेष सीमतो मध्यतो विवृण्वन्नु-  
दिति स बुध्या उपमा अस्य विष्ठा इति दिशो  
वा ऽअस्य बुध्या उपमा विष्ठास्ता ह्येष उपवि-  
तिष्ठते सतश्च योनि मसतश्च विवरितीमे वै  
लोकाः सतश्च योनिरसतश्च यच्च ह्यस्ति यच्च न  
तदेभ्य एव लोकेभ्यो जायते तिष्ठभोपदधाति  
चैष्टभो ह्येष सादयित्वा सृददोहसाधिवदति तस्यो-  
क्तो बन्धुः ॥ १४ ॥

अथ पुरुष उपदधाति । स प्रजापतिः सो-  
ऽग्निः स यजमानः स हिरण्मयो भवति ज्योति-

वै हिरण्यं ज्योतिरग्निरमृतं हिरण्यममृतमग्निः  
पुरुषो भवति पुरुषो हि प्रजापतिः ॥ १५ ॥

यद्वेव पुरुषमुपदधाति । प्रजापतेर्विस्तृता-  
द्रम्या तनूर्मध्यतोऽदक्रामत्तस्या मेन मुत्क्रान्तायां  
देवा अजहुस्तं यत्र देवाः समस्कुर्वन्तदस्मिन्नेतां  
रम्यां तनूं मध्यतोऽदधुस्तस्या मस्य देवा अरमन्त  
तद्यदस्यैतस्यां रम्यायां तन्वां देवा अरमन्त  
तस्माद्विरम्यं हिरम्यं ह वै तद्विरम्यमित्या-  
चक्षते परोऽक्षं परोऽक्षकामा हि देवास्तथैवास्मि-  
न्नय मेतां रम्यां तनूं मध्यतो दधाति तस्या  
मस्य देवा रमन्ते प्राणो वा अस्य सा रम्या  
तनूः प्राण मेवास्मिन्नेतं मध्यतो दधाति ॥ १६ ॥

तुं रुक्म उपदधाति । असौ वा आदित्य  
एष रुक्मोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः स  
एष तु मेवैतदुपदधाति ॥ १७ ॥

उत्तानमुपदधाति । एतद्वै देवा अब्रुवन् यदि  
वा इमावर्वाञ्चा उपधास्यामः सर्वं मेवेदं प्रध-  
क्ष्यतो यद्य पराञ्चौ पराञ्चाविव तप्यतो यद्य

सम्यच्चावन्तरेवैतावेतज्जोतिर्भविष्यत्यथो ऽचन्योऽन्यं  
 हिं सिध्यत ऽद्विति तेऽर्वाञ्च मन्य मुपादधुः  
 पुराञ्च मन्यं स एष रश्मिभिरर्वाङ् तपति रुक्मः  
 प्रागैरेष जडः पुरुषः प्राञ्च मुपदधाति प्राङ्  
 ह्येषोऽग्निश्चीयते ॥ १८ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताय ऽद्विति । हिरण्य-  
 गर्भी ह्येष समवर्त्तताये भूतस्य जातः पतिरेक  
 आसीदित्येष ह्यस्य सर्वस्य भूतस्य जातः पति-  
 रेक आसीत् दाधार पृथिवीं द्या मुतेमा मित्येष  
 वै दिवं च पृथिवीं च दाधार कस्मै देवाय  
 हविषा विधेमेति प्रजापतिर्वै कस्तस्मै हविषा  
 विधेमेत्येतत् ॥ १९ ॥

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी मनु द्या मिति । असौ  
 वा ऽचादित्यो द्रप्सः स दिवं च पृथिवीं च  
 स्कन्दतीत्यमू मित्तीमा मिमं च योनि मनु यश्च पूर्वं  
 ब्रूतीमं च लोक ममं चेत्येतदथो यच्चेद मेतर्हि  
 चीयते यच्चादः पूर्वं मचीयतेति समानं योनि  
 मनु सञ्चरन्त मिति समानं ह्येष एतं योनि मनु

सञ्चरति द्रुप्तं जुहोम्यनु सप्त होत्रा ब्रूत्यसौ वा  
ऽग्नादित्यो द्रुप्तो दिशः सप्त होत्रा अमुं तदादित्यं  
दिक्षु प्रतिष्ठापयति ॥ २० ॥

हाभ्या मुपदधाति । द्विपाद्यजमानो यजमानो-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मावा तावतैवैन मेतदुप-  
दधाति । त्रिष्टुभ्यां त्रैष्टुभो ह्येष सादयित्वा  
सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बन्धुः ॥ २१ ॥

अथ साम मायति । एतद्वै देवा ऽएतं  
पुरुषं मुपधाय \* तमेतादृशं मेवापश्यन्त्यैतच्छुष्कं  
फलकम् † ॥ २२ ॥

तेऽब्रुवन् । उप तज्जानीत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति तेऽब्रुवंश्चेतयध्व मिति चिति  
मिच्छतेति वाव तदब्रुवंस्तदिच्छत यथास्मिन् पुरुषे  
व्वीर्यं दधामेति ॥ २३ ॥

ते चेतयमानाः । एतत्सामापश्यंस्तदगायं-

\* 'मुपदधाय'—इति क ।

† 'फलकम्'—इति ग, 'फलकम्'—इति घ ।

स्तदस्मिन् वीर्यं मदधुस्तथैवास्मिन्नयु मेतद्वधाति पुरुषे  
गायति पुरुषे तद्दीर्यं दधाति चित्रे गायति सर्व्वाणि  
हि चित्राण्यग्निस्तु मुपधाय न पुरस्तात् पुरी-  
याक्नेन्माय मग्निर्हिनसदिति \* ॥ २४ ॥

अथ सर्पनामैरुपतिष्ठत † । ऽइमे वै लोकाः  
सर्पास्ते हानेन सर्व्वेण सर्पन्ति यदिदं किञ्च सर्व्वेषा  
मु हैष देवाना मात्मा यदग्निस्ते देवा एत मात्मान  
मुपधायाविभयुर्यद्वै न इमे लोका अनेनात्मना न  
सर्पेयुरिति ॥ २५ ॥

तु ऽएतानि सर्पनामान्यपश्यन् । तैरुपतिष्ठन्त  
तैरस्मा ऽइमाँल्लोका ‡ नस्थापयंस्तैरनमयन्त्यद्वनमयं-  
स्तस्मात् सर्पनामानि तथैवैतद्यजमानो यत् सर्प-  
नामैरुपतिष्ठत ऽइमानेवास्मा ऽएतल्लोकान्स्थापयती-  
माँल्लोकान्नमयति तथो हास्यैतु ऽएतेनात्मना न  
सर्पन्ति ॥ २६ ॥

\* '०र्हिनसदिति'—इति ग, घ ।

† '०रुपतिष्ठते'—इति क, ख ।

‡ 'ऽइमाँल्लोका'—इति ग, घ ।

यद्देव सर्पनामैरुपतिष्ठत । ऽइमे वै लोकाः  
 सर्पा यद्धि किञ्च सर्पत्येष्वेव तल्लोकेषु सर्पति  
 तद्यत् सर्पनामैरुपतिष्ठते येवेषु लोकेषु नाष्टा यो  
 व्यहरो या शिमिदा तदैवैतत् सर्व्वं श्रमयति  
 ॥ २७ ॥

नमोऽस्तु सर्पेभ्यो \* ये के च पृथिवी मनु ।  
 ये ऽचन्तरिक्षे ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति  
 य ऽएवैषु त्रिषु लोकेषु सर्पास्तेभ्य एतन्नमस्करोति  
 ॥ २८ ॥

या वृषवो यातुधानाना मिति । यातुधान-  
 प्रेषिता हैके दशन्ति ये वा व्वनस्पती२॥२॥रनु † ये  
 व्वावटेषु शिरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ये चैव  
 व्वनस्पतिषु सर्पा ये चावटेषु शिरते तेभ्य एतन्नम-  
 स्करोति ॥ २९ ॥

ये व्वामो रोचने दिवो । ये वा सूर्य्यस्य

\* 'सर्पेभ्यः' । 'ये'—इति क, ख ।

† 'व्वनस्पती१॥रनु'—इति ख, 'व्वनस्पती१रनु'—इति ग, घ । व्वन-  
 स्पती२ रनु'—इति च दृष्टो डा०-वेवरेण ।



रश्मिषु येषा मप्सु सदस्क्रतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम  
 इति यत्र-यत्रैते तदेवैभ्य एतन्नमस्करोति नमो  
 नम इति यज्ञो वै नमो यज्ञेनैवैनानेतन्नमस्का-  
 रेण नमस्यति तस्मादु ह नायन्नियं ब्रूयान्न-  
 मस्त ऽइति यथा हैनं ब्रूयाद्यज्ञस्त ऽइति तादृक्  
 तत् ॥ ३० ॥

त्रिभिरुपतिष्ठते । वय इमे लोका अथो त्रिष्टु-  
 दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवास्मा ऽएत-  
 दिमांस्तोक्तानस्यापयत्यथो तावतैवैतदिदं सर्वं  
 श्रमयति तिष्ठन्नुपतिष्ठते तिष्ठन्तीव वा ऽइमे लोका  
 अथो तिष्ठन्वै व्यौर्यवत्तरः \* ॥ ३१ ॥

अथैन मुपविश्याभिजुहोति † । आज्येन पञ्च-  
 गृहीतेन तस्योक्तो बन्धुः सर्व्वतः परिसर्पं सर्व्वभ्य  
 एवैन मेतद्दिग्भ्योऽन्नेन प्रीणाति ॥ ३२ ॥

यदेवैन मभिजुहोति । एतद्दे देवा एत मा-

\* 'व्यौर्यवत्तरः'—इति क ।

† 'अभिजुहोति'—इति क ।

त्मानं मुपधायाविभयुर्यद् न इमं मिह रुक्षांसि  
 नाष्टा न हन्युरिति तु ऽएतान् राक्षोघ्नान् प्रतिसरा-  
 नपश्यन् कृणुष्व पाजः प्रसितिं न पृथ्वी मिति  
 राक्षोघ्ना वै प्रतिसरास्तु ऽएतैः प्रतिसरैः सूर्वाभ्यो  
 दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभये ऽनाष्टु ऽएत  
 मात्मानं सुमस्कुर्वन् तथैवैतद्यजमान एतैः प्रति-  
 सरैः सूर्वाभ्यो दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्या-  
 भये ऽनाष्टु ऽएत मात्मानं संस्कुर्वते ॥ ३३ ॥

आज्येन जुहोति । वृजो वा ऽआज्यं वृजो-  
 णैवैतद्रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति पञ्चगृहीतेन  
 पञ्चचित्तिकोऽग्निः पञ्चर्त्तवः संवत्सरः संवत्सरो-  
 ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैतद्रुक्षांसि  
 नाष्टा अपहन्त्याग्नेयीभिरग्निर्वै ज्योती राक्षोहाग्नि-  
 नैवैतद्रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति त्रिष्टुभिर्बृजो  
 वै त्रिष्टुर्वृजोणैवैतद्रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति सर्त्तुतः  
 परिसर्पं सूर्वाभ्य एवैतद्दिग्भ्यो रुक्षांसि नाष्टा  
 अपहन्ति ॥ ३४ ॥

पश्चादग्नेः प्राङ्मासीनः । अथोत्तरतो \* दक्षि-  
णाय पुरस्तात् प्रत्यङ्मुञ्च्य जघनेन परीत्य दक्षि-  
णत उदङ्मासीनस्तद्वक्षिणावृत्तञ्चि देवत्रायानुपरीत्य  
पश्चात् प्राङ्मासीनस्तथो हास्यैतत् प्रागेव कर्म कृतं  
भवति † ॥ ३५ ॥

अथ सुचा उपदधाति । बाहू वै सुचौ बाहू  
ऽएवास्मिन्नेतत् प्रतिदधाति ते यत् सुचौ भवतः  
सुचौ हि बाहू ऽद्वद मेव कपुष्कल ‡ मयं दण्डो द्वे  
भवतो द्वौ हीमौ बाहू पार्श्वत उपदधाति पार्श्वतो  
हीमौ बाहू ॥ ३६ ॥

कार्घ्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । एतद्वै  
देवा अविभयुर्यद्वै नो यज्ञं दक्षिणतो रुचांसि  
नाष्टा न हन्युरिति त एतत् रक्षोहृणं व्वनस्पति  
मपश्यन् कार्घ्यं त एतेन व्वनस्पतिना दक्षिणतो

\* 'प्राङ्मासीनोऽथोत्तरतो'—इति ग ।

† 'भवति'—इति क ।

‡ 'कपुष्कल'—इति क, ख । 'कपुष्कल'—इति, 'कपुष्कल'—  
इति च पाठौ सा०-सम्मतौ दृश्येताम् डा०-वेवरेण ।

रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टु ऽएतं यज्ञं मत-  
 न्वत तथैवैतद्यजमान एतेन व्वनस्पतिना दक्षिणतो  
 रुक्षांसि नाष्टा अपहृत्याभयेऽनाष्टु ऽएतं यज्ञं  
 तनुत ऽआज्येन पूर्णा भवति व्वज्रो वा ऽआज्यं  
 व्वज्रेणैवैतद्वक्षिणतो रुक्षांसि नाष्टा अपहन्ति  
 ॥ ३७ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । ऊर्ध्वं रुस  
 उदुम्बर ऊर्ध्वं मेवास्मिन्नेतद्रुसं दधाति दध्ना पूर्णा  
 भवति रुसो वै दधि रुस मेवास्मिन्नेतद्वधाति ॥ ३८ ॥

यदेव सुचा ऽउपदधाति । प्रजापतेर्व्विस्त्रस्त-  
 स्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाकर्षत् सोऽवोदर मद्यत्  
 कृष्टोदरमत्तस्मात् कार्श्र्योऽथास्येन्द्र ओज आदायो-  
 दङ्कुदक्रामत् स उदुम्बरोऽभवत् ॥ ३९ ॥

तावन्नवीत् । उप मेतं प्रति म ऽएतद्वत्तं येन  
 मे युव मुदक्रमिष्ट मिति ताभ्यां वै नौ सर्व्वं मुन्नं  
 प्रयच्छेति तौ वै मा बाहू भूत्वा प्रपद्येथा मिति  
 तथेति ताभ्यां वै सर्व्वं मुन्नं प्रायच्छत्तावेनं बाहू  
 भूत्वा प्रापद्येतां तस्माद् बाहुभ्या मेवान्नं क्रियते

बाहुभ्या मद्यते बाहुभ्याः हि स सुखं मन्त्रं  
प्रायच्छत् ॥ ४० ॥

स कार्पूर्यमयीं दक्षिणत उपदधाति । अग्नेष्ट्वा  
तेजसा सादयामीति \* यदेवास्य तदग्निस्तेज आदाय  
दक्षिणाकर्षश्चदस्मिन्नेतत् प्रतिदधात्यग्निर्मूर्धा दिवः  
ककुदित्येष उ सोऽग्निर्गायत्या गायत्रोऽग्निर्यावा-  
नग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुपदधाति  
घृतेन पूर्णा भवत्याग्नेयं वै घृतं स्वेनैवैन † मेतद्  
भागेन स्वेन रसेन प्रीणाति ॥ ४१ ॥

अथौदुम्बरी मुत्तरत उपदधाति । इन्द्रस्य  
त्वौजसा सादयामीति यदेवास्य तदिन्द्र ओज  
आदायोदङ्ङुदक्रामत्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति भुवो  
यज्ञस्य रजसश्च नेतेत्येष उ स इन्द्रः सा यदग्ने-  
य्यग्निकर्म ह्यथ यत्तिष्ठत् चैष्टुभो होन्द्र ऐन्द्राग्नी-  
ऽग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैना मेतदुप-

\* 'तेजसादयामीति'—इति ख ।

† 'स्वेनेन'—इति ख ।

दधातीन्द्राग्नी वै सर्व्वे देवाः सर्व्वदेवत्योऽग्नि-  
र्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवेना मेतदुप-  
दधाति दध्ना पूर्णा भवत्यैन्द्रं वै दधि स्वेनैवेन  
मेतद्भागेन स्वेन रुसेन प्रीणाति ॥ ४२ ॥

तावस्त्रैताविन्द्राग्नी ऽएव बाहू \* । तावेनं तेजसा  
च व्वीर्येण च सह प्रपद्येते स सम्प्रत्युरः पुरुष +  
माकाशश्च यत्वाभ्याप्नोति तदालिख्यैने ऽउपदधात्येष  
हैतयोर्लोकः ‡ ॥ ४३ ॥

ते हैके तिरश्चा ऽउपदधति । तिर्यञ्चौ वा  
ऽङ्गमौ बाहू § ऽद्विति न तथा कुर्यात् प्राच्यावेवो-  
पदध्यात् प्राङ् छेधोऽग्निश्चीयतेऽथो ऽएवं वै बाहू  
व्वीर्यवत्तरौ ते नानोपदधाति नाना सादयति  
नाना सूददोहसाधिवदति नाना हीमौ बाहू ॥

॥ ४४ ॥

\* , ॥ 'बाहू'—इति क , 'बाहू'—इति ग , घ ।

† 'पुर एष'—इति ख ।

‡ 'हैतयोर्लोकः'—इति ग , घ ।

§ 'बाहू'—इति ख ।

तदाहुः \* । नैतस्य पुरुषस्य \* बाहू कुर्यादितौ  
 वा ऽअस्य बाहू ये ऽएते सुचौ नेदतिरेचयानीति  
 स वै कुर्यादेषैतौ वा ऽअस्य बाहू ऽअन्विते सुचा-  
 वथो ऽएतौ पक्षावथो यान्येतस्मिन्नग्नौ रूपाण्युप-  
 धास्यन् भवति यान्स्तोमान् यानि पृष्ठानि यानि  
 कृन्दास्येतयोरेव सा संस्कातिरेतयोर्वृद्धिस्तस्मादु  
 कुर्यादेवैतस्य पुरुषस्य बाहू † ॥ ४५ ॥ १ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [४. १.] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममि , त ममं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

अग्निग्रहण-सत्यसामगान-पुष्करपर्णोपधानानि पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे  
 सङ्गहेण विहितानि , इदानीं तानि क्रमेण प्रपञ्चयति— “आत्म-  
 नग्निं गृह्णीति चेष्टन्नित्यादिना ‡ । ‘चेष्टन्’ चयनं करिष्यन्  
 अध्वर्युः ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अग्निं’ ‘गृह्णीति’ मन्त्रेण धारयेत् ।

\* ‘तदाहुः’—इति ख , ‘तदाहुः’—इति ग , घ ।

† ‘बाहू’—इति ख ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ३. २७ क ।

“आत्मनो वा इत्यादि । अध्वर्युः ‘आत्मनोऽधि’ अधिः पञ्च-  
म्यर्थानुवादी ; “अधिपरो अनर्थकौ”—इति \* पाणिनिस्मरणात् ।  
आत्मनः सकाशात् खल्वध्वर्युः ‘एतं’ चित्वाग्निं ‘जनयति’ ।  
तथा सति लोकस्त्रितिरीदृशी , ‘यादृशात्’ यादृक्स्वरूपात् खलु  
मनुष्यादिशरीरात् गर्भो ‘जायते’, ‘सः’ ‘तादृक्’ तत्सदृश एव निष्प-  
द्यते ; सति अग्निग्रहणे अध्वर्युरन्यात्मको भवति , तादृशादध्व-  
र्योर्जायमानश्चित्वाग्निरपि साक्षादग्निरूपो भवति । तस्मादात्म-  
न्यग्निग्रहणं कर्त्तव्यं मित्यर्थः ॥

अमृद्हीत्वा चयने दोषमुपन्यस्यति—“स यदात्मन्निति । ‘सः’  
अध्वर्युः ‘यत्’ यदि आत्मन्यग्निग्रहणं मकृत्वा ‘अग्निं चितु-  
यात्’, तदा देवरूपानापन्नान्मनुष्यशरीरमात्रात् मनुष्यात्मकं मेव  
‘जनयेत्’ ; कारणानुरूपत्वात् कार्यस्येति भावः । कारणं हि  
शरीरं मनुष्यजातीयम् , अत एव ‘मर्त्यं’ मरणशीलम् अनपहत-  
पापकं मरणादिहेतुभूतपापसहितम् , तथाविधाज्जायमानोऽग्नि-  
रपि तादृश्रूपो भवतीति तात्पर्यार्थः ॥

सति त्वग्निग्रहणेऽभिहितदोषवैपरीत्यं माह— “अथ यदेति ।  
“तदग्नेरेवेत्यादि । अग्निरूपादात्मनः सकाशाज्जनयन् ‘अग्निम्’  
एव ‘जनयति’ । अमृतरूपस्याग्नेर्धारणादध्वर्युरप्यमृतात्मकः । शिष्टं  
स्पष्टम् ॥ १ ॥

इत्थं मग्निग्रहणस्यावश्यकर्त्तव्यतामुपपाद्य समन्वयकं तद्  
विधत्ते— “स गृह्णातीति । “मयि गृह्णामीति †” ग्रहण-

\* पा० सू० १. ४. ६३ ।

† वा० सं० १३. १ ।



मन्त्रः । तत्र मयोत्यस्मच्छब्दश्रवणादात्मव्यवनेर्ग्रहणं निगदसिद्ध  
मित्याह— “तदात्मन्नेवेति । ‘अग्ने’ चयनात् प्राक्काले । द्वितीय-  
भाग मनूय , तस्य तात्पर्यं माह— “रायस्योषायेति । राय-  
स्योषो धनसमृद्धिः, सुप्रजास्त्वं शोभनपुत्रपौत्रादियुक्तत्वम्, शोभन-  
वीर्ययोगः सुवीर्यम्, ‘तत्’ तेन मन्त्रभागेनोक्तलक्षणः ‘सर्वाः’  
‘आशिषः’ फलानि आत्मनि स्वीकरोति । तृतीयभाग मनूय  
व्याचष्टे— “मा सु देवता इति । यच्चमाणदेवताः ‘मा सु’ मा  
मेव ‘सचन्ता’ मदीययज्ञं सेवन्ता मिति । एतेन मन्त्रभागेन देव-  
ताना मय्यात्मनि ग्रहणं कृतं भवति । “तद्यत्किञ्चेत्यादि ।  
‘तत्’ प्रागुक्तं ‘यत्’ किं मपि मन्त्रप्रतिपाद्यं रायस्योषादिक  
मात्मनो जनयितव्यं मस्ति, तत् सर्वं मनेन मन्त्रेणात्मनि गृहीत  
मेव भवतीति ॥

अग्निग्रहणञ्च तिष्ठता कर्त्तव्यं मिति स्थितिलक्षणं गुणं  
विधत्ते— “स वै तिष्ठन्निति \* । चयनसमये तु उपवेशनम् †  
तस्य विधत्ते— “अनूपविश्य चिनोतीति । यत्र यत्नेष्टका सुप-  
दधाति, तं तं देशं गत्वा तत्समीपे ‡ उपविश्य, चिनुयादित्यर्थः ।  
एतदुभयं स्वीति— “पशुरेष इति । पशुरूपो हि ‘एषः’ अग्निः,  
‘तस्मात्’ एव हि कारणात् गवादिलक्षणः ‘पशुः’ तिष्ठन्नेव गर्भं  
धत्ते, ‘अनूपविश्य’ ‘विजायते’ प्रसूते । अतोऽग्निग्रहणं गर्भधारण-

\* का० श्रौ सू० १७. ३. २७ ख ।

† ‘चयनसमयेऽनूपवेशनम्’—इति ज-पाठः ।

‡ ‘समीपे’—इति ज-पाठः ।

भूतत्वात् तिष्ठतैव कार्बम् , चयनन्तु प्रसरूपत्वादुपविष्टेनेति  
तात्पर्यम् ॥ २ ॥

अथ प्राग्विहितं सत्यसाम्नो गान मनूय स्तौति— “अथ  
सत्य मिति \* । ‘एतत्’ एतस्मिन्नन्तरे खलु ‘देवा अभवन्’, ‘अस्य’  
अग्नेः ‘सत्यं’ सत्यफलसाधनं साम ‘मुखं करवाम’, तथाकर-  
णाच्च वयं ‘सत्यं’ भविष्यामः’ सत्यभूताः सर्वदा बाधरहिताः  
स्याम । ‘नः’ अस्मान् ‘सत्यं’ सत्याभिमानिदेवता ‘अनुवर्त्यति’  
अनुवर्त्तनं करिष्यति । तथा च ‘नः’ अस्माकं ‘सः’ तादृशः  
‘कामः’ यज्ञफलरूपः ‘सत्यः’ यथार्थी भविष्यति , ‘यत्’ फलं  
कामयमाना ‘एतद्’ अग्निचयनात्मकं कर्म करिष्यामहे । ‘इति’-  
शब्दो देवानां कामपरिसमाप्तौ ॥ ३ ॥

“त एतदिति । एवं विचार्यते— ‘ते’ देवाः ‘एतत् सत्यं साम’  
‘पुरस्तात् अगायन्’ ‘तत्’ तेन सत्यसाम्नो गानेन ‘अस्य’ अग्नेः  
‘मुखं’ ‘सत्यं मकुर्वन्’ ततः ‘ते’ देवाः ‘सत्यं मभवन्’ नित्यत्वं  
प्राप्ता इत्यर्थः । व्याख्यातप्रायं मन्यत् ॥ ४ ॥

इत्थं परकृति मुपन्यस्य प्रकृते योजयति— “तथैवेति । यथा  
देवाः , ‘तथैव’ ‘एतद्’ एतर्हि ‘यजमानः’ ‘सत्यं साम’ ‘पुरस्तात्’  
पूर्वस्थां दिशि ‘गायति’ ‘इति’ ‘यत्’ अस्ति , ‘तत्’ तेन ‘अस्य’  
चित्याग्नेः मुखं ‘सत्यं’ सर्वदा विद्यमानं ‘करोति’ । ‘सः’  
यजमानः स्वयं मपि तथाकरणात् ‘सत्यं’ सत्यात्मको ‘भवति’ ।  
गतं मन्यत् ॥ ५ ॥

सत्यपदस्याभिप्रेत मर्थं माविष्कुर्वन् प्रशंसति— “तद्यदिति ।  
 ‘तत्’ तत्र तदुक्तविधं ‘यत् सत्यम्’, ‘आप एव तत्’ अथ मेव \*  
 सत्यपदेनोक्त मित्यर्थः । अपां सत्यरूपता सुपपादयति—  
 “आपो हीति । ‘हि’ यस्मात् प्रथमसृष्टत्वादापः सत्यात्मिकाः ,  
 ‘तस्मात्’ येन भूप्रदेशेन ताः ‘आपः’ ‘यन्ति’ गच्छन्ति, ‘तत्’ स्थानं  
 ‘सत्यस्य’ उदकात्मकस्य ब्रह्मणो ‘रूप मिति’ ‘आहुः’ कथयन्ति  
 ब्रह्मवादिनः । अपां प्रथमसर्गश्च स्मर्यते— “अप एव ससर्जादौ  
 तासु वीर्यं मवाकिरत्”—इति † । “अप एव तस्येत्यादि । अपां  
 सत्यरूपत्वात् ‘तत्’ तेन सत्यसान्द्रोऽयतोऽगानेन ‘अस्य’ सर्वस्य जगतः  
 अप एव ‘अग्रं’ मुखम् ‘अकुर्वन्’ देवा इत्यर्थः । अपा मयकरणस्य  
 फलमाह—“तस्मादिति । ‘तस्मात्’ उक्तहेतोः ‘यदैव’ खलु ‘आपः’  
 वृक्ष्युत्पन्नाः ‘यन्ति’ प्रवहन्ति, ‘अथ’ अनन्तरमेव ‘इदं’ दृश्यमान  
 मोषधिवनस्यत्यादिरूपं ‘सर्वं’ जगदुत्पद्यते । सर्वशब्दस्य सङ्कुच-  
 हृत्तितां निराचष्टे— “यदिद मिति ॥ ६ ॥

पुष्करपर्णोपधानं विधाय स्तौति— “अथ पुष्करपर्णं  
 मिति ‡ । ‘अथ’-शब्दः सत्यसामगानानन्तर्यार्थः । “त मद्भ्य  
 उपोदास्यतं पुष्करपर्णं विवेदेति § अन्युपलम्भाधिकरणत्वस्य  
 न्युतत्वात् पुष्करपर्णस्याग्निधियोनित्वम् ॥ ७ ॥

\* ‘आप्तव मेव’—इति च, क ।

† म० सं० १ अ० ८ श्लो० । तत्र ‘वीजं मवासृजतु’—इति पाठः ।

‡ का० श्री० सू० १७. ४. १ ।

§ पुरस्ताद् गतम् ( ७. ३. २. १४—२०५ पृ० १० पं० ) ।

॥ ‘पुष्करपर्णस्य योनित्वम्’—इति च, क ।

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णस्याग्निर्धोनिव मनुवादपूर्वकं प्रति-  
पादयति— “यद्देवेति । “आपो वै पुष्कर मित्वादि । “पुष्करं  
सर्वतो मुखं मित्वादि निगदप्रसिद्धिद्योतको \* ‘वै’-शब्दः । ‘तासाम्’  
अपां प्रथमस्रष्टानाम् ‘इयं’ पृथिवी ‘पर्णं’ पर्णस्थानीया ।  
एतदेव विशदयति — “यथा ह वा इति । ‘इदं’ ‘पुष्करपर्णं’  
पद्मपत्रं ‘यथा’ खलु ‘अप्सु’ ‘अध्याहितम्’ उपर्याश्रितं सत् दृश्यते,  
‘एवम्’ ‘इयं’ पृथिवी ‘अप्सु’ उदकेषु ‘अध्याहिता’ उपर्याश्रिता  
वर्तते । अत एवोपरिष्ठात् “तदपां शर आसीत्तत्समहन्त्य सा  
पृथिव्यभवदित्यान्नास्यते † । अतः पुष्करपर्णसाम्यात् पृथिव्याः  
पुष्करपर्णत्वम् । “सियं योनिरित्यादि । यदिदं पृथिव्यात्मकं पुष्कर-  
पर्णं ‘सियं मग्नेर्योनिः’ उत्पत्तिकारणम् ; अत एव हि ‘इयं’  
पृथिवी कार्यकारणयोरभेदाच्चित्वाग्निरूपेण वर्तते । एतत् तादात्म्य  
सुपपादयति— “अस्यै हि सर्वोऽग्निर्यतश्चीयते इति । “षष्ठ्यर्थं  
चतुर्थी” ‡ । अस्याः पृथिव्याः सम्बन्धिनीभिः § सृष्टयोभिरिष्ट-  
काभिः कृत्स्नोऽग्निर्यतश्चीयते || , अतः पृथिव्या अग्नेश्च तादात्म्य  
सुक्तं मित्यर्थः । उदीरितरीत्या यतः पुष्करपर्णं पृथिवी, अत-  
स्तदुपधानेन ‘इमा मेव’ पृथिवी सुपहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथैतस्योपधानस्य सत्यसामानन्तर्यं मनूय स्तूति— “ता

\* ‘निघण्टुप्रसिद्धिद्योतको’—इति च, ह ।

† का० १०, प्र० ४, ब्रा० ८, क० २ द्रष्टव्यम् ।

‡ पा० २. ३. ४२ सू० १ वा० ।

§ ‘सकाशात्’—इति ज-पाठः ।

|| ‘कृत्स्नोऽग्निर्यतश्चीयते ।’—इति च-पाठः ।

मनन्तर्हिता मिति । 'सत्यात्' सत्यसामगानात् 'मनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां 'तां' पुष्करपर्णेष्टका मुपदध्यात्, 'तत्' तेनानन्तर्हितत्वेन 'इमां' पृथिवीं 'सत्ये प्रतिष्ठापयति' । 'तस्मात्' एव खलु 'इयं' पृथिवी 'सत्ये' ब्रह्मणि अप्तोपाधिके 'प्रतिष्ठिता' दृश्यते । "तस्मा-  
द्विय मिति । 'उ'-शब्दोऽवधारणे । यस्मात् सत्ये प्रतिष्ठिता, 'तस्मात्' एव कारणात् अधिकरणाधिकर्तव्ययोरभेदोपचारेण 'इय मेव' पृथिवी 'सत्यम्' । सत्यरूपता मुपपादयति— "इयं हीति । 'एषां' पृथिव्यन्तरिक्षद्युक्तोकानां मध्येऽपि 'इय मेव' खलु पृथिवी 'अद्वातमाम्' प्रत्यक्षतमाम्, अपारोक्ष्येणावभासमाना \* दृश्यते, तस्मादस्याः सत्यरूपत्वं बोद्धव्यम् । "किमेत्तिङव्ययघादिति † आम्प्रत्ययः ॥ ८ ॥

अथ तस्मिन् पुष्करपर्णेपधाने मन्त्रं ‡ विधाय पदयो व्याचष्टे—  
"अपाम्यृष्ठ मसीति § । "अपाः हीय मिति । 'इयं' पृथिवी उप-  
र्यवस्थानात् 'अपां' पृष्ठवत् 'पृष्ठम्' अतो हे पुष्करपर्ण ! त्वम्  
'अपाम्' उदकानां 'पृष्ठ मसि' पृष्ठभागो भवसि । "योनि-  
र्हीय मिति । चित्यस्याग्नेः 'योनिः' पृथिवी ; इष्टकोपादा-  
नत्वात् । हे पुष्करपर्ण ! त्वम् 'अग्नेः' तादृशी 'योनिः'

\* अपारोक्ष्येण वर्त्तमाना—इति ज-पाठः ।

† पा० सू० ५. ४. ११ ।

‡ का० औ० सू० १६. २. २३ ।

§ "अपाम्यृष्ठ मसि योनिरयेः समुद्र मभितः पिन्वमानम् ।  
वर्द्धमानो महार आ च पुष्करे दिवो मातृया वरिष्ठा प्रथस्व"—  
इति वा० सं० ११. २६ ।

असौति प्रथमपादार्थः । “समुद्रो ह्रीमा मिति । ‘इमां’ पृथिवीम् ‘अभितः’ सर्वतः, पृथिव्याः सर्वासु दिक्षु ‘समुद्रः’ ‘पिण्वते’ सिञ्चति । “पिवि सेचने”—इति \* धातुः । महच्छब्दस्य व्याख्यानं ‘महीयस्व’—इति । “महोङ् वृद्धौ”—इति † धातुः, कण्ठादिः । “अनुविमार्ष्टीति । चतुर्थपादावसाने पुष्करपर्णं मुपदधानः तस्यानुलोम्येन विमार्जनं कुर्यात् । “असौ वा आदित्य इत्यादि, चतुर्थपादव्याख्यानम् । “नो हैत मन्य इति । ‘दिवोऽन्य’ द्युलोकव्यतिरिक्तोऽन्यः ‘वरिमा’ भाववाचिना तद्वान् लक्ष्यते, उरुतरः पदार्थः । ‘एनम्’ अग्निं ‘नो’ खलु ‘यन्तु मर्हति’ । तथाच “दिवो मात्रया वरिष्णा”—इति “इत्यभावे तृतीया”—इति‡ व्याख्यातं भवति ; अतोऽयं मर्थः सम्पद्यत इत्याह—“द्यौर्भूत्वेति । हे पुष्करपर्ण ! त्वं ‘द्यौः’ द्युलोको ‘भूत्वा’ ‘एनम्’ अग्निं ‘यच्छ’ यमय ‘इति’ तात्पर्यार्थः ॥

कन्दोदारेणैतत् प्रशंसति— “स्वराजोपदधातीति । उत्तरार्धे वैराजपादाभ्यां द्वे अक्षरे अधिके, तदाधिक्यं स्वराडाख्यस्य कन्दसौ लक्षणम् ; “द्वाभ्यां विराट्स्वराजौ”—इति-§-स्मरणात् । स्वायत्तं राजते ईष्टे इति स्वराट्, स्वतन्त्रेश्वरः, तस्य कर्म ‘स्वाराज्यम्’ ; ‘अपां’ सम्बन्धि यत् स्वाराज्यं तदेव पुष्करपर्णम् ; अतस्तस्य स्वराजोपधानं युक्तं मिति भावः । “सादयित्वेत्यादिकं प्रागुक्तार्थम् ॥ ८ ॥

\* धा० भा० प० ५८८ ।

† “महोङ् पूजायाम्”—इति क० व्या० ३६ धा० ।

‡ पा० सू० २० २० २१ ।

§ पि० क० सू० १ अ० ४ ख० द्रष्टव्यम् ।

आकाशात्मना सुतस्य पुष्करपर्णस्य मध्ये सूर्यमण्डला-  
त्मना ध्यातव्यस्य रुक्मस्योपधानं विधत्ते— “अथ रुक्म मिति \* ।  
'अथ'-शब्दः पुष्करपर्णोपधानानन्तर्यार्थः । रुक्मस्यादित्यात्म-  
कत्वं सुपपादयति— “एष होमा इति । 'एषः' एव परिदृश्य-  
मानः, 'हि' 'असौ' 'आदित्यः' 'इमाः सर्वा प्रजाः' 'अतिरोचते' ।  
अतो रोचत इति व्युत्पत्त्या रुच-धातोः पचाद्यचि रोच इति तस्य  
नामधेयं सम्पद्यते, तदेव पारोक्ष्येण रुक्म इति ब्रुवते ; परोक्ष-  
प्रियत्वाद्देवानां मित्यर्थः । रुक्मस्य प्रकृतिद्रव्य माकृतिविशे-  
षञ्च दर्शयति— “स हिरण्यमय इति । 'सः' रुक्मः सुवर्णमयः  
कार्यः । दाण्डिनायनादिसूत्रे † निपातनात्मयटि हिरण्यशब्द-  
स्यान्वयकारलोपः । 'परिमण्डलः' वर्तुलाकृतिः । 'एकविंशति-  
निर्बाधः' एकविंशतिसङ्क्राकैः पुलकैर्युक्तः कार्यः । “तस्योक्त  
इति । 'तस्य' एकविंशतिसङ्क्रायोगस्य “द्वादशमासाः पञ्चर्चव  
इत्यादिना सुतिः प्रागान्नातेत्यर्थः ‡ । उपधानसमये निर्वाधाना  
मधोभागेऽवस्थानं यथा भवति तथा कर्त्तव्य मिति विधत्ते—  
“अधस्तान्निर्वाध मिति § । तस्य कारणं माह— “रश्मयो वा  
एतस्येति । सूर्यमण्डलस्याधस्ताद् भागे हि रश्मयो नि-  
वृत्तिः, अतो रश्म्यात्मकानां निर्वाधानां मधस्ताद् भागे कारणं  
युक्त मिति ॥ १० ॥

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २ ।

† पा० सू० ६. ४. १०४ ।

‡ इत्था० २. १. ३ (इभा० ८६८०) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. २ ख ।

तस्य पुष्करपर्णमध्ये उपधानं विधत्ते—“तं पुष्करपर्णे इति \* ।  
पुष्करपर्णस्य योनिरूपत्वं प्रागुक्तम् † ॥ ११ ॥

प्रकारान्तरेण पुष्करपर्णे रुक्मोपधानं स्तौति— “यद्देवेति ।  
‘प्रतिष्ठा’ आस्यदम् । तद्रूपतां पुष्करपर्णस्योपपादयति— “इयं  
वै पुष्करपर्ण मिति । “यो वा अस्या मित्यादि । ‘यः’ खलु  
‘अस्यां’ पृथिव्याम् ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठितो न भवति , ‘सः’ दूर-  
देशे ‘सन्’ वर्त्तमानः ‘अपि’ ‘अप्रतिष्ठितः’ प्रतिष्ठारहितो निरा-  
लम्बनः ‘एव’ भवति । यद्येव माकाशे वर्त्तमानस्य सूर्यस्य  
पृथिव्या मनवस्थानादेतेन पुष्करपर्णे उपधानेन ‘एनं’ रुक्मरूप  
मादित्यम् ‘एतम्’ ‘अस्यां’ पृथिवीरूपाया मेव ‘प्रतिष्ठायां’  
‘प्रतिष्ठापयति’ ॥ १२ ॥

एतदेव रुक्मोपधानस्य पुष्करपर्णाधिकरणत्वं माख्यायिकया  
पुष्करनामनिर्वचनेन प्रतिष्ठारूपतां ब्रुवन् स्तौति— “यद्देव  
पुष्करपर्ण इत्यादिना । ‘नास्तृषि’ न खल्वह मद्यापि वृत्र  
महिंसिष मिति विपर्यस्तमतिः सन्नित्यर्थः । सः ‘इन्द्रः’ अन-  
न्तरम् ‘अपः’ प्राविशत् । ‘ताः’ अब्रवीत् अहं वृत्राद् ‘विभेमि’  
विभ्यतो मम ‘पुरम्’ भयरहित मावासस्थानं हे ‘आपः ! यूयं  
‘कुरुत’ । आपश्चेतद्वचः श्रुत्वा ‘यः’ स्वकोयो ‘रसः’ प्रातिस्त्रिकः  
‘आसीत्’, ‘त मूर्ध्नि’ समुदौहन् उदक्षिपन् । त मेव रसं पुष्करपर्णा-  
त्मना परिणतं निवासस्थानं मकुर्वन् । यस्मादेवं पूः अग्नि-  
यत , ‘तस्मात्’ तस्य ‘पूष्करम्’—इति नाम सम्पन्नम् । पूः क्रियते

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

† इहैव सप्तमकाण्डीभाष्यं द्रष्टव्यम् ( २४८ पृ० ) ।



अनेनेतिव्युत्पत्तेः पूष्कर मिति प्रयोक्तव्ये पुष्कर मिति प्रयो-  
गसु पारोक्ष्यकरणायेति सङ्ग्रहेणार्थः । एवं पुष्करनामनिर्वचनं  
कृत्वा प्रकृते योजयति — “तद्यत् पुष्करपर्ण इति । ‘अस्य’  
अस्मै इन्द्राय ‘य मेव’ ‘एतं’ रसम् ‘आपः’ पुरा ‘समुदौहन्’ समुत्-  
क्षिप्तवत्यः, तदनन्तरम् ‘अस्मै’ एवेन्द्राय यां ‘पुरं’ पुष्करपर्णाक्षि-  
काम् ‘अकुर्वन्’, ‘तस्मिन्नेव’ उभयरूपे स्वाश्रये रुक्मरूपेणावस्थित  
मिन्द्रशब्दाभिधेयम् ‘एनं’ सूर्यम् ‘एतत्’ एतेन ‘प्रतिष्ठापयति’  
इत्यर्थः ॥ १३ ॥

तस्मिन् रुक्मोपधाने मन्त्रं दर्शयति — “ब्रह्मजज्ञान  
मिति \* । ननु षड्भावविकाररहित मोपनिषदं ब्रह्म †, तत्  
कथं तस्य जनिक्रियायोगो मन्त्रपदेन प्रतिपाद्यत इत्याशङ्क्य  
व्याचष्टे — “असौ वा आदित्य इति । अत्र प्रादुर्भाव  
एव जनैरर्थो न तूत्पत्तिः । अयं मर्थः । तदुक्तविधं ‘ब्रह्म’  
सगुणं सत् ‘असौ’ द्युलोकस्थः ‘आदित्यः’ भूत्वा प्रत्यहं  
‘पुरस्तात्’ पूर्वस्थां दिशि ‘जायते’ उदेति । जज्ञान मिति  
जनेर्लिटः कानजादेशे रूपम् । द्वितीयपादे क्रमेण पदार्थानाह —  
“मध्यं वा इति । सोमत इति पदे यत् सीमेति प्राति-  
पदिकम्, तन्मध्यं माचष्टे । सुष्ठु रोचन्ते सवित्प्रकाशेन  
दीप्यन्त इति ‘सुरुचः’ पृथिव्यादिलोकाः । “असावादित्यो  
वेन इति । यदेनोऽसावुच्यते, तन्नामनिर्वचनं करोति —

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २ ।

† “षड् भावविकारा भवन्तीति वार्ष्पायणिः । जायतेऽस्ति विप-  
रिणमते वर्द्धेतऽपक्षीयतं विनश्यतीति” — इति निरु० १. १. ३ ।

“यद्वा इति । यस्मात् कारणात् ‘प्रजिजनिषमाणः’ प्रज-  
नितुं प्रादुर्भवितुं मुदेतुं मिच्छन्, ‘अवेनत्’ कान्तियुक्तोऽभ-  
वत्, ‘तस्मात्’ वेनति दीप्यत इति ‘वेनः’ इति सूर्यस्य नाम सम्प्र-  
क्षम् । अत एव यास्कोऽप्याह स्म— “वेनो वेनतेः कान्ति-  
कर्मणः”—इति \* ।

इत्थं पदार्थानुक्ता वाक्यार्थं माह— “तानिष इति ।  
‘तान्’ सुरुच्-शब्दाभिधेयान् पृथिव्यादिलोकान् ‘एषः’ सूर्यः  
‘सौमतः’ मध्यतो ‘व्यावः’ व्यावृणोत्, उदयेन प्रकाशितवान् ।  
वृणोतेर्लुङि “मन्त्रे घसेत्यादिना च्चेर्लुक् †, “छन्दस्यपि दृश्यते”—  
इत्याडागमः ‡ । एतस्य पदस्योक्तार्थपरतां व्याचष्टे— “विवृ-  
ण्वनुदेतोति । तृतीयपादं मनूय व्याचष्टे— “स बुध्ना इति ।  
बुध्नो मूलम्, तत्र भवाः ‘बुध्याः’ पादाः । ते च ‘अस्य’ सूर्यस्य  
दिगात्मकाः; रश्मिप्रसरणहेतुत्वात् । ‘ताः’ बुध्यशब्दाभिधेया दिशः  
‘उप’ समीपे स्वगतिभेदेन निर्मिमोत इति ‘उपमाः’ सूर्यः । तथा  
‘ताः’ दिशोऽनुलक्ष्य ‘वितिष्ठते’ विविधं पूर्वपश्चिमादिदिग्भेदहेतु-  
त्वेनावितिष्ठत इति । ‘विष्ठाः’ तिष्ठतेः, “आतो मनिन्निति §  
विच् । एवभूतः सूर्यः ‘सतः’ लोकत्रयात्मकस्य भावरूपस्य,  
‘असतः’ अभावात्मकस्य ‘च’ ‘योनिम्’ उत्पत्तिस्थानं ‘विवः’ विवृ-

\* निरु० १०. ४. १ ।

† पा० सू० २. ४. ८० ।

‡ पा० सू० ६. ४. ७३ ।

§ पा० सू० ३. २. ७४ ।

योति । सदसच्छब्दयोर्भावाभावपरतां व्याचष्टे— “यच्च द्यस्ति  
यच्च नेति \* ।

छन्दोद्वारेण प्रशंसति— “त्रिष्टुभेति । “त्रैष्टुभो ह्येष  
इति । “गायत्री वै पृथिवी, त्रैष्टुभ मन्तरिक्ष मित्यादि-  
युतेः । द्वितीयस्थानत्वान्तरिक्षस्य त्रिष्टुप्सम्बन्धः । तन्न  
सञ्चरन् । त्रिष्टुप्छन्दस इन्द्रेण सहोत्पत्तेश्च † इन्द्रात्मक एष  
सूर्योऽपि ‘त्रैष्टुभः’ । “सादयित्वेत्यादि व्याख्यातम् ॥ १४ ॥

रूपमग्नये हिरण्यमयपुरुषस्योपधानं विधत्ते— “अथ पुरुष  
मिति ‡ । “स प्रजापतिरित्यादि । ‘सः’ उपधेयः पुरुषः  
‘प्रजापतिः’ स्थूलप्रपञ्चाभिमानिविराडात्मकः, स एवाग्निः  
सूक्ष्मप्रपञ्चाभिमानिहिरण्यगर्भात्मकः, यजमानस्य तद्रूपप्राप्तेः  
यजमानात्मकोऽपि § स इत्यर्थः । तस्य हिरण्यविक्रतित्वं  
विधाय स्तौति— “स हिरण्यमय इति । “ज्योतिर्वा इति ।  
भास्वररूपोपेतत्वात् ज्योतिरात्मकं हिरण्यम् । तथा अत्य-  
न्ताग्निसंयोगेऽपि समुच्छित्तिविरहात् ‘अमृतं’ अमरणस्वभावं  
‘हिरण्यम्’ । चौयमानोऽग्निरपि एतदुभयात्मक इति ( तस्य )  
हिरण्यमयत्वं युक्तमित्यर्थः । पुरुषरूपता मनूय्य प्रतिपादयति—  
“पुरुषो भवतीति । ‘हि’ यस्माच्चित्याग्निरूपेण संस्कर्तव्यः प्रजा-

\* वा० सं० १३. ३ ।

† ते० सं० १. १. ४ द्रष्टव्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ३ ।

§ ‘यजमानोऽपि’—इति ज-पाठः ।

पतिः पुरुषविधः, तत्प्रतिरूपत्वाद्द्विरण्यस्योपधेयस्य पुरुषाकृति-  
र्युक्तेत्यर्थः ॥ १५ ॥

एतदेव पुरुषोपधानं मनूय मनःप्राणाद्यात्मकसूक्ष्मशरीर-  
स्थापनरूपेण स्वीति— “यद्देवेति । “प्रजापतेर्विस्वस्तादित्यादि ।  
प्रजापतिर्हि पुरा विस्वस्तशरीरोऽभूत्, तथाविधात् तस्मात्  
‘रम्या’ रमणीया ज्ञानक्रियाशक्तिरूपा सूक्ष्मा ‘तनूः’ ‘मध्यतः’  
शरीरमध्यात् ‘उदक्रामत्’ उर्ध्वं निरगमत् । ‘तस्याम्’ ऊर्ध्वं  
निष्क्रान्तायां सत्याम् ‘एनं’ प्रजापतिं चक्षुराद्यभिमानिनः ‘देवाः’  
आदित्यादयः ‘अजहुः’ अत्यजन् । “ओ हाक् त्वागे”—इति \*  
धातुः । ‘तं’ तथाविधं प्रजापतिं ‘देवाः’ तत्पुत्राः ‘यत्र’ यस्मिन्  
प्रदेशे ‘समंस्कुर्वन्’ चित्वाग्निरूपेण संस्तवन्तः । “अडभ्यासव्यवा-  
येऽपीति † कात् पूर्वः सृट् । ‘तत्’ तत्र ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतां’  
निष्क्रान्तां रम्यां तनूँ ‘मध्यतः’ ‘अदधुः’ स्थापयान्शक्रुः । ‘अस्य’  
‘प्रजापतेः’ ‘तस्यां’ तन्वां पुरा निष्क्रान्ता इन्द्रियदेवताः ‘अरमन्त’  
पुनः प्रविश्यातिष्ठन्नित्यर्थः ॥

उक्तार्थोपजीवनेन द्विरण्यनामनिर्वचनं करोति— हितायां  
स्थापितायां ज्ञानक्रियाशक्त्युपेतत्वेन रमणीयायां यस्माद् ‘देवा अर-  
मन्त’, ‘तस्मात्’ हितेऽस्मिन् रमत इति व्युत्पत्त्या द्विरण्यं मिति  
नाम सम्पन्नम्, तदेव पारोक्ष्येण द्विरण्यं मिल्युच्यते । पृषोदरा-  
दित्वात्तद्रूपसिद्धिः । अत एव “द्विरण्यं कस्मादिति प्रक्रम्योक्तं  
यास्केन— “हितरमणं भवतीति वा”—इति ‡ ॥

\* धा० जु० प० ८ ।

† पा० ६. ३. १४० मू० वा० १ ।

‡ निख० ३. ३. १ ।

एवं पुराकल्प मभिधाय प्रकृते योजयति— “तथैवास्मिन्नि-  
त्यादिना । ‘अयं’ यजमानः । शिष्टं स्पष्टम् । का पुनरसौ रम्या  
तनू रिति ता माह— “प्राणो वा अस्येति । प्राणापानादिपञ्च-  
वृत्त्यात्मकः क्रियाशक्त्यात्मकः ‘प्राणः’, ‘अस्य’ प्रजापतेरेव ‘रम्या  
तनूः’ अतस्तत्स्थापन मेव कृतं भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

तस्य पुरुषोपधानस्याधारविशेषं विधाय स्तौति— “तं  
रुक्म इति । यो रुक्मः पुष्करपर्णं उपहितः \*, तस्य मध्ये ‘तं’  
हिरण्यं पुरुष सुपदध्यात् । आदित्यमण्डलात्मको हि ‘एष  
रुक्मः’ आदित्यमण्डलमध्ये यो हिरण्यमयः पुरुष आस्ते ।  
अत एव श्रूयते— “य एष अन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो  
दृश्यते, हिरण्यम् अहिरण्यकेश आ प्रणखात् सर्व एव  
सुवर्णः”—इति † । एष एवोपधीयमानो हिरण्यमयः पुरुषः ;  
रुक्मरूपे आदित्यमण्डले ‘त मेव’ पुरुष सुपहितवान् भव-  
तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

तत्रोपधाने पुरुषस्योपरिमुखत्वं विधत्ते— “उत्तान सुप-  
दधातीति । एतदेवोपरिष्ठात् मुखत्वं माख्यायिकया प्रति-  
पादयति— “एतद्दे देवा इत्यादिना । ‘यदि’ खलु ‘इमो’  
रुक्मपुरुषो ‘अर्वाञ्चो’ अधोमुखो ‘उपधास्यामः’, उभयोस्तेजसोः  
संस्पृष्टत्वेन प्रवलतरौ अधोमुखं ‘सर्व मेवेदं’ जगत् ‘प्रधस्यतः’  
प्रदग्धं करिष्यतः ॥

\* “रुक्मश्च यः कण्ठे प्राग धृतः”—इति कर्काचार्यः । का० श्रौ०  
सू० १६. ५. १ द्रष्टव्यम् । इहापि षष्ठकाण्डे ५. १. २ ( इभा० ३७१८० ) ।

† क्वान्दोग्य-ब्रा० ३. ६. ६ ।

एतद्दीपपरिहारार्थं 'यदि' खल्वेतौ 'पराञ्ची' पराङ्मुखी  
 उपधास्यामः, तथा सति 'पराञ्चावेक' पराङ्मुखावेव सन्तौ  
 'तपस्यतः' सूर्यमण्डलात् ये उपरितना लोकाः, तत्रैव सूर्यप्रकाशः  
 स्यात्, न त्वधस्तनेषु लोकेष्वित्यर्थः । 'प्रधस्यतः'—इति प्रपूर्वाद्  
 दहतेर्लटः सत्रादेशः \* । 'तपस्यत'—इति "तप सप्तपि"—इत्य-  
 स्मात् † । यदि तर्हि 'सम्यञ्ची' परस्परभिमुखौ तौ रुक्मपुरुषौ  
 उपदध्यात्, तदा एतौ 'अन्तरैक' एतयोर्मध्ये एव तदीयं  
 'ज्योतिर्भविष्यति', तथा च व्यवधानादुपरितनानधस्तनांश्च लो-  
 कान् न प्रकाशयेताम् ‡ । 'अथो' अपि च 'अन्योन्यं हिंसिष्यतः'  
 रुक्मस्य ज्योतिषा पुरुषज्योतिः प्रतिहन्येत । तेन च रुक्म-  
 ज्योतिरिति परस्परं हिंसेदित्यर्थः । कथं तर्हि तावुपधेया-  
 विति, तत्राह— "तेऽर्वाञ्च मिति । 'ते' देवाः 'अन्य मेकं' सूर्य-  
 मण्डलात्मकं रुक्मम् 'अर्वाञ्चम्' अधस्तान्निर्वाधम् 'उपादधुः' ।  
 'अन्य' पुरुषं 'पराञ्चम्' पराङ्मुखं उत्तानम् 'उपादधुरित्यनुषङ्गः ।  
 यस्मादेवं तस्मात् 'एषः' मण्डलात्मकः सूर्यो 'रश्मिभिः' किरणैः  
 अर्वाङ्' अधोमुखः 'तपति' । स 'एवः' रुक्मात्मकः । 'एषः'  
 प्राणात्मको मण्डलान्तर्गर्तौ 'पुरुषः' प्राणिनां 'प्राणैः' सह 'जङ्घः'  
 वर्त्तते । अत एवान्यत्रान्नातम्— "योऽसौ तपन्नुदेति, स सर्वेषां  
 भूतानां प्राणानादायोदेतीति ॥

तस्य प्राङ्मुखत्वं विधाय स्तीति— "प्राञ्च मिति । त

\* "दह भस्मोकरणे"—इति भा० प० ६६१ धा० ।

† भा० प० ६८५ धा० ।

‡ 'प्रकाशयेत्' इति ज ।

मुत्तानं पुरुषं 'प्राञ्चं' प्राञ्चुख सुपदध्यात् । 'हि' यस्मात् 'एषः' प्राञ्चुखः प्राक्शिरस्कः 'चीयते' तस्माद्विरण्मयपुरुषस्यापि तथात्वं युक्तम् । पुष्करपर्णीपधानं प्रसृत्य , एतत् सर्वं कात्यायनोऽप्यसूचयत्— "तस्मिन् ह्यस्य मधःपिण्डं ब्रह्म जज्ञान मित्युत्तानं प्राञ्चं हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भं इति"—इति \* । हिरण्यगर्भो द्रष्टव्यस्तन्देति द्वाभ्यां मृग्भ्यां हिरण्यपुरुष सुपदध्यादिति सूचार्थः ॥ १८ ॥

प्रथमां पादशोऽनूय व्याचष्टे— "हिरण्यगर्भं इत्यादिवा † । हिरण्यगर्भो ह्येष इति । 'एषः' हिरण्यपुरुषः सूर्यमण्डलान्तर्वर्त्ती 'हिरण्यगर्भः' । अपञ्चीकृतभूततत्कार्याभिमानी परमेश्वरो हि हिरण्यगर्भः । स च हिरण्यगण्डमध्ये गर्भवदवस्थानाद्विरण्यगर्भं इत्युच्यते ॥

अयं मर्थः— 'अग्रे' सृष्ट्यादौ हिरण्यगर्भाख्यः प्रजापतिः, प्रथमं 'प्रावर्त्तते' प्रथमशरीरी जात इत्यर्थः । अत एवान्यत्र श्रूयते (?)— "स वै शरीरी प्रथमः , स वै पुरुष उच्यते इति ‡ । "एष ह्यस्येत्यादि । 'एषः' खलु हिरण्यगर्भः 'अस्य सर्वस्य' भूतभौतिककामकस्य कृतस्त्वस्य जगतः 'जातः' जातावस्थ एव सन् 'एकः' असाधारणः 'पतिः' नियन्ता 'आसीत्' । "एष वै दिवश्चेत्यादि । 'एषः' खण्डादित्यात्मको हिरण्यगर्भो 'दिव' व्युत्पन्नं 'पृथिवी' भूमिं 'च' प्रकाशनवर्षणादिव्यापारेण 'दाधार' धृतवान् । "कस्मै

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २, ३ ।

† वा० सं० १३. ४ ।

‡ मार्क० पु० ६५. ६४ ।

देवायेति । किंशब्दादिह निरुक्तानिरुक्तकृतस्त्रजगदात्मकत्वाद्  
ईदृग्रूप इति निर्वक्तुं मशक्यः । प्रजापतिरेवोच्यत इत्याह—  
“प्रजापतिर्वैक इति ॥ १८ ॥

द्वितीया नृच मनूय व्याचष्टे— “द्रप्सश्चस्कन्देति \* । “असी वा  
इत्यादि । द्रवागुदविन्दून् किरणैः स्फाति भक्षयतीति ‘द्रप्सोऽसावा-  
दित्यः’ । ‘स दिवश्च पृथिवीं च’ स्कन्दति गच्छति शोषयति वा ।  
“स्कन्दिर् गतिशोषणयोः”—इति † धातुः । स्कन्दनप्रकारविशेष  
मभिनयेन दर्शयति— “इत्यमू मित्तीमा मिति । ‘इति’ अनेन  
उर्ध्वगमनप्रकारेण ‘असु’ दिवं व्याप्नोति । ‘इति’ अनेन प्रका-  
रेण अधोमुखैः किरणैः प्रकाशनेन ‘इमां’ पृथिवीं व्याप्नो-  
तीत्यर्थः । द्वितीयपाद मनूय व्याचष्टे— “इमं च योनि  
मिति । ‘इमञ्च’ आहवनीयाख्यं योनिम्, ‘यश्च पूर्वः’ चितो  
गार्हपत्याख्यः, तदुभयं द्यावापृथिव्यात्मक मसावादित्यो व्याप्नोति  
‘इति’ ‘एतत्’ अर्थपरतां व्याचष्टे । “लोकद्वयरूपता मुक्ता  
चित्तिद्वयरूपता माह— “अथो इति । अपि च ‘एतर्हि’  
एतस्मिन् समये ‘यदिदं चीयते’ आहवनीयाख्यं ‡ स्थानम्,  
‘यश्चादः’ विप्रकृष्टं § गार्हपत्याख्यं स्थानं ‘पूर्वं मचीयत’,  
एतदुभयं हिरण्यपुरुषरूपः सूर्यो व्याप्नोतीत्यर्थः । तृतीय-  
पाद मनूय व्याचष्टे— “समानं योनि मिति । “समानं

\* वा० सं० १३. ५ ।

† भा० प० ६७६ धा० ।

‡ ‘आहवनीयस्य’—इति ज-पाठः ।

§ नास्म्येतत् पदं ज-पुस्तके ।



ह्येष इति । 'एषः' सूर्यः 'समानम्' एकविधम् 'एतं' 'योनिं' स्थानम् 'अगु'-लक्ष्य 'सञ्चरति', प्राच्यां दिशि उद्यत् एकेनैव मार्गेण प्रतिदिवसं सञ्चरतीत्यर्थः । चतुर्थपाद मनुष्य व्याचष्टे— "द्रुप्तं जुहोमीति । तं सञ्चरन्तं 'द्रुप्तं' प्राच्यां दिश्युद्यन्तम्, तद्व्यतिरिक्तासु सप्तसु दिक्षु 'जुहोमि' प्रतिष्ठापयामि । लक्षणे अग्नोः कर्मप्रवचनीयत्वम् \*, "कर्मप्रवचनीययुक्ते"—इति † 'होवा'-शब्दात् द्वितीया ॥ २० ॥

मन्त्रद्वित्व मनुष्य स्तीति— "द्वाभ्यां मिति ‡ । व्याख्यातचर मेतत् ॥

मन्त्रगतच्छन्दोद्वारेण स्तीति— "त्रिष्टुभ्या मिति । आदित्यस्य त्रैष्टुभत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । सादयित्वेत्यादिकं प्रागुक्तार्थम् ॥ २१ ॥

पुरुषोपधानाङ्गत्वेन सामगानं विधत्ते— "अथ सामगायतीति § । 'अथ'-शब्दो हिरण्यपुरुषोपधानानन्तर्ये । तस्य सामगानस्य पुरुषगतवीर्योपादानहेतुत्वं मास्थायिकया प्रतिपादयति— "एतद्वा इत्यादिना । एतस्मिन् खलु समये 'देवाः' 'पुरुषं' हिरण्यमयम् 'उपधाय' 'तम्' पुरुषम् 'एतादृशम्' एवंपुरुषम् 'एव' 'अपश्यत्' । कीदृश मिति तदाह— "यथैतदिति । 'यथा' खलु 'एतत्' 'शुष्कं' नीरसं 'फलकम्' काष्ठमयम्, तद्वन्निर्वीर्यं मेवापश्यन्नित्यर्थः ॥ २२ ॥

\* पा० सू० १. ४. ६० ।

† पा० सू० २. ३. ८ ।

‡ वा० सं० १३. ४. ५ ।

§ का० औ० सू० १७. ४. ४ ।

“तेऽब्रुवन्निति । ‘ते’ देवाः अन्योऽन्यम् ‘अब्रुवन्’—  
 ‘यथास्मिन्’ पुरुषे ‘वीर्यं’ प्राणादिलक्षणं ‘दधाम’ स्थापयाम,  
 तत्प्रकारं हे देवाः ! यूपम् ‘उपजानोत’ । एव मालोच्य ‘ते’  
 देवाः पुनः ‘अब्रुवन्’ उपज्ञाहेतुत्वेन ‘चेतयध्व मिति’ । एतद्  
 वाक्यं श्रुतिः स्वयं व्याचष्टे— “चिति मिच्छतेति । चितिः  
 अत्र ज्ञानविशेषः । किमर्थं चेतयध्व मिति प्रार्थ्यते ? इत्या-  
 शङ्क्य तस्य प्रयोजनं मुक्तम्— “तदिच्छतेति । यथा खलु  
 अस्मिन् शुष्कफलकवन्दीरसे पुरुषे वीर्यं स्थापयाम, तं मुपाय  
 मिच्छतेत्यर्थः ॥ २३ ॥

“ते चेतयमाना इति । एवं परस्परं मालोच्य ‘चेतयमानाः’  
 मीमांसमानाः ‘ते’ देवाः वीर्याधानार्थम् ‘एतत् सामापश्यन्’,  
 दृष्ट्वा च ‘तत्’ साम ‘अगायन्’, तेन च ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे  
 ‘वीर्यम्’ अस्थापयन् ॥

इत्थं सामगानस्य वीर्याधानहेतुता माख्यायिकया प्रति-  
 पाद्य, तद्वृष्टान्तेनेदानीं मपि पुरुषे सामगानस्य तद्वृष्टता  
 माह— “तथैवास्मिन्निति । यथा देवास्तथैव ‘अयं’ यजमानः ।  
 सिद्धं मन्यत् ॥

“पुरुषे गायतीति । ‘पुरुषे’ अन्वारब्धे सति तत् साम-  
 गातव्यम् । ‘तत्’ तथा सति तस्मिन् हिरण्यपुरुषे सामलक्षणं  
 ‘वीर्यं’ स्थापितवान् भवति । “चित्ते गायतीति । चित्रलिङ्गके  
 मन्त्रे “चित्रं देवानां मित्वादिके \* । तदुक्तं कर्कभाष्ये— “पुरुषे

चित्रे साम गायतीति कात्यायनेन पुरुष इति सप्तमीनिर्देशा-  
दालम्बे पुरुषे चित्रे चित्रलिङ्गके \* मन्त्रे साम गायति—इति † ।  
“सर्वाणि होत्यादि । लोके यावन्ति हि ‘चित्राणि’ विचित्र-  
रूपाणि सन्ति , तत् सर्वसमुदायरूपः चित्यः ‘अग्निः’ ; अत-  
श्चित्रे गानं युक्त मिति । “त सुपधायेत्यादि । ‘तं’ हिरण्य-  
पुरुषम् ‘उपधाय’ ‘न पुरस्तात् पठेयात्’ पूर्वस्यां दिशि नाति-  
कमेत् ‡ । परिगमने हि ‘अयम्’ अग्निः ‘मा’ मां ‘नेत्’ नैव  
‘हिनसत्’ हिंस्यात् , बाधेत । हिनस्तेल्लेऽटि अडागमः § ॥ २४ ॥

अथ यजमानकर्तृकं पुरुषस्योपस्थानं विधत्ते— “अथ  
सर्पनामैरिति । “नमोऽस्तु सर्पेभ्य इत्याद्याः सर्पनामाख्या  
मन्त्राः ॥ । सूत्रितं हि— “उपतिष्ठते यजमानो नमोऽस्वि-  
तोति ¶ । अथैतत् सर्पनामभिरुपस्थानं लोकत्रयस्थापनहेतुत्वेना-  
ख्यायिकया प्रतिपादयति— “इमे वै लोका इत्यादिना ।  
‘यदिदं’ लोकत्रयवर्त्ति किं मपि प्राणिजात मस्ति , ‘अनेन  
सर्वेण’ सह पृथिव्यादयः ‘ते लोकाः सर्पन्ति’ । तस्मात् सर्पण-  
निमितात् सर्पणशब्दाभिधेया लोका इत्यर्थः । तथा चित्याग्नि-

\* ‘चित्रलिङ्गके “कयाचित्रः”—इत्यस्याम्—इति च तत्र वृत्तिः ।

• स च मन्त्रः वा० सं० २७. ३६ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. ४ भाष्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ५ ।

§ पा० सू० ३. ४. ७, ३. १. ३४, ३. ४. १७, ३. ४. ६४ ।

॥ वा० सं० १३. ६—८ ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. ४. ६ ।

रिति 'यत्' अस्ति, 'एषः' एव खलु सर्वेषां 'देवानाम्' 'आत्मा'; अतः 'ते देवाः' 'एत आत्मानं' हिरण्यपुरुष सुप्रधाय 'अवि-  
भयुः' भयं प्राप्ताः । "यद्देन इत्यादिना भयस्वरूपप्रतिपादनम् ।  
यदि खलु 'नः' अस्माकम् 'अनेनात्मना' सह 'इमे लोका न सपैयुः'  
(॥२५॥), तर्ह्यक्षदीयस्यात्मनो लोकसम्बन्धविरहादाश्रयो न स्यादि-  
त्येवं भोताः 'ते' देवाः 'एतानि' नमोऽस्त्वित्यादीनि 'सर्पनामानि'  
'अपश्यन्' । दृष्ट्वा च 'तैः' उपस्थानं कृतवन्तः । तेन 'चोपस्थानेन'  
'अस्मै' हिरण्यपुरुषरूपायाम्नये 'इमान्' पृथिवीत्यादि- 'लोकान्'  
'अस्थापयन्', 'तैः' लोकैरेनम् 'अनमयन्' वशीकृतवन्तः । "यद-  
नमयन्निति, सर्पनामास्थानिर्वचनम् । सर्पाणां नमनहेतुत्वाच्च  
सर्पनामानीत्यर्थः । "तथैतदित्यादिना आस्थाधिक्या सिद्ध्य-  
र्थस्य दार्ष्टान्तिके योजनम्, तच्च व्याख्यातप्रायम् । "तथो  
हास्येति । सर्पनामभिरुपस्थाने सति 'अस्य' यजमानस्य 'एते'  
लोकाः 'एतेन' चित्त्वान्निरूपेण आत्मना 'न सर्पन्ति', किन्त्वव-  
तिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ २५, २६ ॥

सर्पनामभिरुपस्थानं मनूय प्रकारान्तरेण स्तौति— "यद्दे-  
वेति । यदिदं किञ्च स्थावरजङ्गमात्मकं प्राणिजातं मस्ति, 'तत्'  
सर्वम् 'एष्वेव लोकेषु' 'सर्पन्ति' चलति । सर्पणाधिकरणत्वात्  
सर्पा लोकाः । 'तत्' तथा सति सर्पनामास्थैर्मन्त्रैः 'उपतिष्ठते'  
इति यदस्ति, 'तत्' तेन 'एष्वेव लोकेषु' वर्त्तमानं नाष्टादिकं  
शमयति । 'नाष्टा' नाशकारिणी आसुरी प्रजा, 'व्यहरः' व्यधन-  
शीलो दम्भशूकादिः, 'शिमिदा' विषहेतुर्लूतावृष्टिकादिः ॥ २७ ॥

तत्र प्रथमं सर्पनाममन्त्रं मनूय तात्पर्यं व्याचष्टे—

“नमोऽस्त्रित्यादिना \* । “य एवेष्विति । ‘एषु एव त्रिषु लोकेषु’ ‘ये’ सर्पणशीला दन्दशूकाद्याः प्राणिनः, ‘तेभ्य एतत् नमस्करोति’ इति मन्त्रस्य तात्पर्यार्थः । “पृथिवी मन्विति । लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनोपत्वम् । मन्त्रार्थी निगदसिद्धः ॥ २८ ॥

द्वितीयं मन्त्र मनूय व्याचष्टे— “या इषव इति । “यातुधान-  
प्रेषिता इति । यातुधानैः राज्ञसैः प्रेषिताः खलु ‘एके’ सर्पाः  
‘दशन्ति’ खादन्ति । “दंश दंशने” †, “दंशसञ्ज्ञस्त्रिंशः शयीति ‡  
नलोपः । अतस्ते ‘यातुधानानाम्’ ‘इषवः’ बाणाः, ईदृग्विधाश्च  
‘ये’ सर्पाः, ‘ये वा वनस्पतीरनु’ अनुलक्ष्य वनस्पतिषु वर्तन्ते ।  
‘अवटेषु’ बिलेषु शेरते ये सर्पाः, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नमः’-इत्यनेन  
मन्त्रेण नमस्कारः क्रियत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

तृतीयं सर्पनाम मन्त्र मनूय मन्त्रत्रयतात्पर्यं व्याचष्टे— “ये  
चामीति । सर्वत्र ‘वा’-शब्दश्चार्थः । ‘दिवः’ द्युलोकस्य सम्बन्धिनि  
‘रोचने’ रोचमाने स्थाने, ‘ये’ चामी सर्पाः ‘सूर्यस्य रश्मिषु’ च  
वर्तन्ते, ‘येषां’ सर्पाणाम् ‘अमु’ उदकमध्ये ‘सदः’ सदनं स्थानं  
‘कृतम्’ अस्ति, ‘तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति’ ।

“यत्र-यत्रेत्यादि, मन्त्रत्रयतात्पर्यकथनम् § । ‘यत्र यत्र’ देशे ‘एते’  
सर्पन्ति वर्तन्ते, ‘तत्’ तत्रैव ‘एभ्यः’ सर्पेभ्यो नम इति । चिष्वपि  
\* मन्त्रेषु पठितानां नमः-शब्दानां सङ्ग्राहार्था पुनरुक्तिः— ‘नमो

\* वा० सं० १३. ६ ।

† ‘न-लोपे सञ्ज्ञिसाहचर्याद् भादेरेव ग्रहणम्’-इत्यादिह दीक्षितः ।

‡ पा० सू० ६. ४. २५ ।

§ वा० सं० १३. ६-८ ।

नम इति'-इति । पुनः पुनर्नमः शब्दप्रयोगेण 'एतन्नमस्करोति' । नमस्कारं स्तौति— "यन्नो वै नम इति । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो 'यन्नः' । स यथा देवानां प्रीतिकरः, तद्वन्नमस्कारोऽपीति तस्य यन्नात्मकता । तथा च यन्नात्मकेनैव नमस्कारेण 'एनान्' सर्पान् 'नमस्यति' पूजयति । नमसः पूजायामर्थे "नमो वरिव इति \* क्वक् । प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह— "तस्मादिति । यस्मादेवं नमस्कारप्रतिपादको नमः शब्दोऽपि यन्नात्मकः प्रयुज्यते, तस्मादेव कारणात् 'अयन्नियं' यन्नात्मकं हे देवदत्त ! नमस्तुभ्यमित्येवं 'न ब्रूयात्' । तस्य वचनस्य यन्नियत्वमाविष्करोति— "यथा हैनमिति । 'यथा' खलु 'एनम्' अतिथिं ब्रूयात् "यन्नस्ते" कल्पितः 'इति', 'तादृक् तत्' सदृशमेव तत् नमस्त इति वचनम् ॥ ३० ॥

मन्त्रस्य त्रिसङ्ख्या सुपजीव्य † स्तौति— "त्रिभिर्नृपतिष्ठत इति ‡ । 'त्रय इमे लोकाः' पृथिव्यादयः, अतस्तत्तद्व्याख्या मन्त्रत्रित्वमित्यर्थः । "अथो त्रिवृदग्निरित्यादिना मन्त्रत्रित्वस्य प्रयोजनान्तरप्रतिपादनम् । "त्रिवृदग्निरित्यादि, † प्राग् व्याख्यातम् । "तावतैवास्मा इति । 'अस्मै' हिरण्ययपुरुषाय 'तावता' तस्याग्नेः परिमाणेनैव 'इमान् लोकान्' 'एतत्' एतेनोपस्थानेन 'स्थापयति' । 'अथो' अपि च 'तावता' तत्परिमाणेनैव 'इदं' 'सर्वं' जगत् तेनोपस्थानेन 'शमयति' ॥

\* पा० सू० ३. १. १६ ।

† वा० सं० १३. ६—८ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ६ ।

तच्चोपस्थानं तिष्ठता कर्त्तव्य मिति स्थितिगुणं विधाय स्तौति—  
 “तिष्ठन्नुपतिष्ठत इति । ऊर्द्धाकारेणावस्थानात् ‘तिष्ठन्तीव’ खलु  
 ‘इमे लोकाः’ ; ‘अथो’ अपि च उपविष्टात् पुरुषात् ‘तिष्ठन्’  
 खलु पुरुषो ‘वोर्यवत्तरः’ अतिशयितवोर्यवान् । तस्मादुपस्थानस्य  
 तिष्ठत्कर्तृकता युक्तित्यर्थः ॥ ३१ ॥

अभिहोमं विधत्ते— “अथैन मिति । उपस्थानानन्त-  
 र्यम् ‘अथ’-शब्दार्थः । ‘एनं’ हिरण्यमयपुरुषम् ‘अभिजुहोति’  
 अभितः सर्वासु दिक्षु उपरि होमेन संस्तुर्यात् । तद्व्यं  
 विधत्ते— “आग्येनेति । आहुतिपञ्चकार्यं पञ्चगृह्येत माग्यं  
 सुचि गृहीत्वा , तेनाभिजुहुयादित्यर्थः \* । “तस्योक्त इति ।  
 ‘तस्य’ पञ्चसङ्ख्यायुक्तत्वस्य स्तावको वाक्यशेषः प्रागान्नात  
 इत्यर्थः ॥

“सर्वतः परिसर्प मिति । ‘सर्वतः’ सर्वासु दिक्षु ‘परिसर्प’  
 परिसृज्य तां तां दिशं परिक्रम्य । “आभीक्ष्ण्येण समुल् च” † । परि-  
 सर्पणस्य प्रयोजनमाह— “सर्वाभ्य इति । ‘सर्वाभ्यो दिग्भ्यः’  
 सकाशात् ‘एनं’ पुरुषम् । गतमन्यत् ॥ ३२ ॥

मन्त्रविध्यर्थं मनुवदति— “यद्देवैन मिति । “ऊणुष्व  
 पाज इत्याद्यान् ‡ राक्षोघ्नान् पञ्च मन्त्रान् विधातु मास्थायिका  
 माह— “एतद्दे देवा इति । “यद्दे न इम मिति । ‘नः’

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. ७ ।

† पा० सू० ३. ४. २२ ।

‡ वा० सं० १३. ६—१३ ।

अस्माकम् 'इमम्' आत्मानम् 'इह' अग्निववसरे 'नाद्राः रक्षांसि'  
 'यत्' येनोपायेन 'न हन्युः', स उपायः क इति विचारितवन्त  
 इत्यर्थः । "राक्षोघ्नान् प्रतिसरानिति । राक्षसान् प्रति अस्त्र-  
 रूपेण सरन्ति गच्छन्ति इति 'प्रतिसराः' कणुष्य पाञ्च इत्याद्या  
 मन्त्राः \* । अत एव रक्षोहननसम्बन्धात् 'राक्षोघ्नाः' ; 'वै'-शब्दः  
 प्रसिद्धौ । सा च "अस्तासि विध्य रक्षसस्तपिष्ठैरित्यादिमन्त्रवर्णा-  
 दवसेया † । "तथैवेतदित्यादिना । उक्तार्थदृष्टान्तमुखेनाभिहितो-  
 मन्त्रविधिः । मन्त्रद्वारा रक्षोहननहेतुतां प्रतिपाद्य द्रव्यमुखे-  
 नापि तत् प्रतिपादयति— "वज्रो वा इति । "घृतं खलु  
 वै देवा वज्रं कृत्वा सोम मघ्नन्निति ‡ तैत्तिरीयके प्रसिद्धं  
 घृतस्य वज्ररूपत्व मत्र 'वै'-शब्दो द्योतयति । यद्वा आग्ने-  
 स्याग्निज्वालाहेतुत्वात् वज्रत्वम् । "पञ्चर्तवः संवत्सर इति ।  
 हेमन्तशिशिरयोः समासाभिप्रायेण § । "तावतैवैतद्रक्षांसीति ।  
 यत्परिमाणविशिष्टस्त्रित्योऽग्निः , तावत्परिमाणेन 'एतद्' एतेन  
 कर्मणा 'नाद्रा रक्षांसि' नाशयति । मन्त्रदेवताद्वारेण प्रशंसति—  
 "आग्नेयीभिरिति । अग्निदेवता यासां ता आग्नेय्यः , "अग्ने-  
 र्दक्" ॥ , "टिष्ठाणञ्"-इति ¶ डीप् ॥

\* वा० सं० १३. ६—१३ ।

† ऋ० सं० ४. ४. १ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ ।

§ ऐ० ब्रा० १. १. १ द्रष्टव्यम् ।

॥ पा० सू० ४. २. ३३ ।

¶ पा० सू० ४. १. १५ ।



हृन्दोदारेण स्तौति— “त्रिष्टुब्भिरिति । “वक्षो वै त्रिष्टु-  
बिति । इन्द्रेण सहोत्पन्नत्वाद् वीर्योपेतात्, प्रजापत्यवयवा-  
दुत्पत्तेश्च त्रिष्टुभो वक्षत्वम् ॥

परिसर्पणप्रकारं विभिक्षुर्विहितं परिसर्पणं मनूय स्तौति—  
“सर्वतः सरिसर्पं मिति । उक्तार्थं मेतत् \* ॥ ३४ ॥

“पश्चादग्नेरित्यादिना परिसर्पणं प्रकारो निरूप्यते । ‘अग्नेः’  
प्रथमं ‘पश्चात्’ प्रतीक्षां दिशि प्राङ्मुख उपविष्टः सन्, प्रथमेन  
मन्त्रेण पुरुषं मभिक्षुहोति । अथोत्तरभागे दक्षिणांमुख उप-  
विष्टः सन्, द्वितीयेन मन्त्रेणाभिक्षुहोति । ‘अथ पुरस्तात्’  
प्राच्यां दिशि प्रत्यङ्मुख उपविष्टः सन्, तृतीयेन मन्त्रेण ।  
‘अथ’ यथेतं प्रतिनिवृत्य ‘जघनेन परोत्य’, पुरुषस्य पश्चाद्-  
भागेन परिक्रम्य, ‘दक्षिणतः’ दक्षिणस्यां दिशि उदङ्मुख  
उपविष्टः, चतुर्थेन मन्त्रेणाभिक्षुहोति । “तदक्षिणावृत्तिरिति † ।  
एवं क्रियमाणा सति होमस्य प्रादक्षिण्येन वृत्तिरुपपन्ना  
भवति । ‘तत्’ खलु प्रादक्षिण्यं ‘देवत्रा’ देवसम्बन्धिनि  
कर्मणि योग्यम्, ‘अथ’ अनन्तरम् ‘अनुपरोत्य’ दक्षिणदिक्कक्षा-  
शात् प्रतीचीं दिशं गत्वा, तत्र ‘प्राङ्मासीनः’ पश्चमेन मन्त्रे-  
णाभिक्षुहोत्यात् ‡ । तथैव सति हि ‘अस्य’ यजमानस्य ‘एतत्’  
अभिहोमाख्यं ‘कर्म’ प्रागपवर्गं ‘कृतं’ भवति-इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

\* इहैव पुरस्तात् ( ३६८ पृ० १३ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. ८ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. ९, १० ।

सुचोरुपधानं विधत्ते— “अथ सुचाविति \* । तत् प्रशंसति— “बाह्व वा इति । “शुद्धदक्षिणो हस्तः, उपभृत् सव्यः”—इत्यादिश्रुत्यन्तरप्रसिद्धे † सुचोर्बाहुरूपता । तथा सति ‘एतत्’ सुगुपधानेन ‘अस्मिन्’ हिरण्यपुरुषे ‘बाह्व एव’ ‘प्रतिदधाति’ सन्दधाति । सुचोर्बाहुरूपताप्रसिद्धिं मभिनयेन दर्शयति— “इद मेवेति । ‘इद मेव’ हस्तापं प्रसृतिरूपेण ‡ दृश्यमानं ‘कपुस्तलम्’ § सुगग्रस्थानीयम् । ‘अयम्’ एव बाहुः ‘दण्डः’ सुक्दण्डः ; अतः सुगुपता अनयोः प्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः । द्वित्वमनूय स्तौति— “हे भवत इति । दक्षिणोत्तरपार्श्वयोस्तदुपधानं विधत्ते— “पार्श्वत इति । तत्र हेतु माह— “पार्श्वतो हीति ॥ ३६ ॥

तत्र दक्षिणपार्श्वे उपधेयायाः सुचो वृक्षविशेषं विधत्ते— “कार्पर्यमयी मिति ॥ । कार्पर्यवृक्षेण निर्मिता सुक् कार्पर्यमयी । सुचस्तत्पङ्कतिता माख्यायिकया प्रतिपादयति— “एतद्वा इत्यादिना । “वनस्पति मपश्यन्निति । कार्पर्याख्यं वनस्पति मिति सम्बन्धः । सिद्धमन्यत् । सुच आज्येन पूरणं विधाय स्तौति— “आज्येन पूर्णा भवतीति ॥ ३७ ॥

उत्तरपार्श्वे उदुम्बरवृक्षजतायाः सुच उपधानं विधत्ते—

\* का० श्रौ सू० १७. ४. ११ ।

† ते० ब्रा० ३. ३. १ ।

‡ ‘सृष्टिरूपेण’—इति ज-पाठः ।

§ ‘कपुस्तलम्’—इति ङ-पाठः ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. १२ ।

“अथौदुम्बरी सुत्तरत इति \* । “जम्बा इत्यादि , प्रागुक्तार्थम् । उपधानसमये दध्ना तस्याः पूरणं विधाय स्वीति — “दध्ना पूर्णा भवतीति । “रसो वै दधीति । पयस ओषधिसाररसात्मकत्वाद् दध्नोऽपि रसात्मकत्वम् ॥ ३८ ॥

सुचोऽपधान मनूय तयोर्बाहु रूपतां वक्तुं तावत् तदुपादानयोर्वृक्षयोस्तपत्ति माह — “यद्वेवेत्यादिना । विस्मिष्टावयवस्य ‘प्रजापतेस्तेजः’ ‘आदाय’ गृहीत्वा ‘अग्निः’ दक्षिणतः ‘अकर्षत्’ अनेषीत् । ‘सः’ अग्निः अत्र अस्मिन् कार्पर्यवृक्षे ‘उदरमत्’ उत्कृष्ट मरमत् , सुख मवाप्सीदित्यर्थः । “यत् कृष्टेत्यादिना कार्पर्य-नामनिवृत्तिः । कषेर्धातोः रमेक्ष कार्पर्यशब्दनिष्पत्तिर्वर्ण-विकारेण द्रष्टव्या । ‘अथ’ अग्निगमनानन्तरम् , ‘अस्य’ विस्त-स्तावयवस्य प्रजापतेः सम्बन्धि ‘ओजः’ आन्तरं वीर्यं ‘इन्द्रः’ ‘आदाय’ स्वीकृत्य ‘उदङ्’ उत्तरामुखः सन् उत्तरभागे ‘उद-क्रामत्’ । उत्क्रम्य ‘सः’ ‘उदुम्बरः’ वृक्षो जातः ॥ ३९ ॥

“ताम्रवीदिति । ततः ‘तौ’ अग्नीन्द्रो प्रजापतिः ‘अब्रवीत्’ । ‘मा उपेतं’ मा सुपगच्छतम् , ‘एतत्’ मदीय मङ्गं ‘प्रतिधत्तं’ पुनःसन्धानेन संस्तुतम् । ‘येन’ कारणेन ‘मे’ मदीयशरीरात् ‘युव मुदक्रमि-ष्टम्’ । ‘इति’-शब्दः प्रजापतिवाक्यपरिसमाप्ती । “ताभ्यामित्यादि, तयोरग्नीन्द्रयोर्वाक्यम् । “युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाख्योः” —इति † चतुर्थ्यन्तस्याच ‘नौ’-भावः । हे प्रजापते ! ‘ताभ्यां’ खलु

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. १३ ।

† पा० सू० ८. १. २० ।

यदेवास्थैते ऽआत्मनस्तदस्मिन्नेतत् प्रतिदधाति तस्मा-  
 देते ऽअत्रोपदधाति ते ऽअनन्तर्हिते विश्वज्योतिष  
 उपदधाति प्रजा वै विश्वज्योतिरनन्तर्हितास्तत्  
 प्रजा ऋतुभ्यो दधाति तस्मात् प्रजा ऋतुनेवानु-  
 प्रजायन्त ऽऋतुभिर्ह्येव गर्भे सन्तः सम्पश्यन्त्यृतुभि-  
 र्जातम् \* ॥ ३१ ॥

अथाषाढा मुपदधाति । इयं वा ऽअषाढेमा  
 मेवैतदुपदधाति तां पूर्वार्द्धे ऽउपदधाति प्रथमा होय  
 मसृज्यत ॥ ३२ ॥

सा यदुषाढा नाम । देवाश्चासुराश्चोभये प्राजा-  
 पत्या अस्पृङ्गन्त ते देवा एता मिष्टका मपश्यन्नुषाढा  
 मिमा मेव ता मुपादधत ता मुपधायासुरान्सपत्नान्  
 भ्रातृव्यानस्मात्सुर्व्वस्मादसहन्त यदुसहन्त तस्माद-  
 षाढा तथैवैतद्यजमान एता मुपधाय द्विषन्त भ्रातृव्य  
 मस्मात् सुर्व्वस्मात् सहते ॥ ३३ ॥

यद्वैवाषाढा मुपदधाति । व्याग्रा ऽअषाढा वा-

---

\* 'र्जातम्'—इति ग, घ ।

चैव तद्देवा असुरान्सपत्नान् भातव्यानस्मात् सर्व-  
स्मादसहन्त तथैवैतद्यजमानो व्याचैव द्विषन्तं भात-  
व्य मस्मात्सर्वस्मात्सहते व्याच मेव तद्देवा उपादधत  
तथैवैतद्यजमानो व्याच मेवोपधत्ते \* ॥ ३४ ॥

सैयं वामभृत् । प्राणा वै वामं यद्धि किञ्च  
प्राणीयं तत् सर्वं बिभर्त्ति तेनेयं वामभृद्वाग्ध त्वेव  
वामभृत् प्राणा वै वामं व्याचि वै प्राणेभ्योऽन्नं  
धीयते तस्माद्वाग्वामभृत् † ॥ ३५ ॥

त ऽएते सर्वे प्राणा यदुषाढा । तां पूर्वार्द्ध‡  
ऽउपदधाति पुरस्तात् प्राणान्दधाति तस्मादि-  
मे पुरस्तात् प्राणास्तान्नान्यया यजुष्मत्वेष्टक्या पुर-  
स्तात् प्रत्युपदध्यादेतस्यां चितौ नेत्याणानपिदधा-  
नीति § ॥ ३६ ॥

यद्वपस्याः पञ्च पुरस्तादुपदधाति । अन्नं वा

\* 'मेवोपधत्ते'—इति ख , 'मेवापधत्ते'—इति ग, घ ।

† 'वामभृत्'—इति ग, घ ।

‡ 'पूर्वार्द्ध'—इति, ख ।

§ 'दधानीति'—इति क ।

ऽआपोऽनपिहिता वा ऽअन्नेन प्राणास्ता मनन्तर्हिता  
मृतव्याभ्या मुपदधात्तृषु तद्वाचं प्रतिष्ठापयति सेयं  
व्यागृतृषु प्रतिष्ठिता व्वदति ॥ ३७ ॥

तदाहुः । युत् प्रजा विश्वज्योतिर्वाङ्गुषाढाय  
कस्मादन्तरेण ऽर्त्तव्ये ऽउपदधातीति संवत्सरो वा ऽऋ-  
तव्ये संवत्सरेण तत् प्रजाभ्यो व्वाच मन्तर्दधाति  
तस्मात् संवत्सरवेलायां प्रजा व्वाचं प्रवदन्ति ॥  
॥ ३८ ॥

अषाढासि सहमानेति । असहन्त ह्येतया  
देवा अमुरान्सहस्रारातीः सहस्र पृतनायत इति  
यथैव यजुस्तथा बभूवुः सहस्रवीर्यासि सा मा  
जिन्वेति सर्वं वै सहस्रं सर्ववीर्यासि सा मा  
जिन्वेत्येतत् सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो  
बभूवुः ॥ ३९ ॥

तदाहुः । कस्मादभिस्वयमावृणु मन्था इष्टका  
उपधीयन्ते प्राच्य एता इति द्वे वै योनी ऽइति  
ब्रूयाद्देवयोनिरन्यो मनुष्ययोनिरन्यः प्राचीनप्रज-  
नना वै देवाः प्रतीचीनप्रजनना मनुष्यास्तदु-

देताः प्राचीरुपदधाति देवयोनेरिवैतद्युजमानं प्रज-  
नयति ॥ ४० ॥ २ ॥

॥ इति तृतीयप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [४. २.] ॥

गते ब्राह्मणे रुक्माद्युपधानं विहितम् \* , अथास्मिन् ब्राह्मणे  
स्वयमाह्वासादूर्वेष्टकाद्युपधानं विधास्यते । कात्यायनः, — “स्वय-  
माह्वासां पुरुषे शर्करां किद्रा मिति † । पुरुषप्रयत्न मन्त्रेण या  
स्वत एव किद्रयुक्ता, शर्करा क्षुद्रपाषाणविशेषः , सा स्वयमाह्वासा,  
तां हिरण्यपुरुषे उपदध्यात् । तदेतद् विधत्ते— “स्वय-  
माह्वासा सुपदधातीति । स्वयमाह्वासाख्या मिष्टका सुपदध्या-  
दिति विधिरुन्नेयः ; यथा “औदुम्बरी यूपो भवतीति । तत्र  
हि भवतीत्यस्य वर्त्तमानापदेशत्वात् प्रत्यक्षविधित्वासम्भवेऽपि  
“जग्वै”—इत्याद्यर्थवादकृतस्तुत्या विधिरुन्नेयत इति निर्णीतम् ।

ननु “जग्वै” उदुम्बर इत्यादेः यूपोदुम्बरस्य फलविधाय-  
कत्वात् कथं मर्थवादत्व मिति चेत्, न ; अविहितस्य  
फलाभिधानायोगाद् विहितस्येति वक्तव्यम् ; विधिश्च तस्यार्थ-  
वादत्व मन्त्रेण न सम्भवतीति । अतोऽत्रापि “इयं वै”—  
इत्याद्यर्थवादस्य वर्त्तमानापदेशत्वादुन्नेतव्यो विधिः । एव मन्य-  
त्रापि वर्त्तमानापदेशेषु अयं मेव न्यायो द्रष्टव्यः ।

\* नास्थितद् वाक्यं ज-पुस्तके ।

† का० श्रौ० सू० १७. ४. १५ ।

तस्याः स्वयमाह्वयाः पृथिवीविकारत्वात् तदुपधानेन  
पृथिव्युपधानं मेव सम्पादितं भवतीत्याह— “इयं वा इति ।

यदुक्तं सूत्रे पुरुष इति, तद् विधत्ते— “ता मनन्तर्हिता  
मिति । ‘ताम्’ इष्टकां ‘पुरुषात्’ ‘अनन्तर्हिताम्’ अव्यवहितां,  
तत्सम्बद्धा सुपदध्यादित्यर्थः ।

पुरुषसम्बद्धत्वेनोपधानं प्रशंसति— “अन्नं वा इति ।  
पृथिव्यां व्रीह्यादीनां सर्वेषां मन्त्रानां पच्यमानत्वादन्नरूपा  
पृथिवी, स्वयमाह्वया च पृथिवीत्युक्तम् ; अतश्च पुरुषसम्बद्धे-  
नोपधानेन तस्मिन्नन्नं मेव निहितत्वात् भवति ।

अनन्तर्हितं मित्युक्तत्वात् क्वचित् तत्पार्श्वे संश्लेषेणाप्यव्यवधानं  
सुपपद्यत इत्यत आह— “उत्तरा मिति । ‘उत्तरां’ पुरुष-  
स्योपर्यवस्थिताम् । विधेयविशेषणं मेतत् । अत एव सूत्रे ‘पुरुषे’  
इति सप्तम्या उपधानाधिकरणत्वं सुक्तम् ।

“उत्तरं मेवाह्मादिति । ‘अह्मात्’ पुरुषात् ‘उत्तरम्’ उपर्य-  
वस्थितम् ‘अन्नं’ करोति, पुरुषस्य मुखे दधातीति \* भावः ॥ १ ॥

विहितां स्वयमाह्वया मनूय प्राणात्मना स्तीति— “यद्दे-  
वेति । “स्वयमाह्वया सुपदधातीति यदस्ति, तत्कारणं मुच्यत  
इत्यर्थः । “प्राणो ह्येवैतत् स्वयं मात्मन आह्वन्ते”—इति स्वय-  
माह्वयाः प्राणत्वोपपादनम् । प्राणो नाम शरीरान्तर्वर्त्तमानो  
वायुः । स हि आत्मनोऽर्थे स्वयम् ‘आह्वन्ते’ आतर्दनं कुरुते,  
शरीरान्तर्गतनाडीषु अवकाशं कृत्वा प्रवर्त्तते । अथ वा आत्मनः  
शरीरस्यान्तः आह्वन्ते इति योजना । आह्वन्ते इति “उहृदिर्-

\* ‘निदधातीति’—इति च ।



हिंसानादरयोः \*”—इत्यस्माद्वीधादिकास्तृष्टि रूपम् ; अतः स्वयमातर्हन्सामान्यात् स्वयमात्मन्याः प्राणात्मकत्वं मित्यर्थः ।

विहितव्यवधानं मनुवदन् न केवलं स्वयमातर्हन्सामान्यादेकप्राणत्वम्, अपि तु पूर्वोक्तपृथिवीत्त्वसाम्याच्चापि † प्राणत्वं मस्या विद्यत इति दर्शयति — “ता मनस्तर्हिता मित्यादिना । यत् किञ्चिन्ननुष्यपशुपक्षिसरोरुपादिकं प्राणिजातं मस्ति, तत् सर्वं पृथिवी विभर्ति खलु । अनेन पृथिव्याः प्राणात्मकत्वं सुपपादितम् । स्पष्टं मन्यत् ॥ २ ॥

अथ पुनरपि तां मेवेष्टकां विस्त्रस्तावयवस्य प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपेण प्रशंसति — “यदेवेति । पूर्वं प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विस्त्रस्ताङ्गोऽभूत् । तादृशं ‘तं’ प्रजापतिम् अवयवशः ‘आदाय’, देवताः ‘व्युदक्रामन्’, ततः ‘तासु’ ‘व्युत्क्रामतीषु’ ‡, स प्रजापतिः प्रतिष्ठारूपं मङ्गं स्वयम् ‘अभिपद्य’ गृहीत्वा ‘उपाविशत्’ । तदेतत् प्राक् प्रपञ्चेनोक्तम् — “प्रजापतिः प्रजां असृजत, स प्रजाः सृष्ट्वा सर्वं माजि मित्वाव्यस्रंसत, तस्माद्विस्त्रस्तात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना § । प्रजापतेः प्रजासर्जनेन विस्त्रस्तावयवत्वं तैत्तिरीयकोऽप्यास्मात् — “प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा व्यस्रंसतेति ॥ ३ ॥

\* रु० उ० ६ धा० ।

† ‘पृथिवीत्वं माद्यापि’—इति च, ‘पृथिवीत्वं प्रणाद्यापि’—इति ह ।

‡ ‘देवाः’, ‘तेषु’, ‘व्युत्क्रामन्’—इति त्रयः पाठास्तल्लभ्यार्था वा सायणीयाः ।

§ पुरस्तादिहेव १. १. २ ( ४६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

॥ तै० ब्रा० २. ३. ६. १ ।

“स य इति । ‘सः’ प्रजानां स्वष्टा , यः प्रजापतिः विश्वस्ती-  
 ऽभूत् , ‘सोऽय मेव’ ; य एष इष्टकासङ्घातरूपः ‘अग्निधीयते’ ।  
 ‘अथ’ ‘या च’ ‘सा’ प्रजापतिना प्राप्ता ‘प्रतिष्ठा’ , ‘सा एषा’ ;  
 इदानीं उपधीयमाना ‘प्रथमा स्वयमादृशा’ । प्रथममध्यमोत्तमास्तु  
 तिसृष्वपि चितिषु तिस्रः स्वयमादृशा उपधीयन्ते , अतोऽत्र प्रथ-  
 मेति विशेषणम् । “तद्यदिति । यतः ‘एताम्’ इष्टकाम् ‘अत्र’ पुरुषे  
 ‘उपदधाति’ , ‘तत्’ तेन ‘अस्य’ पुरुषरूपस्य प्रजापतेः ‘आत्मनः’  
 स्वस्य ‘यदेतत्’ प्रतिष्ठालक्षणं मङ्गम् । ‘एषेति लिङ्गव्यत्ययः \* ।  
 ‘तत्’ ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘एतत्’ एतेन निहितवान् † भवति ।  
 तस्मादस्मिन् पुरुषे उपदध्यात् ॥ ४ ॥

विहिते उपधाने मन्त्रं विधत्ते— “तां वै प्रजापति-  
 नोपदधातीत्यादिना । अत्र “भ्रुवासि धरुणास्तृता”—“प्रजापतिष्टा  
 सादयतु”—“भूरसिभूमिरसि”—इति तिसृभिर्ऋग्भिः ‡ “विश्वस्मै  
 प्राणाय”—इति § यजुषा च ।

यत एषा स्वयमादृशेष्टकोपधीयते , अतः प्रजापति-  
 शब्देन तद्विशिष्टं मन्त्रं लक्षयित्वा , तेन लक्षित-लक्षणया ते  
 सर्वे मन्त्रा लक्ष्यन्ते— “प्रजापतिर्होवैतत् स्वय मात्मनः प्रत्य-  
 धत्तेत्यनेन लक्षितलक्षणाविवक्षाकारणं मुच्यते ॥ । यतः प्रजा-

\* ‘एष इति लिङ्गव्यत्ययः’—इति कृ , ज ।

† प्रजापतौ च ते निहितवान्—इति कृ-पाठः , डा० देवरेण च  
 दृष्टः । ‘प्रजापतौ प्रति निहितवान्’—इति ज ।

‡ वा० सं० १३, १६, १७, १८ ।

§ वा० सं० १३, १६ ।

॥ ‘लक्षितलक्षणाकारणं मुच्यते’—इति ज ।

पतिः स्वय मात्मनः 'एतत्' प्रतिष्ठालक्षणं मङ्गं 'प्रत्यधत्', अतस्तत्प्रतिष्ठात्मकस्वयमादृत्योपधानमन्त्रेऽपि तत्सम्बन्धप्रतीतिर्यथा स्यादिति प्रजापतिनोपदध्यादित्युक्तम् ।

प्रथमा सृचं व्याचष्टे— "ध्रुवासीति \* । "स्थिरासीत्येतदिति ध्रुवासीत्यस्य व्याख्यानम्, "अथो प्रतिष्ठासीत्येतदपि ध्रुवासीत्यस्यैव विवरणम् । 'धरुणेति'-प्रतीकं मादाय व्याचष्टे— "प्रतिष्ठा वै धरुण मिति । सर्वस्याधारभूतत्वर्थः । "आस्तृता विश्वकर्माणेत्यस्य व्याख्यानम्— "प्रजापतिर्वै विश्वकर्मेति । विश्वस्य कृत्स्नप्रपञ्चस्य कर्म सृष्टिलक्षणं मस्यासीति विश्वकर्मशब्देन प्रजापतिरभिधीयते । तेन 'आस्तृता' आच्छादिता, उपहितेत्येतदुक्तं भवति ।

"रुक्मो वै समुद्रः पुरुषः सुपर्ण इति । अत्र पुष्करपर्णे रुक्मं निधाय, तत्र च हिरण्यमपुरुषं भवस्थाय, तस्योपरि स्वयमादृत्योपधानं कर्तव्यम् । अतश्च "मा त्वा समुद्र उदधीन्मा सुपर्ण इति †, अनेन आधारभूतौ रुक्मपुरुषौ तव हिंसां मा कार्षाम्, किन्तु आनुकुल्येनाङ्गीकृता मित्येतदुच्यते ।

"यथैव यजुस्तथा बभूवुरिति । अनेन यथा मन्त्रस्तथैव व्याख्यानम्— "अव्ययमानां पृथिवीं दृष्ट्वेत्येष मन्त्रभागः ‡ सप्तार्थ इत्युच्यते ॥ ५ ॥

\* "ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मेणा"—इति वा० सं० १३. १६ ऋचः प्रथमो भागः ।

† एव वा० सं० १३. १६ द्वितीयो भागः ।

‡ एव हि वा० सं० १३. १६ तृतीयो भागः ।

अथ द्वितीया सूचं व्याचष्टे— “प्रजापतिद्वेति \* । यतः  
 ‘प्रजापतिः’ ‘एतां प्रथमां चिति मपश्यत्’, अतः “प्रजापतिद्वेति  
 सादयत्विति मन्त्र आह । अपा मन्त्रादकत्वात् ‘इयं’ पृथिवी अपां  
 पृष्ठे । तथा ‘समुद्रस्य’ अपि ‘एमन्’ । एमन्निति “इण् गतौ †”—  
 इत्यस्मात् “अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति ‡ मनिन् प्रत्ययः । “समुद्र-  
 स्येति, कद्योगे कर्मणि षष्ठी § । ‘समुद्रस्य एमा’ समुद्रं प्राप्तेत्यर्थः ।  
 परितः समुद्रेण वलयितत्वात् । “एमन्निति सप्तम्येकवचनस्य  
 “सुपां सुलुगित्यादिना ॥ लुकि सति रूपम् । ‘इयं’ पृथिवी ‘व्यच-  
 स्वती’ व्यञ्जनवतो, अभिव्यक्तियुक्ता, ‘प्रथस्वती’ विस्तारयुक्ता चेत्ये-  
 तत् प्रत्यक्षसिद्धम् ; स्वयमादृशा च पृथिव्यात्मिका ; अतश्च व्यच-  
 स्वतीं प्रथस्वती मिति मन्त्र आह , “प्रथस्व पृथिवी चासीत्ये-  
 तदिति ¶ । यतस्त्वं पृथिव्यसि, अतः प्रथस्वेत्येतदुक्तं भवतीत्यर्थः ।  
 पृथिवीशब्दस्य प्रधानप्रवृत्तिनिमित्तकत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—  
 “तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्, यदप्रथयत्, तत् पृथिव्यै पृथिवीत्व  
 मिति \*\* ॥ ६ ॥

\* “प्रजापतिद्वेति सादयत्वपाम्पृष्ठे समुद्रस्थेमन् । व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं  
 प्रथस्व पृथिव्यसि”—इति वा० सं० १३. १७ ।

† अदा० प० ३४ धा० ।

‡ पा० सू० ३. २. ७५ ।

§ पा० सू० २. ३. ६५ ।

॥ पा० सू० ७. १. ३६ ।

¶ मन्त्रदृशमिप्राय एष ब्राह्मणोक्तः, न तु मन्त्रपाठः ।

\*\* ते० ब्रा० १. १. ३. ७. १ ।

अथ तृतीया सृचं व्याचष्टे—“भूरसीतीति \* । ‘भूर्हीयं भूमिर्हीय मिति । ‘इयं’ पृथिवी , यतः सर्वेषां सुखानि भावय-  
तीति भूः ; अस्याः सकाशादिदं सर्वं मविज्ञात मभूदिति भूमिश्च ।  
अत एव श्रुतिः,—“अभूद्वा इदं मिति तद् भूम्यै भूमित्व मिति† ।  
तस्माद्भूरसि भूमिरसौत्वभिधत्ते । “इयं हीदं सर्वं ददते”—इत्यनेना-  
दितित्वोपपादनम् । ‘इयं’ पृथिवी ‘इदं सर्वं’ भोग्यवस्तुजातं ‘ददते’,  
तस्माद् अदितिः । “दद दाने ‡”—इत्यस्माददितिशब्दो निष्पन्नो  
द्रष्टव्यः । ‘विश्वं’ सर्वम् ‘अस्यां’ निहित मिति ‘विश्वधायाः’ ।  
“विश्वस्य भुवनस्येति । भुवनशब्देनात्र भुवनवर्त्ति पदार्थजातं  
लक्ष्यते , ततश्च सर्वस्य भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य धारयित्रीत्वे-  
नदुक्तं भवति । पृथिवीरूपत्वादात्मनः “पृथिवीं यच्छेत्या-  
दिना आत्मन एव नियमनादिकं क्रियता मित्युच्यत इत्याह—  
“आत्मानं यच्छेत्यादिना ॥ ७ ॥

अथ यजुर्मन्त्रं व्याचष्टे—“विश्वस्मै प्राणयति § । एक  
एव प्राणवायुर्वृत्तिभेदात् प्राणापानव्यानोदानशब्दैरभिधीयते ।  
“प्राणो ह्येवैतत् स्वय मात्मन आहृत इति स्वयमाह्वयायः  
प्राणत्व मुक्तम् ॥ । “सर्वस्मा उ वा एतस्मा इति । षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी ¶ । सर्वस्य खल्वेतस्य प्राणिसङ्घस्य प्राण एवाशास्यो

\* वा० सं० १३. १८ ।

† तै० ब्रा० १. १. ३. ७. २ ।

‡ भा० आ० १७ ब्रा० ।

§ वा० सं० १३. १६ ।

॥ इहेव द्वितीयकण्डिकायां ( २७८ पृ० ६ पं० ) द्रष्टव्यम् ।

¶ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

भवति , अतः सर्वस्यापि प्राणादिस्थैर्यार्थं तवोपधान मिति यावत् ।

“इमे वै लोका इति । तिस्रः स्वयमादृष्टाः , पृथिव्यन्त-  
रिक्षद्युलोकात्मिकाः । ‘इमे’ खलु ‘लोकाः’ ‘प्रतिष्ठा’ सर्व-  
प्राणिना माधारः । “चरित्र मिति प्रत्येकविवक्षयैकवचनम् ,  
नियतलिङ्गत्वाच्चपुंसकलिङ्गम् । ततश्च प्रथमायाः स्वयमादृ-  
ष्टायाः पृथिव्यात्मकत्वात् , सर्वेषा माधारभूतस्य संसारसाधन-  
भूताय च अस्मै लोकाय तवोपधानम् । “गोपायत्वित्येतदिति ।  
पृथिव्यभिमानिदेवतात्वात् “अग्निस्त्वा अभिगोपायत्वित्येतदुक्तम् ।  
“यच्छर्द्दिः शन्तमम् , तेनेत्येतदिति । ‘शन्तमम्’ अतिशयेन  
सुखकरं यच्छर्दिस्तेजोस्ति , तेनेति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— हे स्वयमादृष्टे ! स्थिरासि , सर्वेषां प्रतिष्ठासि,  
प्रजापतिनोपहितासि । तादृशीं त्वां रुक्मो मोहधीत् । तथा हिर-  
ण्यपुरुषश्च त्वां मोहधीत् । तथा सति अव्यथमाना त्वं पृथिवीं  
ऽढीकुरु (१६) । किञ्च प्रजापतिः अपा माच्छादके समुद्रं प्राप्तवति  
भूप्रदेशे व्यचक्षतीं विस्तारवतीं त्वां सादयतु । यतस्त्वं पृथिव्यसि ,  
अतः ‘प्रथस्व’ विस्तारवती भव (१७) । किञ्च , त्वं सर्वेषां सुखानां  
गायत्री असि , सर्वेषां चोत्पत्तिस्थान मसि , सर्वस्यापि भोग्य-  
स्तुनो दात्री असि , कृत्स्नस्यापि भुवनवर्त्तिपदार्थजातस्य  
ारयित्रो असि । तादृशो त्वं पृथिवीरूप मात्मानं ‘नियच्छ’  
ढीकुरु , मा च हिंसोः (१८) । प्रयोजन मन्तरेण त्वां ‘नोपदधे’  
कन्तु सर्वस्यापि प्राणिनः स्थैर्यार्थं त्वा सुपदधामि , त्वां  
अग्निं मन्त्रामहे । टिलोपच्छान्दसः । ‘स्वस्था’ अविनाशिनः ।

सुखातिशयसम्पादकेन तेजसा च गोयायतु । तया 'देवतया'  
'अङ्गिरस्वत्' अङ्गिरसा तुल्या, 'ध्रुवा' 'स्थिरा' 'सौद' उपविशेति  
कृत्स्नमन्वार्थः ॥

अथ "तया देवतयेत्यनेन मन्त्रेण सादयित्वा "ता अस्येत्यने-  
नाधिवदेदित्याह— "सादयित्वेति । अत्र सूत्रम्— "सादन-  
सूददोहसौ सर्वत्र तया देवतया ता अस्येतीति \* । साद-  
नाधिवदनमन्त्रयोर्व्याख्यानं प्रागुक्तं मित्याह— "तस्योक्तो बन्धु-  
रिति । 'तत्र' तस्मिन् काण्डे "प्राणो वै सूददोहा इत्यादिना  
अधिवदनमन्त्रो व्याख्यातः † । षष्ठकाण्डे "स उपदधाति  
'तया' देवतयेति, "वाग्वै सा देवतयादिना व्याख्यातः सादन-  
मन्त्रः ‡ ॥

अथ स्वयमातृणां सामगानं विधाय, तत्प्रयोजनकथनलक्षणं  
व्याख्यानं मुपरिष्ठाद् वक्ष्यत इति दर्शयति— "अथेत्यादिना ।  
अस्यां प्रथमायां स्वयमातृणां भूरिति व्याहृत्यां साम गायेत् ।  
अत एव सूत्रम्— "भूरित्येतस्यां साम गायति"—इति § ।  
तद्व्याख्यानन्तु "अथ स्वयमातृणां सामानि गायतीत्यादिनो-  
त्तरत्र अष्टमकाण्डावसाने प्रपञ्चयति ॥ ८ ॥

\* "नित्ये सादनसूददोहसा उपधानादुत्तरे तया देवतया ता  
अस्येति"—इति का० श्रौ० सू० १६. ७. १४ ।

† पुरस्तादिहैव ८० पृ० ८ पं० द्रष्टव्यम् ।

‡ तत्र १. २. २८ ( ६ भा० २२ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. १६ ।

॥ उपरिष्ठात् ८. ७. ४. १ द्रष्टव्यम् ।

( प्राणात्मकत्वात् तदुपधानेन पुरुषः कथं मनमिनिहितो भवतीति प्रश्नपूर्वकं स्वयमाह्वयायाः ) \* लोके हि पुरुषस्योपरि पाषाणे निहिते अस्य † महानुपरोधो जायते, अतोऽत्र स्वयमाह्वयायाः पाषाणात्मकत्वात् ‡, तयोश्चोपरोधहेतुत्वाभावात्, प्रत्यु-  
तानुकूलत्वात्, तत्प्रविधानेऽपि पुरुषोऽनभिहित एव भव-  
तीत्याह — “तदाहुरित्यादिना ॥ ६ ॥

स्वयमाह्वयेष्टकोपधानानन्तरं दूर्वेष्टकोपधानं विधत्ते—  
“अथेति । इष्टकाशब्दो मृन्मयेष्टकासु मुख्यः, दूर्वायानूपधान-  
सामान्याङ्गीणः । पशुपुष्टिसाधनत्वेन दूर्वाणां मपि पशुत्वात्, तदु-  
पधानेन § पशूनां मेवोपधानं कृतं भवतीत्याह — “पशवो वा इति ।  
यदुक्तं “पशूनेवैतदुपदधातीति, तत् किं साधारणपशुविषयम् ?  
नेत्याह — “तद्यैरद इति । ‘अदः’ पुरस्तात् ‘अग्निः’ ‘अनन्तर्हितैः’  
अव्यवहितैः । स्वस्य तेष्वनुप्रवेशादनन्तर्हितत्वम् । तादृशैः ‘यैः’  
पञ्चभिः पशुभिः अन्यत्रोपजगाम, ‘ते’ पशवः ‘एते’ दूर्वेष्टकात्मका  
इत्यर्थः । अग्निः पशून् प्रविश्यान्यत्र जगामेत्येतत् “स एतान् पञ्च  
पशून् प्राविशदित्यादिना षष्ठकाण्डे प्रपञ्चेनोक्तम् ॥ । “उपदधातीति

\* बन्धनीचिह्नान्तःपाठो नास्ति क-पुस्तकादन्यत्र ।

† ‘निहितस्य’—इति छ ।

‡ ‘अन्नप्राणात्मकत्वात्’—इति छ । “लोके पुरुषस्योपरि पाषाणे  
निहिते तस्य महानुपरोधो जायते । स्वयमाह्वयायाः पाषाणा-  
त्मकत्वात्”—इति ज ।

§ ‘तदुपधाने’—इति छ, ज ।

॥ १ प्र० ४ ब्रा० २ क० ( ६ भा० ५३ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।



सामान्येन विधानात् स्थानविशेषं विधाय प्रशंसति— “ता मनन्तर्हिता मित्यादिना । “ता मनन्तर्हितां पुरुषादुपदधातीति स्वयमाढश्लेषकास्थापनविधिव्याख्यानेनैव कृतव्याख्यानमेतत् \* ॥ १० ॥

विहितं सुपधानं मनूय ओषधीनां दूर्वायाश्चोत्पत्तिप्रदर्शनपूर्वकं तदुपधानेनैव ( क्षत्रं मन्याः ) † सर्वोषधीः प्राणं रसश्चोपहितवान् भवतीति स्तौति— “यद्देवेत्यादिना । “अशी-यन्तेति अपतन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

“सोऽब्रवीदिति । ‘अयम्’ एव प्राणो माम् ‘अधूर्वीद्’ अहिंसीदिति ‘सः’ प्रजापतिः ‘अब्रवीत्’ । ‘यदब्रवीन्मा अधूर्वीत्’-इति, ‘तस्माद्’ एष प्राणो नाम्ना ‡ ‘धूर्वा’ अभूत् । ननु धूर्वा न दूर्वा भवितुं मर्हति, तत् कथं दूर्वेत्युच्यत इत्यत आह—“धूर्वा ह वै ता मिति । धूर्वाशब्दः पचाद्यजन्तः § । लोकेऽपि यत् किञ्चिन्नामधेय-विशिष्टं पुरुषं गौरवार्थं भ्राता पितेत्येवं परोक्षेण व्यपदिशन्ति, तद्वद् देवा अपोत्यर्थः । “तदेतदिति । यतः ‘एषः’ दूर्वा प्राणात्मको ‘रसः’ । प्राणस्य रसात्मकत्वं श्रूयते—“प्राणो ह्यङ्गानां रस इति ॥ । ‘एषः’-इति पुल्लिङ्गत्वं प्राणरसापेक्षम् । अतः ‘तदेतद्’ ‘दूर्वा’ ‘क्षत्रं’ प्रधानम् । क्षत्रशब्देनात्र प्राधान्यं लक्ष्यते । ‘तदेतत्’-

\* पुरस्तादिहेव २७८ पृ० १० पं० द्रष्टव्यम् ।

† नास्थेतद् पदद्वयं क-पुस्तकादन्यत्र ।

‡ नास्थेतत् पदं ङ-पुस्तके ।

§ पा० सू० ३. १. १३४ ।

॥ छा० ब्रा० ३. ३. १० द्रष्टव्यम् ।

इत्यपि नपुंसकलिङ्गं क्षत्रशब्दापेक्षम् । तथा सति लोम्नां प्राणानुविधायित्वात् प्राणरसात्मिका मेतां दूर्वेष्टका उपदध्यात् । लोमात्मिकाः 'सर्वा अप्योषधीरुपदधाति' ॥ १२ ॥

किञ्च 'यत्र' यदा 'देवाः' 'तं' प्रजापतिं चयनसंस्कारेण संस्क्रुत-  
वन्तः, तदा 'अस्मिन्' प्रजापतौ 'मध्यतः' मध्ये । सप्तम्यर्थे तसिः\* ।  
'प्राणं' रसम् अदधुः† । स्थापितवन्तः । तथैव 'अयम्' अन्वयः  
'एतत्' एतेन दूर्वेष्टकोपधानेन 'प्राणं' रसं निहितवान् भवती-  
त्यर्थः । "ता मनन्तर्हिता मित्यादि । तस्यार्थस्तु व्यक्त एव ।

उपधातव्यायाः दूर्वेष्टकाया लक्षण माह— "सा स्वादिति ।  
'कृत्स्नतायै' सम्पूर्णत्वाय ; अच्छिन्नमूलाय हि सम्पूर्णं मन्यूनं  
भवति । अतो मूलाग्रवतो कार्या । उपधाने विशेष माह—  
"यथेति । अत्र कात्यायनः— "मूलाग्रवतीं दूर्वां तस्यां पुरस्ताद्  
भूमिप्राप्ता मिति‡ । दूर्वेष्टकायाः पुरस्ताद् भूमिसंस्पर्शेनो-  
पधाने इमां दूर्वां मनुलक्ष्येता ओषधयो भूमौ प्ररोहयुरित्याह—  
"अस्यां ह्येवैता इति ॥ १३ ॥

"काण्डादिति, "या शतेनेति च हाभ्या मपीय मिष्टका उप-  
धीयते । तत्र प्रथममन्त्रे पूर्वार्द्धे स्वार्थः प्रत्यक्षसिद्ध इति दर्श-  
यति— "काण्डात्-काण्डादिति § । द्वितीयार्द्धेन्तु निगदव्याख्यात  
मित्याह— "एवा नो दूर्वे इत्यादिना । काण्डशब्दः स्तम्भवाची ,

\* पा० छ० ५. ३. ७, १४ ।

† 'निदधुः'—इति छ ।

‡ का० श्रौ० छ० १७. ४. १८ क ।

§ का० श्रौ० छ० १७. ४. १८ ख ।

परुः-शब्दः पर्ववचनः । यावन्तः काण्डाः स्तम्बा विद्यन्ते , तत्रैकै-  
कस्मात् स्तम्बात् प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । एकस्मिन्नपि स्तम्बे  
यावन्ति 'परुषि' पर्वणि विद्यन्ते , तेष्वेकैकस्मात् पर्वणः  
'परितः' प्रकर्षेणोत्पद्यमानाः । अथ वा , काण्डशब्देन पर्वणो-  
र्मध्यवर्त्ती दण्ड उच्यते ; 'काण्डात्-काण्डात्' सर्वस्मात् काण्डा-  
दित्यर्थः । 'परुषः-परुषः' सर्वस्मात् पर्वणः । हे दूर्वे ! येषु  
काण्डेषु यानि पर्वणि सर्वाणि विद्यन्ते , तेभ्यः सर्वेभ्योऽपि  
परतः प्ररोहन्ती भवसीत्यर्थः । 'एवा' एवं यथा त्वं भवसि ,  
एवं 'नः' अस्मान् 'शतेन सहस्रेण च' शतसहस्रसङ्ख्याकैः पुत्रा-  
दिभिः 'प्रतनु' विस्तारयेति प्रथमस्यार्थः \* ॥ १४ ॥

हे दूर्वे ! 'या' त्वम् काण्डानां 'शतेन' आत्मानं विस्तारयसि ,  
अङ्कुराणां 'सहस्रेण' विविधं प्रादुर्भवसि , हे 'देवि' द्योत-  
माने 'इष्टके' ! 'तस्यास्ते' 'वयं' 'हविषा' 'विधेम' परिचरेमेति  
द्वितीयस्यार्थः † ॥

उपधानमन्त्रगता मर्थसिद्धौ द्वित्वसङ्ख्या मनुष्यदति— “हाभ्या  
मुपदधातीति । द्वित्वसङ्ख्याप्रशंसालक्षणं व्याख्यानम् “हाभ्या मभि-  
जुहोति , दिपाद्यजमानः , यजमानोऽग्निरित्यादिना प्रागुक्त ‡  
मित्याह— “तस्योक्तो बभ्युरिति । “सादयित्वेत्यादिकम्  
व्याख्यातम् § ॥ १५ ॥

\* वा० सं० १३. २० ।

† वा० सं० १३. २१ ।

‡ इहेव पुरस्तात् २३५ पृ० ४ पं० दृश्यम् ।

§ इहेव पुरस्तात् ३०० पृ० ५ पं० दृश्यम् ।

कात्यायनः— “यास्त इति द्वियजुष मिति \* । “यास्ते अग्ने सूर्ये रुचः”—इति , “या वो देवाः”—इति , द्वाभ्यां † द्वियजुर्ना-  
मिष्टका सुपदध्यादिति सूत्रार्थः । तदेतद् विधत्ते— “अथेति ।  
विहिता मिष्टकां यजमानस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनत्वेन प्रशंसति—  
“इन्द्राग्नी इत्यादिना । स्पष्ट मेतत् ।

“इमा मेवेति । ‘ताम्’ आत्मना दृष्टाम् ‘इमाम्’ अस्माभि-  
रधिष्ठीयमाना मिष्टकाम् ‘एव’ ‘उपादधाताम्’ । ‘ता सुपधाय’,  
‘अस्यै प्रतिष्ठायै’ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ‡ । अस्याः प्रतिष्ठायः  
सकाशात् सोपानवदिमा मारुह्य ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्तता मित्यर्थः ।  
“तथैवैतदिति । “यजमानो द्वियजुष सुपदधातीति यत् एतत् ,  
‘तथैव’ इन्द्राग्निदेवतावदेव । तदेव दर्शयति— “येनेति । येन  
प्रकारेण ‘यत् कर्म कृत्वा’ इन्द्राग्नी ‘स्वर्गं लोकं’ प्राप्तताम् ,  
तेनैव प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अहं मपि ‘स्वर्गं’ प्राप्तवानीति  
‘यजमानो द्वियजुष सुपदधाति’ । तस्मादेषा स्वर्गप्राप्तिसाधन  
मिति भावः ।

प्रकृताया एवेष्टकायाः द्वियजुरिति नामप्राप्तिं दर्शयति—  
“सा यदिति । यतः ‘एतां’ ‘हे देवते’ इन्द्राग्नी ‘अपश्यताम्’ ,  
तस्माद् द्वियजुर्नामेय मिष्टकेत्यर्थः ॥

ननु देवतादयदर्शनात् कथं द्वियजुरिति नाम स्यादिति  
वेत् , उच्यते— यतो ‘हे देवते एता मपश्यताम्’ , अत एव द्वाभ्यां

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० । परं तत्रास्ति पाठभेदः ।

† वा० सं० १३. २२, २३ ।

‡ पा० ३. २. ६२ सू० १ वा० ।

यजुर्भ्यां सुपधीयते । तथा सति यजुर्हयेनोपधानस्यापि देवता-  
हयदर्शनोपाधिकत्वाद् द्वियजुरिति नामधेयस्यापि देवताहयदर्शन  
जैव निमित्तमित्यभिप्रायः ॥

ननु “यास्ते अग्ने”-“या वो देवाः”-इत्यनयोर्मन्त्रयोः ऋग्-  
व्यवस्थया पठितत्वात् कथं यजुःशब्देन तदभिधानमिति ? एवं  
तर्हि अत्र यजुःशब्देन मन्त्रमात्रं लक्ष्यते ।

“ऋक्सामयजुषां लक्षणं जैमिनिना दर्शितम्—

“तेषां ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था, गीतिषु सामाख्या,  
शेषे यजुः शब्दः”—इति \* ।

एतदेवान्यत्र सङ्गृहीतमभियुक्तैः—

“नर्कामयजुषां लक्ष्यं साङ्कर्यादिति शङ्किते ।

पादश्च गीतिः प्रस्निष्टपाठ इत्यस्वसङ्करः”—इति † ।

अथवा मन्त्रे एव यजुःशब्दव्यवहारो दृश्यते ; यथा—  
“तस्मास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयमिति ‡ “यथैव यजुस्तथा  
बभूवुरित्येवमादौ § ॥

अथ तां भेदेषुकां यजमानात्मनापि प्रशंसति— “यद्देवेति ।  
द्वियजुषो यजमानात्मकत्वात् तदुपधानेन यजमानमेवास्मिंस्तोके  
अर्पितवान् भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

द्वियजुषो यजमानत्वोक्तत्वात् लब्धोदयां पाक्षिकानां जिज्ञासा  
मवतारयति— “तदाहुरित्यादिना । “अथ कतमदिति । ‘अथ’

\* मी० जे० ख० २ अ० १ पा० ३५, ३६, ३७ ख० ।

† जे० आधि० २. १. १०, ११, १२ ।

‡, § पुरस्तादिहैव पञ्चमकण्ठेत्याख्यानं (३०४, २६६ पृ०) द्रष्टव्यम् ।

‘अस्य’ यजमानस्य ‘इदं’ द्वियजुर्नामिष्टका कतमद् ‘रूपं’ स्वरूप मिति । रूपापेक्षया नपुंसकत्वम् । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “देवो वा इति । ‘सः’ हिरण्यस्यः पुरुषः ‘अस्य’ यजमानस्य देवत्वप्रयुक्तः ‘आत्मा’ शरीरम् ; यद् \* द्वियजुरिष्टका मनुष्यत्वप्रयुक्त आत्मैत्यर्थः । हिरण्यप्रत्वात् पुरुषस्य देवशरीरत्वम्, मृग्यत्वात् द्वियजुषो मानुषशरीरात्मत्वम् प्रतिपादयति— “तद्यदित्यादिना । “देवरूप मिति । यतो देवरूपम्, अतः ‘अस्य’ यजमानस्य तद्रूपम् ‘अमृतं’ खलु ; विलापनेऽप्यविनश्यदस्त्वाद्विरण्यस्यामृतत्वम् । “मानुषं” ह्येति । ‘इदं’ द्वियजुर्लक्षणा स्वरूपम् । यतो मानुषम् अतः ‘इयं मृदः कृता भवति’ पार्थिवो भवति, मानुषाणां पार्थिवत्वादित्यर्थः ॥ १७ ॥

द्वियजुष उपधानस्यान्वयश्चतिरेकयोर्गुणदोषप्रदर्शनेनावश्यकत्व माह— “स यदित्यादिना । ‘अमृतं’ हिरण्यपुरुषलक्षणा मिष्टकाम् एक ‘उपदध्यात्’ । “नेमा मिति । ‘इमां’ द्वियजुर्लक्षणा मपि तदानी मेव चेदुपदध्यात्, ‘नापशिंष्यात्’ नावशेषयेत्, तर्हि मानुषशरीररूपद्वियजुरिष्टकाया अपरिशेषणात् क्षिप्रकाले एव ‘अस्माज्जोकात्’ ‘यजमानः प्रेयात्’, तस्यास्तदानी मनुपधानेनावशेषणे तु ‘अनेन’ द्वियजुर्लक्षणेन मानुषशरीरेणास्मिंज्जोके यजमानः कृत्स्नम् आयुरेतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथास्या इष्टकायाः हिरण्यपुरुषसमीपे सर्वदाऽनुपधाने दोषप्रदर्शनपूर्वकम्, तत्रोपधाने गुणं दर्शयति— “स यदि-

त्यादिना । समीपेऽनुपधाने सति असम्बन्धाद् यजमानः स्वकीयं देवरूप मनुक्रमेण 'न प्रजानीयात्' ; उपधानेन तु प्रजानीयात् ।

अथ ता मेवेष्टकां दूर्वेष्टकासंस्पर्शेनोपदध्यादित्याह— “ता मनन्तर्हिता मिति ॥ १८ ॥

यजमानस्य हिरण्मयपुरुषो दैवं शरीरम् ; द्वियजुषु मानुष मित्युक्तम् । तयोर्मध्ये स्वयमाह्वादादूर्वेष्टकयोरुपधानेन व्यवधानात् शरीरद्वयस्यापि प्राणेन कथं मध्यवच्छेद इति याज्ञिकानां प्रश्नं भवतारयति— “तदाहुरिति । ‘सन्ततौ’--इत्यस्यैव विवरणम्— “अव्यवच्छिन्नाविति । उक्तस्योत्तरं दर्शयति— “प्राणो वा इत्यादिना । ‘प्राणो वै स्वयमाह्वादा’ “प्राणो ह्येवैतत् स्वयं मात्मन आहन्ते”--इति स्वयमाह्वादायाः प्राणत्वमुक्तम् । “अथास्मात् प्राणो मध्यत उदक्रामदित्यादिना प्राणरस एव दूर्वाऽभूदित्यपि उक्तम् । सन्तनोतीत्येतदेव विवृणोति— “सन्दधातीति । स्पष्टं मन्यत् ॥ २० ॥

द्वियजुष उपधाने मन्त्रौ विधत्ते— “यास्ते अग्ने इति \* । “यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो”—“या वो देवाः सूर्ये रुचः”—इत्येताभ्यां † मन्त्राभ्यां द्वियजुष उपदध्यादित्यर्थः । मन्त्रयोः पुनःपुनः रुक्पदप्रयोगस्याभिप्रायमाह— “रुचं रुच मिति । “अस्मिन्निति , यजमाने इत्यर्थः ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २० ।

† वा० सं० १३. २२, २३ ।

मन्त्रयोस्त्वय मर्थः \*— “हे ‘अग्ने !’ ‘ते’ तव ‘सूर्ये’  
सूर्यमण्डले ‘याः’ ‘रुचः’ दीप्तयो ‘रश्मिभिः’ रश्मिरूपेण  
‘दिवम्’ ‘आतन्वन्ति’ सर्वतो व्याप्नुवन्ति । रात्रौ या  
अग्नेर्दीप्तयः, ता एव सूर्योदयकाले सूर्यरश्मयो भवन्ति ।  
एतच्च तैत्तिरीयके अग्निहोत्रब्राह्मणे समान्नातम्— “उद्यन्तं  
वावादित्य मग्निरनुसमारोहतीति † । ‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः  
‘नः’ अस्मत्सम्बन्धिने ‘जनाय’ यजमानलक्षणाय ‘रुचे’ ‘क्षधि’  
प्रकाशं कुरु । ‘रुचे’-इति विभक्तिव्यत्ययः ‡, रुच मित्यर्थः ।  
‘नस्त्वधीति’ “अतः कृकमीत्यादिना § विसर्जनीयस्य सकारः ॥  
हे ‘देवाः !’ ‘वः’ युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्त्तमानाः ‘याः’  
‘रुचः’ दीप्तयः सन्ति, तथा ‘गोषु अश्वेषु च ‘याः’ दीप्तयः सन्ति,  
‘ताभिः’ सर्वाभिर्दीप्तिभिः हे ‘इन्द्राग्नी !’ ‘हे बृहस्पते !’ त्रयोऽपि  
यूयं ‘नः’ अस्मत्सम्बन्धिने यजमानाय ‘रुचं धत्त’ प्रकाशं  
सम्पादयतु ॥

ननु चायं मन्त्रोऽध्वर्युणा पठ्यते, ततश्च “रुचन्नो  
धत्तेति लिङ्गेन मन्त्र सुच्चारयितुरध्वर्युरिव तत् फलं युज्यते ;

\* तयोः पाठस्त्वेवम्,—

“यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिव मातन्वन्ति रश्मिभिः ।

ताभिर्नो अद्य सर्वाभि रुचे जनाय नस्त्वधि ॥ २२ ॥

या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या रुचः ।

इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचे न धत्त बृहस्पते ॥ २३ ॥

† ते० ब्रा० २. १. २. १० ।

‡ पा० ३. १. ८५ ख० द्रष्टव्यम् ।

§ पा० ख० ८. ३. ४६ ।



अतो न इति पदं किं मित्युपचरितं मिति चेत्, न ;  
यजतेत्यात्मनेपदश्रुत्या साङ्गप्रधानफलस्य यजमानगामित्वं प्रती-  
यते ; न च परिक्रोतस्याध्वयोर्दक्षिणातिरिक्तफलसम्बन्धो न्यायः ।  
तस्मा श्रुतिन्यायाभ्यां विरुद्धं तस्मिन् यजमानपरत्वेनोपचरणीयम् ।  
तस्माद्यजमानेन पात्रेषु “आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहीत्यादिषु \*  
क्रियमाणानुवादिषु प्रत्यगाशीर्मन्त्रेषु श्रुतं फलं यथा याज-  
मानम्, तथैवाध्वर्युणा पात्रेषु करणमन्त्रेषु श्रुतं मपि फलं  
याजमान मेव । “इमा मित्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । प्रका-  
रान्तरेणापि द्वित्वं प्रशंसति — “अथो हय मिति । द्विविधं  
रूपं मस्तीति तदुपधानमन्त्रयोरपि द्वित्वं सुपपद्यत इत्यर्थः ।  
व्याख्यातं सुत्तरं वाक्यम् ॥ २१ ॥

अथ रेतस्त्रिङ्नामधेययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्से — “अथ  
रेतस्त्रिचा इति । “लोपः शाकल्यस्य”-इति † वकारलोपः ।  
विहिते इष्टके पृथिव्युलोकात्मना प्रशंसति — “इमो वै लोका-  
वित्यादिना । तत्रानयोर्लोकयोः रेतस्त्रेकत्वप्रतिपिपादयिषयो-  
क्तम् — “इमौ वै लोकाविति । तद्रेतस्त्रेकं मनयोः प्रत्यक्षसिद्धं  
मित्याह — “इमौ द्वेवेति । “इतो वा अयं मित्यादिना । तदेव  
प्रत्यक्षत्वं दर्शयति — ‘अयं’ लोकः ‘इतः’ अस्मात् प्रदेशात्  
धूमलक्षणं ‘रेतः’ सिञ्चति, ‘सः’ धूमः ‘अमुत्र’ व्युलोके वृष्टि-  
र्भवति । सेति स्त्रीलिङ्गं वृध्यपेक्षम् । धूमस्य मेघकारणत्वात्  
तद्वारा वृष्टिकारणत्वाद् धूमो वृष्टिरिति कारणे कार्यत्वो-

\* वा० सं० ३. १७. २ ।

† पा० सू० ८. ३. १६ ।

पचारः । 'तां' हृष्टिम् 'असौ' बभूवुः 'असुतः' असुप्तात् प्रदेशात् सिञ्चति । तस्मादनयोर्लोकयोर्मध्ये हृष्टिपरिणतान्नद्वारा प्रजाः 'प्रजायन्ते' । श्रूयते हि— "अन्नाद्वा प्रजाः प्रजायन्ते"—इति \* । अन्यत्राप्युक्तम्— "हृष्टेरन्नं ततः प्रजाः"—इति † । "तस्मादिमौ लोकौ रेतस्त्रिचौ ; रेतस्त्रिचोरनयोर्लोकयोः रूपेणानुसन्धानादिष्टके अपि रेतस्त्रिचावित्युच्येते ॥ २२ ॥

तत्र प्रथमाया उपधाने मन्त्रं विधाय व्याचष्टे— "विराड् ज्योति रिति ‡ । 'अयं लोकः' पृथिवी 'विराट्'-शब्देनाभिधीयते । 'सः' च 'इमम्' अस्मदादीनां प्रत्यक्ष मग्निरूपं 'ज्योतिर्धारयति' । प्रथमा रेतस्त्रिक् भूलोकात्मिकेत्युक्तम्, तस्मात् प्रथमरेतस्त्रिगात्मको विराड्-शब्दाभिधेयो भूलोकोऽग्निरूपं ज्योतिर्धारयति ॥ "स्वराड् ज्योतिरिति द्वितीयोपधानमन्त्रः § । सोऽप्येव मेव व्याख्येयः ।

अनयोर्लोकयोर्विराट्-स्वराट्-शब्दाभिधेयत्वं मेवोपपादयति— "विराड् च होमाविति । विविधं राजत इति विराट् । स्वयं मेव राजत इति स्वराट् । तयोः पृथक्-पृथक्-मन्त्रेणोपधानं माह— "नानोपदधातीति । यतः 'इमौ लोकौ' 'नाना' पृथग्भूतौ, तस्मात्तदात्मिकयोरिष्टकयोरुपधानं पृथक्-पृथक्-मन्त्रेण कर्तव्यं मित्यर्थः । उपधानमन्त्रवत्त्वादनमन्त्रस्यापि

\* तै० आ० उप० ७. २. २ ।

† म० स० ३. ७. ६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ४. २२ ।

§ वा० सू० १३. २४ ।

पार्थक्येन प्राप्तावाह— “सकृदिति । “तया देवतयाङ्गिरस्वद् भुवा सोद”—इत्ययं सादनमन्त्रः \* । त मेकवार मुच्चार्य सादयेत् । न तु प्रतीष्टक मित्यर्थः । तेन तदुपधानं समानं करोति । ‘तस्मादनयोर्लोकयोः ‘अन्ताः’ प्रान्ताः ‘समायन्ति’ परस्परं सम्बद्धा भवन्ति । अन्तरिक्षभागा हि पृथिवीभागैः सम्बध्यन्त इत्येतत् प्रत्यक्षसिद्धमेव ॥ २३ ॥

अथ तदेवेष्टकादय माण्डात्मकेनापि स्तौति— “यद्देवेति । अण्डशब्दात् स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः । आण्डाविति पुरुष-सम्बन्धिनी वीजे उच्येते । “यस्य ह्याण्डौ भवत इत्यादिना आण्डयोः रेतस्सिद्धं प्रतिपादितम् । “विराड् च द्वीमाविति । आण्डयोः प्रजोत्पादनसामर्थ्याद्विराड् च प्रत्यक्षसिद्ध मित्यर्थः । प्रजापतिशब्देन † प्रजोत्पादन मभिधीयते । रेतसः प्रजापतेश्च प्रजा लब्ध्यन्त इति तत्प्रकाशकत्वाज्ज्योतिष् मित्यवगन्तव्यम् । “समान-सम्बन्धनाविति । एकरूपसम्बन्धनावित्यर्थः । प्रकृतयोरिष्टकयोः स्थानविशेष माह—“ते अनन्तर्हिते”—इति ‡ । द्वियजुषोः समीपे अव्यवधानेनोपधानं किमर्थं मित्यत आह— “यजमानो वा इति ॥ २४ ॥

रेतस्सिचोरुपधानानन्तरं विश्वज्योतिराख्याया इष्टकाया उपधानं विधाय , ता मन्धात्मना स्तौति— “अथेति § । स्वय-

\* वा० सं० २७. ४५ ।

† ‘प्रजातिशब्देन’—इति, ‘प्रजापतेश्च’—इति च कृ-पुस्तकीयौ पाठौ ।

‡ का० श्रौ० १७. ४. २२ सू० वृत्तिर्द्रष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ४. २३ ।

भ्रातृणा इव विश्वज्योतिषोऽपि तिस्रो विद्यन्ते, अतोऽत्र \*  
 प्रथमेति विशेषणम् । अस्मिन् लोके 'भुवि' यत् किञ्चन  
 ज्योतिरस्ति, तत् सर्वं मग्निमय मेवेति । अग्निर्विश्व-  
 ज्योतिरिति तदात्मकत्वेनानुसन्धानादिष्टकापि 'विश्वज्योतिः';  
 अतस्तदुपधाने अग्नि मेवोपहितवान् भवति । विधत्ते—  
 "ता मनन्तर्हिता मिति । 'तां' विश्वज्योतिषं 'रेतस्मिग्भ्याम्'  
 'अनन्तर्हिताम्' अव्यवहितां तत्संस्पर्शेनोपदध्यात् । तथा सति  
 रेतस्मिचोः पृथिवीद्युलोककत्वात् ताभ्या मव्यवहित मेव  
 'अग्निं दधाति' । क्वचित् पार्श्वेऽपि तत्संस्पर्शेनोपधाने अव्यवधान  
 सुपपद्यत इत्यत आह— "अन्तरेवेति । "अन्तरेव हीति ।  
 "अन्तरा इवेति पदविभागः । इवशब्द एवकारार्थः । "अन्त-  
 राक्षरेण युक्ते"—इत्यनेन † इमाविति द्वितीया । अनयोर्लोकयो-  
 र्मध्ये पृथिव्या उपरि अन्तरिक्षे खल्वग्निः प्रकाशते ; तस्मात्  
 मध्यत उपधानम् ॥ २५ ॥

अथैता म्रिष्टकां प्रजात्मना प्रशंसति— "यद्देवेति । 'प्रजा  
 हि विश्वज्योतिः' यतः प्रजा ज्ञानशक्त्या सर्वान् पदार्थान्  
 प्रकाशयति, तस्मात् प्रजा विश्वज्योतिरित्येतदपरोक्षम् ; अतः  
 प्रजा विश्वज्योतिः । तथा सति एतदिष्टकोपधानेन प्रजननं  
 प्रजोत्पादनं मेवोपहितवान् भवति । प्रजायाः प्रजोत्पादनस्य  
 च कार्यकारणभावादभेदविवक्षयैव मुक्तम् । रेतस्मिचोराण्डत्वाद्,  
 विश्वज्योतिषश्च प्रजात्वात्, ताभ्या मव्यवहितत्वेन मध्यत

\* 'अतोऽत्र'—इत्येतन्नास्ति ड-पुस्तके ।

† पा० सू० २. ३. ४ ।

उपधाने प्रजोत्पादन मेवाण्डयोर्निहितं भवतीति दर्शयति— “ता मनन्तर्हिता मिति । “अन्तरेव ह्याण्डाविति । आण्डयोर्मध्यतः \* एव रेतोनिर्गमनद्वारत्वात्, तत एव ‘प्रजाः प्रजायन्ते’ ॥ २६ ॥

अथ तस्मिन्नुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “प्रजापति-  
द्वेत्वादिना † । यतः ‘प्रजापतिरेतां प्रथमां चिति मपश्यत्’,  
अतः प्रथमां विश्वज्योतिषं “प्रजापतिद्वा सादयतु”—इति ‡ मन्त्रेण  
उपदध्यादित्यर्थः । “पृष्ठे ह्यय मिति । ‘पृथिव्यै’—इति § षष्ठ्यर्थे  
चतुर्थी § । यतश्च पृथिव्याः ‘पृष्ठे’ उपरि ‘अग्निज्योतिष्मान्’ विश्व-  
ज्योतिश्चाग्निरित्युक्तम्— “अग्निर्वै प्रथमा विश्वज्योति रिति ॥ ;  
अतः “पृष्ठे पृथिव्या ज्योतिष्मतीम्”—इति ¶ मन्त्रवचनम् ॥ २६ ॥

“प्राणो वा इति । विद्यमाने एव प्राणे सर्वेषा मिन्द्रियाणां  
स्व-स्व-विषयप्रकाशकत्वात् प्राणस्य विश्वज्योतिष्टम् । “सर्वस्मा उ  
वा एतस्मै”—इति । सर्वस्य खल्वेतस्य लोकस्य । पूर्ववच्चतुर्थी \*\* ।  
प्राणः आशास्यो †† भवतीति शेषः । अपानो व्यानश्चेति प्राण  
एव वृत्तिभेदभिन्नः ; प्राणस्य विश्वज्योतिष्टात् । ‘विश्वस्मै’ सर्वस्य  
लोकस्य प्राणादिस्वैर्यार्थं तवोपधान मिति मन्त्रभाग आह । “सर्वं  
ज्योतिरिति विश्वशब्दार्थविवरणम् । “अग्निष्टेऽधिपतिरिति”—

\* ‘आण्डयोर्मध्ये’—इति क ।

† का० औ० सू० १७. ४. २३ ।

‡, ¶ वा० सं० १३. २४. २ ।

§, \*\* पा० सू० २. ३. ६२. वा० १ ।

॥ इहैव पुरस्तात् २५ कण्ठी ( २८७ पृ० ) द्रष्टव्या ।

†† ‘आश्रयो’—इति ज ।

इतन्मन्त्रभागकथनेन 'अग्नि मेव' 'अस्याः' विश्वज्योतिषः 'अधिपतिं करोति' ।

हे विश्वज्योतिः ! पृथिव्याः पृष्ठे 'ज्योतिष्मतीं' ज्योतिषा युक्तां त्वां 'प्रजापतिः' 'सादयतु' स्थापयतु । किमर्थं मिति तत्राह— 'विश्वस्मै' विश्वस्य, सर्वस्य लोकस्य 'प्राणाय अपानाय व्यानाय' प्राणादिव्यापारार्थम् । किञ्च 'विश्वं' समस्तं 'ज्योतिः' तेजो 'यच्छ' नियच्छ, अस्मदायत्तं कुरु । 'ते' तव 'अग्निः अधिपतिः', अतः स त्वां 'परिभ्यो गोपायत्विति कृत्स्नमन्त्रार्थः ॥ २८ ॥

अथ ऋतव्याख्ययोरिष्टकयोरुपधानं विधत्ते— "अथेति \* । 'ऋतव्ये'—इति "वाय्वृतुपितृषसो यत्"—इति † देवतार्थे यत् प्रत्ययः । "यचि भम्"—इति ‡ भ सञ्ज्ञायाम् "ओर्गुणः"—इति § गुणः, "वान्तो यिप्रत्यये"—इति ॥ अवादेशः । ऋतुदेवत्येष्टकोपधानेन ऋतूना मेवोपधानं भवतीत्याह— "ऋतव एत इति ।

ऋतव्ययोरुपधाने मन्त्रं विधाय ॥ व्याचष्टे— "मधुषेति \*\* । मधुमाधवशब्दाभ्यां चैत्रवैशाखावुच्येते । "वासन्तिकाविति, "वसन्ताच्च"—इति †† ठञ्-प्रत्ययः । ऋतुशब्दो मासद्वये मुख्यः, अत्र

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २४ ।

† पा० सू० ४. २. ३१ ।

‡ पा० सू० १. ४. १८ ।

§ पा० सू० ६. ४. १४६ ।

॥ पा० सू० ६. १. ७६ ।

॥ का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

\*\* वा० सं १३. २५ ।

†† पा० सू० ४. ३. ३० ।

तदवयवभूते मासे उपचाराद् वर्त्तते । मधुश्च माधवश्वेत्येती वसन्त-  
सम्बन्धिनौ 'ऋतू' मासौ ; अतश्च तदेवत्यत्वेन तदात्मिके वा  
मुपदधामि इत्यर्थः । "नामनी"—इत्यादिना मधुमाधवशब्दो-  
पयोगं दर्शयति । ननु स्वयमात्स्यादिवदेकैकस्या इष्टकाया  
उपधानं विहाय , किं मिति द्वयोरुपधानं मिति तत्राह— "द्वे  
इष्टके इति । इष्टकयोर्द्वित्वेऽपि सकृत्सादनेनैक मेव ऋतुं  
सम्पादयतीत्याह— "सकृदिति ॥ २८ ॥

प्रथमायां चितौ तदुपधानस्य कारणं माह— "तद्यदित्या-  
दिना । 'एते' ऋतव्ये 'अत्र' प्रथमायां चितौ 'उपदधाति'—इति  
यत् , तत्र कारणं मुच्यते— 'एषः' चीयमानः 'अग्निः' 'संवत्सरः'  
संवत्सरात्मकः । अग्नेः संवत्सरात्मकत्वं संवत्सरं मुखायां सन्भृत्यो-  
त्पादनीयत्वाद् । चीयमानस्याग्नेः प्रजापतिरूपत्वं प्रागुक्तम्—  
"स यः प्रजापतिर्व्यसंसत , अयं मेव स योऽयं मग्निश्चीयत  
इति \* । 'सः' प्रजापतिः सर्वलोककारणत्वेन तदात्मकः । "संव-  
त्सर एषोऽग्निरिति । तस्य संवत्सरात्मकत्वोक्तेः संवत्सरः 'इमे  
लोकाः' खलु । "तस्येति । 'तस्य' संवत्सराग्निसर्वलोकात्मकस्य  
प्रजापतेः । 'अयं मेव लोकः' पृथिवी । प्रथमा चितिः , वसन्त  
ऋतुश्च , प्राथम्यसादृश्याद् 'अस्य' संवत्सरात्मकस्य 'प्रजापतेः' अव-  
यवभूतः 'अयं' लोकः ; अतश्चात्र प्रथमायां चितौ 'एते' ऋतव्ये  
वसन्तर्तुदेवत्यत्वेन तदात्मिके उपदधातीति यत् , तेन यदेव  
'अस्य' प्रजापतेः 'आत्मनः' स्वस्य 'एतद्' इष्टकादयलक्षणं

\* इहेव पुरस्ताद् चतुर्थो कण्ठो ( २७६ पृ० ) द्रष्टव्या ।

यदङ्ग मस्ति , तद् 'अस्मिन्' अवयवे प्रथमचितिलक्षणे 'एतत्' एतेन पुनः 'प्रतिदधाति' \* ; तस्मादेते प्रथमायां चित्तावुप-  
दध्यात् ॥ ३० ॥

अथ पुनस्ते एव ऋतव्ये प्रजापतेः प्रतिष्ठात्मनापि स्तौति—  
“यदेवैते इति । “प्रतिष्ठो अस्य वसन्त ऋतुरिति । ‘प्रतिष्ठा  
उ’ इति पदविभागः । “आङ्गुः” † , उकारस्य “निपात एका-  
जनाङ्”-इति ‡ प्रगृह्यसञ्ज्ञायाम् “भूतः प्रगृह्या अचि”-इति §  
प्रकृतिभावात् “प्रतिष्ठो अस्येति । “एङः पदान्तादिति”-इति ॥  
पररूपत्वं न भवति । वसन्तर्त्तौः संवत्सरप्रथमावयवत्वात् प्रति-  
ष्ठात्वम् । यत्रावयवे प्रतितिष्ठति , सा प्रतिष्ठा । यथा पुरुषः  
पदयोः प्रतितिष्ठति , तद्वत् संवत्सरोऽपि वसन्तर्त्तौ प्रतितिष्ठति ।  
प्रथमायाश्चित्तसु उत्तरचितिलक्षणान् प्रजापतेरवयवान् प्रत्या-  
धारत्वात् प्रतिष्ठात्वम् ; अतश्च प्रथमायां चित्तौ प्रकृतयो-  
रिष्टकयोरुपधाने प्रजापतेः स्वस्य वसन्तर्त्तुदेवत्वत्वेन तदात्मकै-  
तदिष्टकादयलक्षणं यत् प्रतिष्ठारूप मङ्ग मस्ति , तदस्मिन्नेतेन  
प्रतिनिहितवान् भवतीत्यर्थः ॥

अथानयोरिष्टकयोरुपधानस्य स्थानविशेषं विधाय प्रशं-  
सति— “ते अनन्तर्हिते इति । “अनन्तर्हितास्तदिति । ‘तत्’

\* 'प्रदधाति'—इति ज ।

† पा० सु० ६. १. ८७ ।

‡ पा० सु० १. १. १४ ।

§ पा० सु० ६. १. २५ ।

॥ पा० सू० ६. १. १०६ ।



तेन 'प्रजाः' 'ऋतुभ्यः' 'अनन्तर्हिताः' अव्यवहिताः 'दधाति',  
 ऋतुषु प्रतिष्ठापयतीत्यर्थः । तदेव दर्शयति— "तस्मादिति ।  
 यत एवं तस्मात् 'प्रजाः' 'ऋतून्' अभिलक्ष्य 'प्रजायन्ते' 'गर्भे'  
 सन्त' गर्भेऽपि विद्यमानं 'जन्तुम्' ऋतुभिर्ह्येव 'सम्पश्यन्ति' ।  
 ऋतूनां कालात्मकत्वात्, कालस्य च सदातनत्वेन सर्वोत्पत्ति-  
 मन्निमित्तत्वाद्, अजातावस्था, जायमानावस्था, जातावस्था  
 च तत्रैव सम्बध्यन्त इति भावः ॥ ३१ ॥

विधत्ते— "अथेति \* । 'अथ' ऋतुव्येष्टकोपधानानन्तरम्,  
 अषाढाभिधा मिष्टका सुपदध्यात् । अषाढायाः सृष्ट्येष्टकात्वात्  
 तदुपधाने पृथिव्युपधानं मेव सम्पादितम् भवतीत्याह— "इयं  
 वा इति । तस्या अषाढाया उपधानम् चयनस्थलस्य पूर्वभागे  
 कर्त्तव्यं मित्याह— "तां पूर्वाह्णे इति । ननु किमर्थं मस्याः  
 पूर्वाह्णे उपधानं मिति तत्राह— "प्रथमेति । 'इयम्' अषाढा,  
 उखायाः 'प्रथमा' पूर्वा 'असृज्यत' खलु ॥ ३२ ॥

प्रकृताया इष्टकायाः अषाढेतिनामधेयप्राप्तिप्रदर्शनपूर्वकं सुप-  
 धानोपयोगं दर्शयति — "सा यदषाढा नामेत्यादिना । पुरा खलु  
 'देवाश्चासुराश्च' 'प्राजापत्याः' प्रजापतेरपत्यभूताः । पत्युत्तरपदत्वाद्  
 "दित्यदित्येत्यादिना † अपत्यार्थे स्त्र्य-प्रत्ययः । 'ते' एते उभये  
 ऽपि स्पर्धां मकुर्वन् । ततः 'ते देवाः' केनोपायेनासुरान् जयेमिति  
 विचार्य, 'एताम्' अषाढाभिधाम् 'इष्टकां' तदुपायत्वेन 'अप-  
 श्यन्' । दृष्ट्वा च 'ता मिमाम्' इष्टका सुपहितवन्तः । ततः 'ता

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २५ ।

† पा० सू० ४. १. ८५ ।

मुपधाय 'असुरान्' 'सपत्नान्' वैरिणः , 'भ्रातृव्यान्'-इति सपत्न-  
शब्दार्थविवरणम् । भ्रातृशब्दाद् "व्यन् सपत्ने"-इति \* सपत्नार्थे  
व्यनो विधानात् । तानसुरान् 'अस्मात् सर्वस्मात्' स्थानाद् 'अस-  
हन्त' निराकुर्वन् , यथैषु लोकेषु अवस्थानं न लभन्ते, तथा पर्यवो-  
भवन्नित्यर्थः । यत एतया असुरानसहन्त , 'तस्मादषाढा'-इति  
नामधेयम् । अत्रासुराणां सहनकथनेन स्वेष्टा मसहनं मर्थतः  
प्राप्तम् ; अतश्चैतस्या इष्टकायाः स्वेष्टा मसहनं प्रत्यपि कारण-  
त्वादसहनसाधनत्वेनाषाढेत्युच्यते । "साढ्यै साढा साढेति निगमः"  
-इति † 'साढा'-शब्दो निपातितः , ततो नञ्समासः , व्यत्ययेन  
मूर्धन्यादेशः । "तथैवेतिदिति । यथैव देवा अषाढा मुपधाय  
असुरान्निराकुर्वन् , 'तथैव' 'यजमान एता मुपधाय' 'द्विषन्तम्'  
द्वेषं कुर्वन्तम् , 'भ्रातृव्यम्' अस्मात् सर्वस्मात् 'प्रदेशान्निरा-  
कुरुते' ॥ ३३ ॥

अथैता मेवेष्टकां वागात्मनापि प्रशंसति ‡—"यद्देवेति । "वा-  
चैव तद्देवाः"-इत्यादिना अषाढाया वाग्यूपत्वं § प्रतिपाद्यते । यतो  
देवा निर्भर्त्सनादिविशिष्टया 'वाचैव' 'असुरानसहन्त' , तस्मान्निरा-  
करणसाधनत्वसाधर्म्यादषाढा वाक् खल्वित्यर्थः । "तथैवेति ।  
यतो देवाः वाचा असुरान् असहन्त , ततो देववदेव 'यज-  
मानः' अपि 'वाचैव द्विषन्तं भ्रातृव्य मस्मात् सर्वस्मात् सहते' ।

\* पा० सू० ४. १. १४५ ।

† पा० सू० ६. ३. ११३ ।

‡ 'प्रशंसति'-इति छ ।

§ 'वाग्युपाषाढयोक्त'-इति छ ।

यतः अषाढा उक्तन्यायेन वागात्मिका , अत एतेन अषाढो-  
पधानेन 'वाच मेव उपादधत देवाः', 'तथैव' 'यजमानः'  
'वाच मेवोपधत्ते' ॥ ३४ ॥

यदुक्तं मियं वा अषाढेत्यषाढायाः पृथिव्यात्मकत्वम् \* ,  
तदुपजीव्यास्या अषाढाया इष्टकायाः 'वामभृत्'-सञ्ज्ञाप्राप्तिं  
दर्शयति— "सेय मिति । 'वामं' वननीयं वस्तु ; 'प्राणाः'  
सर्वैराशस्यमानत्वात् 'वामं' वस्तु । 'यत् किञ्च' 'प्राणीय'  
प्राणवत् अर्थजात मस्ति , 'तत् सर्वम्' 'इयं' पृथिवी 'बिभर्ति'  
खलु । अतश्च वामशब्देन प्राणानां मभिधानात् , प्राणानां तद्वतां  
आभेदविवक्षया 'इयं' पृथिवी 'वामभृत्'-सञ्ज्ञेति तदात्मिका-  
प्यषाढा वामभृत्-सञ्ज्ञेत्यर्थः । "वाग्वा अषाढेति यदुक्तं वागा-  
त्मकम् † , तदुप्युपजीव्यैतत्सञ्ज्ञालाभ माह— "वाग्ध  
त्वेवेति । "वाचि वा"—इत्यत्र वाक्शब्देन वागिन्द्रियस्थानं  
मुखं लक्ष्यते , प्राणानुविधायित्वात् प्राणशब्देन च ओत्रादीनी-  
न्द्रियाणि , प्राणेभ्योऽर्थे वाचि सुखे अन्नं 'धीयते' निधीयते ।  
"तस्माद् वाग्वामभृदिति । तदात्मिकाषाढापि वामभृदित्य-  
भिधीयते ॥ ३५ ॥

सेय मित्यादिनोक्तप्रकारेण निष्पन्नं मर्थं माह— "त एत  
इति । सेय मित्यादिना अषाढाया आधिभौतिकप्राणात्मकत्व  
सुक्तम् , वाग्ध त्वेत्यादिना तु आध्यात्मिकप्राणात्मकत्वम् ।  
ततश्च अषाढेति यदेषा , 'ते सर्वे प्राणाः' आध्यात्मिकत्वा-

\* इहैव परस्तात् ३२ कण्ठी ( २८६ पृ० ) द्रष्टव्या ।

† पुरस्तात् ३४ कण्ठी ( २८६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

धिभौतिकत्वादिभेदेनोभयविधा अपि प्राणा इत्यर्थः । ‘त एते’  
—इति ‘प्राणाः’—इत्येतदपेक्षया लिङ्गवचने । उक्त मषाढाया  
उभयविधप्राणात्मकत्वमुपजीव्य, तस्याः पूर्वभागे उपधान  
मुपपादयति—“तां पूर्वाह्णं इति । “तस्मादिति । ‘पुरस्तात्’  
पूर्वभागे इत्यर्थः । “इमे”—इति अभिनयेन निर्देशः । ‘तस्मात्’  
पूर्वाह्णं उपधानात् मुखे ‘इमे प्राणाः’ अवतिष्ठन्त इति शेषः ।  
अषाढायाः पूर्वभागे मन्त्रवत्या इष्टकाया उपधानं निवारयति  
—“तां नान्ययेति । ‘पुरस्तात्’ ‘ताम्’ मषाढां ‘प्रति’ ‘अन्यथा’  
मन्त्रवत्या इष्टकयोपधानं ‘न’ सम्पादयेत् । ‘एतस्यां चित्ता-  
विति । तत्र हेतुरुच्यते— “नेदिति, निपातः परिभये  
वर्तते \* । अषाढायाः प्राणात्मकत्वाद् एतस्यां प्रथमायां चितौ  
तस्याः पुरस्तात् मन्त्रवदिष्टकोपधाने तदव्यवधानात् ‘प्राणान्’  
एव अपिहितवान् भवतीति परिभयेन नोपदध्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु यदि समन्त्रकाणां मिष्टकानां मुपधाने प्राणापिधानम्,  
तर्हि अपस्यानां मन्त्रविशिष्टानां मिष्टकानां मुपधानेन तत्  
कस्मान्न भवतीत्यत आह— “यदपस्या इति । अपस्यानां  
मन्त्रात्मकत्वं तद्विधायकब्राह्मणेऽभिधास्यते † । आपश्चान्नात्मिकाः ;  
तत्कारणत्वात् । अन्नेन तु प्राणानां मुपिधानं न सम्भवति ;  
अन्नोपजीवित्वात् प्राणानाम् । अतश्चान्नात्मकत्वादपस्यानां  
समन्त्रकाणां मय्युपधानं न विरुध्यत इति भावः । अथ तस्या  
उपधानं मृत्ययोः समीपे विधाय स्तौति— “ता मनन्तर्हिता

\* “नेति एष इदित्येतेन सम्प्रयुज्यते परिभये”—इति निरु० १. ३. ६ ।

† इहैवोपरिष्ठाद् पञ्चमे ब्राह्मणे १० कण्डिकायां द्रष्टव्यं भविष्यति ।

मिति । 'स्यं वागृतुषु प्रतिष्ठिता वदतीति । ऋतुष्ववस्थितेषु प्राणिषु प्रतिष्ठिता वदतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

“प्रजा वै विश्वज्योतिरिति विश्वज्योतिषः प्रजात्व मुक्तम् , “वग्वा अषादेति अषाढाया वाक्त्रं प्रतिपादितम् , ततश्च विश्वज्योतिषः समीपे अषाढाया उपधाने सति प्रजासु वागुपहिता भवति ; तदकृत्वा तयोर्मध्ये किमर्थं ऋतव्ययोरुपधानं कृतमित्याशङ्क्य तत्कारणमाह— “तदाहु रिति । “संवत्सरो वा ऋतव्ये इति । “ऋतव एते यदृतव्ये इति ऋतव्ययोः ऋत्वात्मकत्वात् , सम्भूय सर्वेषां ऋतूनां संवत्सरात्मकत्वात् , ऋतव्ये संवत्सरः । ततश्च ऋतव्ययोरन्तरोपधाने संवत्सरेण प्रजाभ्यो वाचं व्यवहृतां करोति । ‘तस्मात्’ इदानीं मुत्पत्तेरुपरि ‘संवत्सरवेलायां’ संवत्सरे गते सति पश्चात् ‘प्रजाः वाचं प्रवदन्ति’ ॥ ३८ ॥

प्रकृताया इष्टकाया उपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— अषाढासीत्यादिना \* । यतो ‘देवाः’ ‘एतया’ इष्टकया ‘असुरान्’ ‘असहन्त’ निराकुर्वन् ; अतः सहनसाधनत्वाद् “अषाढासीति मन्त्र आह । “सहस्रवीर्यासीत्यत्र सहस्रशब्देनापरिमितसंख्या विवक्षितेति दर्शयति— “सर्वं वै सहस्र मिति । हे इष्टके ! त्वं ‘सहमाना’ असुराणां निराकर्त्री ; अतो नान्ना अषाढासि । तस्मात् ‘अरातीः’ अदानशीलान् ( शत्रून् † ) ‘सहस्र’ परिभावय । किञ्च ये पूर्वं विरोधिनो न भवन्ति , इतः परम् ‘पृतनां’ सङ्ग्राम मिच्छन्ति , ते ‘पृतनायतः’ । पृतनाशब्दा-

\* वा० सं० १३. २६ ।

† नास्त्येतत् पदं ङ-पुस्तके ।

दाकारलोपाभावश्चान्दसः । तानपि परिभावय । किञ्च त्वं  
‘सहस्रवीर्यासि’ अपरिमितवीर्यविशिष्टा \* भवसि । अनेन शत्रु-  
निराकरणसामर्थ्यं सुपपादितम् भवति । तादृशी ‘सा’ मां ‘जिन्व’  
प्रीणीहीति मन्वार्थः ॥ ३८ ॥

अथ दूर्वेष्टकादीनां स्वयमाह्वयायाः प्राग्भागे उपधाने  
कारणमाह—“तदाहुरिति । ‘अभि स्वयमाह्वयाम्’ अभिलक्ष्य ,  
स्वयमाह्वयाया उपरि भागे इत्यर्थः । “लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये”  
—इत्यर्थयौभावसमासः † । ‘अन्या इष्टकाः’ उपरि वक्ष्यमाणाः  
‘उपधीयन्ते’ ‘एताः’ दूर्वेष्टकादयस्तु तस्याः ‘प्राच्य उपधीयन्ते’—  
इति यदस्ति , तन्नोत्तरमाह—“हे वै योनी” —इति । ‘देवयोनिः’  
‘अन्यः’ , ‘मनुष्ययोनिः अन्यः’ , इति यदुक्तं मन्यत्वम् , तदाह—  
“प्राचीनेति । ‘प्राचीने भागे’ पूर्वभागे ‘प्रजननम्’ उत्पत्तिः ,  
तत्कारणं वा येषां ते तथोक्ताः ; ‘मनुष्याः’ तु ‘प्रतीचीनप्रजननाः’  
ततश्च ‘एताः’ इष्टकाः स्वयमाह्वयायाः ‘प्राचीः’ प्रागपवर्गाः  
‘उपधाति’—इति यत् , तेन ‘देवयोनिरेव’ ‘एतत्’ एनं ‘यज-  
मानम्’ ‘प्रजनयति’ उत्पादयति । दूर्वेष्टकादीनां मुत्तरोत्तर-  
पूर्वभावेन उपधानं कात्यायनेनोक्तम्—“पूर्वाम्-पूर्वां मुत्त-  
राम्”—इति ‡ ॥ ४० ॥ २ [ ४. २. ] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘अपरिमितसङ्ख्याकवीर्यविशिष्टा’—इति छ ।

† पा० मू० २. १. १४ ।

‡ का० औ० मू० १७. ४. १६ ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ४ ॥

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषौ स्वर्णगर्भम् ,  
सप्ताब्धीन् पञ्चसीरींस्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
रत्नोत्सां रुक्मवाजिहिपसहितरथौ सायणिः सिङ्गणार्यौ ,  
व्यश्राणोद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुक्तं घटञ्च ॥  
धान्याद्रिं धन्यजन्मा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णमुख्यः ,  
कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मज्जो राजतं राजपूज्यः ।  
आज्योत्थं प्राज्यजन्मा लवणज मटुणः शर्करं चार्कतेजाः ,  
रत्नाब्धौ रत्नरूपं गिरि मक्तत मुदा पात्रसात्सिङ्गणार्यः \* ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-

श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे तृतीयप्रपाठकश्च समाप्तः † ॥

\* अत्रत्याष्टीप्यन्यः पञ्चमकाण्डीयद्वितीयाध्यायान्ते द्रष्टव्यः ।

† अत्र १ ब्रा० ४५ क० , २ ब्रा० ४० क ; सङ्कलयनयात्र  
तृतीयप्रपाठकीयद्वयोर्ब्राह्मणयोः ८५ कण्डिकाः श्रुता इति ।



अथ

चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् ,

अपि वा

पञ्चमाध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ।



॥ हरिः ॐ ॥

कूर्मं मुपदधाति । रसो वै कूर्मो रस मेवैतदु-  
पदधाति यो वै स एषां लोकानां मसु प्रविद्धानां  
पराङ्मुखोऽत्युच्चरत्स एष कूर्मस्तु मेवैतदुपधाति या-  
वानु वै रसस्तावानात्मा स एष इमऽएव लोकाः \*  
॥ १ ॥

तस्य यद्धरं कपालम् । अयं स लोकस्तत्  
प्रतिष्ठितमिव भवति प्रतिष्ठित इव ह्ययं लोकोऽयं  
यदुत्तरं सा द्यौस्तद्व्यवगृहीतान्त मिव भवति  
व्यवगृहीतान्तेव हि द्यौरथ यदन्तरा तदन्तरिच्च

---

\* 'लोकाः'—इति ग, घ ।



स एष इमं एव लोका इमानेवैतल्लोकानुपदधाति  
॥ २ ॥

तु मभ्यनक्ति । दध्ना मधुना घृतेन दधि हैवास्य  
लोकस्य रूपं घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन-  
मेतद्रूपेण समर्द्धयत्यथो दधि हैवास्य लोकस्य रसो  
घृतं मन्तरिक्षस्य मध्वमुष्य स्वेनैवैन मेतद्रसेन समर्द्ध-  
यति \* ॥ ३ ॥

मधु व्याता ऋतायत ऽवृत्ति । यां वै देवता मृग-  
भ्यनूक्ता यां यजुः सैव देवता सुऽक्तो देवता तद्य-  
जुस्तद्वैतन्मध्वैष त्रिचो रसो वै मधु रस मेवा-  
स्मिन्नैतद्वधाति गायत्रीभिस्त्रिभिस्तस्योक्तो बभूवुः  
॥ ४ ॥

स यत् कूर्मो नाम । एतद्वै रूपं कृत्वा प्रजा-  
पतिः प्रजा असृजत यदसृजताकरोत्तददकरोत्  
तस्मात् कूर्मः कश्यपो वै कूर्मस्तस्मादाहुः सर्वाः  
प्रजाः काश्यप्य इति ॥ ५ ॥

\* 'समर्द्धयति'—इति ख ।

स यः सु कूर्मोऽसौ सु आदित्यः । अमु मेवै-  
तदादित्य मुपदधाति तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधा-  
त्यमुं तदादित्यं पुरस्तात् प्रत्यञ्चं दधाति तस्माद-  
सावादित्यः पुरस्तात् प्रत्यङ् धीयते दक्षिणतोऽषा-  
ढायै वृषा वै कूर्मो योषाषाढा दक्षिणतो वै वृषा  
योषा मुपशेतेऽरन्निमातेऽरन्निमावाञ्चि वृषा योषा  
मुपशेते सैषा सर्वासा मिष्टकानां महिषी यदुषाढै-  
तस्यै दक्षिणतः सन्त्सर्वासा मिष्टकानां दक्षिणतो  
भवति ॥ ६ ॥

यद्वेव कूर्म मुपदधाति । प्राणो वै कूर्मः प्राणो  
हीमाः सर्वाः प्रजाः करोति प्राण मेवैतदुपदधाति  
तं पुरस्तात् प्रत्यञ्च मुपदधाति पुरस्तात्तत् प्रत्यञ्चं  
प्राणं दधाति तस्मात् पुरस्तात् प्रत्यङ् प्राणो धीयते  
पुरुष मभ्यावृत्तं यजमाने तत् प्राणं दधाति दक्षि-  
णतोऽषाढायै प्राणो वै कूर्मो वागषाढा प्राणो वै  
वाचो वृषा प्राणो मिथुनम् ॥ ७ ॥

अपां गुम्भन्तीदिति । एतद्वापां गुम्भिष्ठं युनैष  
एतत्तपति मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन् माग्निर्वैश्वानर

इति मेव त्वा सूर्यो हिंसीन् मो ऽग्निर्वैश्वानर  
 इत्येतदुच्छिन्नपत्वाः प्रजा अनुवीक्षस्वेतीमा वै सूर्वाः  
 प्रजा या इमा इष्टकास्ता अरिष्टा अनार्त्ता अनु-  
 वीक्षस्वेत्येतदनु त्वा दिव्या वृष्टिः सचता मिति  
 यथैवैनं दिव्या वृष्टिरनुसचेतैव मेतदाह ॥ ८ ॥

अथैन मेजयति । चीन्समुद्रान्समस्पत्  
 स्वर्गानिती मे वै त्रयः समुद्राः स्वर्गा लोकास्तानेषु  
 कूर्मी भूत्वानुसृप्सर्पापां पतिवृषभ इष्टकाना  
 मित्यपां ह्येष पतिवृषभ इष्टकानां पुरीषं  
 व्वसानः सुकृतस्य लोक ऽइति पशवो वै पुरीषं  
 पशून् वसानः सुकृतस्य लोक इत्येतत् तत्र गच्छ  
 यत्र पूर्वे परेता इति तत्र गच्छ यत्रैतेन पूर्वे  
 कर्मण्येयुरित्येतत् ॥ ९ ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इति । महती द्यौः  
 पृथिवी च न इत्येतदिमं यज्ञं मिमिक्षता मित्तीमं  
 यज्ञं भवता मित्येतत्पिपृतां नो भरीमभिरिति  
 विभृतां नो भरीमभिरित्येतद् द्यावापृथिव्योत्तमयो-  
 पदधाति द्यावपृथिव्यो हि कूर्मः ॥ १० ॥

त्रिभिरुपदधाति । त्रय इमे लोका अथो त्रिवृ-  
 दग्निर्यावानग्निर्यावत्यस्य मात्रा तावतैवैन मेतदुप-  
 दधाति त्रिभिरभ्यनक्ति तत् षट् तस्योक्तो बभ्रु-  
 रवका अधस्ताङ्गवन्त्यवका उपरिष्ठादापो वा ऽवका  
 अपा मेवैन मेतन्मध्यतो दधाति सादयित्वा सूद-  
 दोहसाधिवदति तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ११ ॥

अथोलूखलमुसले ऽउपदधाति । त्रिष्णुरका-  
 मयतान्नादः स्या मिति सु एते ऽदृष्टके ऽअपश्यदुलू-  
 खलमुसले ते ऽउपाधत्त ते ऽउपधायान्नादो ऽभवत्तथै-  
 वैतद्यजमानो यदुलूखलमुसले ऽउपदधाति येन  
 रूपेण यत् कर्म कृत्वा त्रिष्णुरन्नादोऽभवत्तेन रूपेण  
 तत् कर्म कृत्वान्नादोऽसानीति तदेतत्सर्वं मन्त्रं यदु-  
 लूखलमुसले ऽउलूखलमुसलाभ्यां ह्येवान्नं क्रियत  
 ऽउलूखलमुसलाभ्या मद्यते \* ॥ १२ ॥

ते रेतस्त्रिचोर्व्वेलयोपदधाति । पृष्टयो वै रेतः-  
 सिचौ मध्यं सु पृष्टयो मध्यत एवास्मिन्नेतदन्नं दधा-

\* 'मद्यते'—इति क, ख ।

त्युत्तरे ऽउत्तर मेवास्मादेतदन्नं दधाल्यरत्निमात्रे ऽरत्नि-  
मात्राद्गन्धं मदाते ॥ १३ ॥

प्रादेशमात्रे भवतः । प्रादेशमात्रो वै गुर्भो  
व्विशुरन्नं मेतदात्मसम्मित मेवास्मिन्नेतदन्नं दधाति  
यदु वा ऽप्रात्मसम्मित मन्नं तदवति तन्नं हिनस्ति  
यद्गुयो हिनस्ति तद्यत् कनीयो न तदवति ॥ १४ ॥

औदुम्बरे भवतः । जग्वै रस उदुम्बरं जुर्जं  
मेवास्मिन्नेतद्रसं दधाल्यथो सर्वं ऽएते व्वनस्पतयो  
यदुदुम्बर एते ऽउपदधत् सर्वान् व्वनस्पतीनुपद-  
धाति रेतस्त्रिचोर्व्वेलयेमे वै रेतस्त्रिचावनयोस्तद्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मादनयोर्व्वनस्पतयश्चतुःस्रति  
भवति चतस्रो वै दिशः सर्वासु तद्विद्म व्वन-  
स्पतीन् दधाति तस्मात् सर्वासु दिद्म व्वनस्पतयो  
मध्ये सुहृद्हीतं भवत्युलूखलरूपतायै ॥ १५ ॥

यद्वेवोलूखलमुसले ऽउपदधाति । प्रजापते-  
र्व्विस्तृप्तात् प्राणो मध्यत उदचिक्रमिषत्त मन्नेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राणो ऽन्नेन गृहीतो यो ह्येवान्न  
मत्ति स प्राणिति ॥ १६ ॥

प्राणे गृहीते ऽस्मादन्नमुदचिक्रमिषत्तत् प्राणेना-  
गृह्णात् तस्मात् प्राणेनान्नं गृहीतं यो ह्येव प्राणिति  
सोऽन्नमस्ति ॥ १७ ॥

एतयोरुभयोर्गृहीतयोः । अस्मादूर्गुदचिक्रमि-  
षत्ता मेताभ्या मुभाभ्या मगृह्णात् तस्मादेताभ्या  
मुभाभ्यामूर्गृहीता यो ह्येवान्नमस्ति स प्राणिति त  
मूर्जयति ॥ १८ ॥

जर्ज्जि गृहीतायाम् । अस्मादेते ऽउभे ऽउदचिक्र-  
मिषतां ते ऽजर्ज्जागृह्णात् तस्मादेते ऽउभे जर्ज्जा  
गृहीते यः ह्येवोर्ज्जयति स प्राणिति सोऽन्नमस्ति  
॥ १९ ॥

तान्येतान्यन्योऽन्येन गृहीतानि । तान्यन्यो-  
ऽन्येन गृहीत्वात्मन् प्रापादयत तदेतदन्नं प्रपद्य-  
मानः सर्वे देवा अनुप्रापयन्तान्नजीवनं हीदं  
सर्वम् ॥ २० ॥

तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः । तद्वै स प्राणो ऽभव-  
दिति तद्वि स प्राणो ऽभवन् महा भूत्वा \* प्रजापति-

रिति महान् हि स तद् भवद्यदेन मेते देवाः  
 प्रापद्यन्त भुजो भुजिष्या वित्वेति प्राणा वै भुजो  
 ऽन्नं भुजिष्या एतत् सर्व्वं वित्वेत्येतद्यत् प्राणान्  
 प्राणयत् पुरीत्यात्मा वै पूर्य्यद्वै प्राणान् प्राणयत्  
 तस्मात् प्राणा देवा अथ यत् प्रजापतिः प्राणयत्  
 तस्माद् प्रजापतिः प्राणो यो वै स प्राण एषा सा  
 गायत्यथ यत् तदन्न मेष स व्विष्णुर्देवताथ या सो  
 ऽर्गेष स उदुम्बरः \* ॥ २१ ॥

सो ऽब्रवीत् । अयं व्याव मा सर्व्वस्मात् पाप्मन्  
 उदभाषीदिति यदब्रवीदुदभाषीन्मेति तस्मादुदुम्बर  
 उदुम्बरो ह वै त मुदुम्बर इत्याचक्षते परोऽक्षम्परोऽक्ष-  
 कामा हि देवा उरु मे करदिति तस्मादुरुकर  
 मुरुकरः ह वै तदुलूखल मित्याचक्षते परोऽक्षम्परो-  
 ऽक्षकामा हि देवाः सैषा सर्व्वेषां प्राणानां योनि-  
 र्यदुलूखलः शिरो वै प्राणानां योनिः ॥ २२ ॥

तत् प्रादेशमात्रं भवति । प्रादेशमात्रं मिव

\* 'उदुम्बरः'—इति ख , 'उदुम्बुरः'—इति ग, घ ।

हि शिरश्चतुःस्रति भवति चतुःस्रतीव हि शिरो  
मध्ये सङ्गृहीतं भवति मध्ये सङ्गृहीतं मिव हि  
शिरः ॥ २३ ॥

तं यत्र देवाः समस्कुर्वन् तदस्मिन्नेतत् स्रुजं  
मध्यतो ऽदधुः प्राण मन्त्र मूर्जं तथैवास्मिन्नय मेत-  
द्दधाति रेतस्मिचोर्व्वेलया पृष्टयो वै रेतस्मिचौ  
मध्य मु पृष्टयो मध्यत् एवास्मिन्नेतत् स्रुजं दधाति  
॥ २४ ॥

व्विष्णोः कर्माणि पश्यतेति । व्वीर्यं वै कर्म  
व्विष्णोर्व्वीर्याणि पश्यतेत्येतद्यतो व्रतानि पस्पश  
ऽद्वत्यन्नं वै व्रतं यतो ऽन्नं स्पाशयाञ्चक्र ऽद्वत्येत-  
दिन्द्रस्य युज्यः सखेतीन्द्रस्य ह्येष युज्यः सुखा  
द्विदेवत्ययोपदधाति \* द्वे ह्यलूखलमुसले स्रुतत्  
सादयति समानं तत् करोति समानं ह्येतदन्न  
मेव सादयित्वा सूददोहसाधिवदति तस्योक्तो बभूवुः  
॥ २५ ॥

\* 'द्विदेवत्यो भवति'—इति क, ख ।



अथोखा मुपदधाति । योनिर्वा ऽउखा योनि  
मेवैतदुपदधाति ता मुलूखल ऽउपदधात्यन्तरिक्षं  
वा ऽउलूखलं यद्वै किञ्चास्या ऊर्ध्वमन्तरिक्षं मेव  
तन्मध्यं वा ऽअन्तरिक्षं मध्यतस्तद्योनिं दधाति  
तस्मात् सर्वेषां भूतानां मध्यतो योनिरपि वृन-  
स्पतीनाम् ॥ २६ ॥

यद्वेवोखा मुपदधाति । यो वै स प्रजापति-  
र्यस्रः सतैषा \* सोखे मे वै लोका उखे मे लोकाः  
प्रजापतिस्ता मुलूखल ऽउपदधाति तदेन मेतस्मि-  
न्सर्वास्मिन् प्रतिष्ठापयति प्राणे ऽन्न ऽऊर्ज्युथो ऽए-  
तस्मादेवैन मेतत् सर्वस्मादनन्तर्हितं दधाति ॥  
॥ २७ ॥

अथोपशयां पिष्टा । लोकभाज मुखां कृत्वा  
पुरस्तादुखाया उपनिवपत्येष हैतस्यै लोकस्तयो  
हास्यैषानन्तरिता भवति ॥ २८ ॥

तदाहुः । कथं मस्यैषा पक्वा शृतोपहिता भव-

तीति यदेव यजुष्कृता तेनाथो यद्वै किञ्चित् मग्निं  
वैश्वानरमुपनिगच्छति तत एव तत् पक्वञ् शृत  
मुपहितं भवति ॥ २९ ॥

ध्रुवासि धरुणेति । तस्योक्तो बभ्रुरितो जज्ञे  
प्रथमं मेभ्यो योनिभ्यो ऽअधि जातवेदा इत्येतेभ्यो  
हि योनिभ्यः प्रथमं जातवेदा अजायत स गायत्र्या  
विष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्नि-  
त्येतैर्वा ऽएष कुन्दोभिर्देवेभ्यो हव्यं वहति प्रजा-  
नन् ॥ ३० ॥

इषे राये रमस्व । सहसे द्युम्न ऽजर्जे ऽअप-  
त्यायेत्येतस्मै सर्वस्मै रमस्वेत्येतत् सम्राडसि स्वरा-  
डसीति सम्राट् च ह्येष स्वराट् च सारस्वतौ  
त्वोत्सौ प्रावता मिति मनो वै सरस्वान् वाक्सर-  
स्वत्येतौ सारस्वता ऽउत्सौ तौ त्वा प्रावता मित्ये-  
तद् द्वाभ्यामुपदधाति तस्योक्तो बभ्रुरथो इयञ्  
द्येवैतद्रूपं मृच्चापञ्च सादयित्वा सूददोहसाधिवदति  
तस्योक्तो बभ्रुः ॥ ३१ ॥

अथैनामभिजुहोति । एतद्वा ऽअस्या मेतत्

पूर्वः रेतः सिक्तं भवति सिक्तास्तदेतदभिकरोति  
तस्माद्योनौ रेतः सिक्तं मभिक्रियत ऽत्राज्येन जु-  
होति स्त्रवेण स्वाहाकरिणं द्वाभ्या मानेयीभ्यां गाय-  
त्रीभ्यां तस्योक्तो बन्धुः ॥ ३२ ॥

अग्ने युक्षा हि ये तव । युक्षा हि देवद्वत-  
मानिति युक्तवतीभ्या मिदं मेवैतद्योनौ रेतो युनक्ति  
तस्माद्योनौ रेतो युक्तं न निष्पद्यते ॥ ३३ ॥

स यदि संवत्सरभृतः स्यात्\* । अथाभिजुहु-  
यात् सर्व्वं वै तद्यत् संवत्सरभृतः सर्व्वं तद्यदभि-  
जुहोत्यथ यद्यसंवत्सरभृतः स्यादुपैव तिष्ठेता सर्व्वं  
वै तद्यदसंवत्सरभृतो ऽसर्व्वं तद्यदुपतिष्ठते ऽभि-  
त्वेव जुहुयात् ॥ ३४ ॥

पशुरेष यदग्निः† । सो ऽत्रैव सर्व्वः कृत्स्नः  
संस्कृतस्तस्यावाङ् प्राणः स्वयमात्मना श्रोणी द्वियजुः  
पृष्ठयो रेतस्त्रिचौ कौकसा विश्वज्योतिः ककुद

\* 'स्यात्'—इति ग, घ ।

† 'यदग्निः'—इति ग, घ ।

मृतव्ये ग्रीवा अषाढा शिरः कूर्मीं ये कूर्मं प्राणा  
ये शीर्षन् प्राणास्ते \* ते ॥ ३५ ॥

तं वा ऽएतम् । इत जङ्घं प्राञ्चं चिनोत्यसौ  
वा ऽआदित्य एषो ऽग्निरमुं तदादित्य मित जङ्घं  
प्राञ्चं दधाति तस्मादसावादित्य इत जङ्घः प्राङ्  
धीयते † ॥ ३६ ॥

अथैनं प्रसलव्यावर्त्तयति । अमुं तदादित्यं प्रस-  
लव्यावर्त्तयति तस्मादसावादित्य इमांल्लोकान् प्रस-  
लव्यनुपयैति ॥ ३७ ॥

उदरमुखा ‡ । योनिरूलूखल मुत्तरोखा भवत्य-  
धर मूलूखल मुत्तरुध् उदर मधरा योनिः शिश्रं  
मुसलं तद् वृत्तं मिव भवति वृत्तं मिव हि शिश्रं तद्  
दक्षिणत उपदधाति दक्षिणतो वै व्यूषा योषा  
मुपशेते यदु पशोः संस्कृतस्याक्षं तद् दूर्व्वेष्टका  
तस्य वा ऽएतस्योत्तरोऽर्धं उदाहिततरो भवति पशु-

\* 'ते'—इति ग, घ ।

† 'धीयते'—इति क ।

‡ 'उदरमुखा'—इति ग, घ ।

रेष यदग्निस्तस्मात् पशोः सुहितस्योत्तरः कुक्षिरुन्नत  
तरो भवति \* ॥ ३८ ॥ १ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके प्रथमं ब्राह्मणम् [ ५, १, ] ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निश्चमे , त मंहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् ब्राह्मणे स्वयमादिसादीना मुपधान मभिहितम् ;  
अथास्मिन् ब्राह्मणे कूर्मादीना मुपधान मभिधास्यते । तत्रादौ  
तावत् कूर्मोपधानं विधाय तं रसात्मना स्तौति— “कूर्म  
मुपदधातीति । उक्तं मेव कूर्मस्य रसत्वं प्रतिपादयति— “यो  
वै स इति । ‘एषां’ पृथिव्यादीनां ‘लोकानाम्’ ‘अप्सु’ ‘प्रविधानां’  
मग्नानां ‘सः’ प्रसिद्धो यः ‘रसः’ ‘पराङ्’ अनावृत्तः ‘अत्यक्षरत्’  
अस्रवत् । ‘सः’ रसः ‘एषः’ इदानीं मस्माभिरुच्यमानः ‘कूर्मः’ ।  
अतः ‘त मेव’ रसम् ‘एतत्’ एतेन कूर्मोपधानेनोपहितवान् भवति ।  
लोकरसत्वप्रनाद्या कूर्मस्य लोकात्मकत्वं मेवाह— “यावानु  
वा इति । ‘रसः’ ‘यावान्’ यत्परिमाणः , ‘आत्मा’ देहोऽपि  
‘तावान्’ तत्परिमाणः ; रस एव देहस्यान्तर्भावात् । यथा  
विलीने लोहपिण्डे तत्स्वरूपं तद्रूपे सूक्ष्माकारेण अवतिष्ठते ,  
तद्वत्लोकरसात्मके कूर्मे ‘लोकाः’ अपि सूक्ष्मरूपेण अवतिष्ठन्त  
इति ‘स एषः’ कूर्मः एतत् सर्वलोकात्मक इत्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं कूर्मस्य पृथिव्यादिलोकत्रयात्मकत्वम् , तदेव तच्छ-

\* ‘भवति’—इति क ।

रीरे विविच्य दर्शयति— “तस्येति । ‘तस्य’ कूर्मस्य यदधस्तानं  
 ‘कपालं’ कठिनत्वम्, ‘सः’ ‘अयं लोकः’ पृथिवी । अधरकपाल-  
 पृथिव्योः कस्यचित् साधर्म्यस्य प्रदर्शनात् तादात्म्यमुपपाद-  
 यति— “तत् प्रतिष्ठितमिवेति । ‘प्रतिष्ठितम्’ अधः सर्वत्र  
 पृष्ठतलम् । अधरकपाल-पृथिव्योस्तथाविधत्वात् तस्य पृथिव्या-  
 त्मकत्वम् । “अथेति । ‘अथ’ ‘यत्’ ‘उत्तरं’ कपालम्, ‘तद्’ ‘द्यौः’  
 द्युलोकः । पूर्ववत् तदेवोपपादयति— “तद् व्यवगृहीतान्तमिति ।  
 विविधमवगृहीतः अवनतः प्रान्तो यस्य, तत् तथोक्तम् ।  
 कूर्मस्योपरिकपालम् सर्वतो मण्डलाकारिणावनतप्रान्तम् ‘इव’  
 ‘भवति’, ‘द्यौः’ अपि तथाविधा; अतस्तस्य तदात्मकत्वम् ।  
 अथ ‘यत्’ अधरोत्तरयोर्द्वयोः कपालयोः ‘अन्तरा’ मध्यमस्ति,  
 ‘तदन्तरिक्षम्’ । अतः ‘स एषः’ कूर्मः, ‘इमे’ पृथिव्यादयः ‘एव’  
 लोकाः । तस्मादेतेनोपधानेन ‘इमानेव लोकानुपदधाति’ ॥ २ ॥

विहितस्य कूर्मस्य दधिमधुघृतैरभ्यञ्जनं विधत्ते— “तमभ्य-  
 नक्षीति \* । दधिमधुघृतानां पृथिव्यादिलोकरूपत्वम् । घृतस्य,  
 दध्न उपरिभावित्वात् पृथिव्युपरितनान्तरिक्षलोकरूपत्वम् ।  
 मधुनसु वृक्षाचलशिखरादिषूपरि भागेष्ववस्थितत्वात् द्युलोका-  
 त्मकत्वम् । अथवा मधुनो मधुररसत्वेन सोमात्मकत्वात्,  
 सोमस्य च द्युलोकोऽवस्थानात्, ‘मधु’ द्युलोकरूपम् । प्रकारान्तरे-  
 णापि दध्यादिभिरभ्यञ्जनं प्रशंसति— “अथो इति ॥ ३ ॥

अभ्यञ्जने मन्त्रं विधत्ते— “मधु वाता ऋतायत इति † ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २७ ।

† य० पा० १३. २७, २८, २९ ।

विहित मध्यञ्जनमन्त्रं रसात्मना प्रशंसति—“यां वै देवता मिति ।  
 ‘यां देवताम्’ ‘अभि’-लक्ष्ण, या ‘ऋक्’ ‘अनूक्ता’ उच्चारिता,  
 तद्देवताप्रतिपादकत्वेनोच्यते, सा ऋक् तत्प्रतिपादकत्वात् सैव  
 प्रतिपाद्या देवता । तथा यजुरपि । एवं च सत्यत्र तद्देवतास्वरूपं  
 मेतत् मधु ; “मधुवाता ऋतायते”—इत्यनया ऋचा प्रति-  
 पाद्यत्वात् । ततश्च ‘एष ऋचः’ प्रतिपाद्यत्वेन देवताभूत-  
 मध्वात्मकः । तिस्र ऋचो यस्मिन् समुदाये, स ऋचः ।  
 “ऋचि त्रेक्षतरपदादिलोपच्छन्दसि”—इति \* त्रिशब्दस्य सम्प्र-  
 सारणम्, ऋवर्णस्य च लोपः, “ऋक्पूरब्धूरिति समासान्तः † ।  
 मधु च सोमरसस्वरूपम् ; अतश्चैतेन ऋचेनोपधाने सति रसा-  
 त्मके ‘अस्मिन्’ कूर्मे ‘रस मेव’ विहितवान् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां छन्दःसङ्गो विधत्ते— “गायत्रीभिस्त्रिष्टुभि-  
 रिति । तद्व्याख्यानम् प्रागुक्तं मित्याह—“तस्योक्तो बन्धुरिति ।  
 तच्च “गायत्रीभिः प्राणो गायत्री प्राण मेवास्मिन्नेतद्भाति तिस्र-  
 भिः, तयो वै प्राणाः प्राण उदानो व्यानः, तानेवास्मिन्ने-  
 तद् दधाति”—इति षष्ठकाण्डेऽभिहितम् ‡ ।

मन्त्राणां मय मर्थः §,— ‘ऋतायते’ ऋतं यज्ञ मात्मन

\* पा० ६० १० ३७ सू० १ वा० । † पा० सू० ५० ४० ७४ ।

‡ ६ का० ३ प्र० २ ब्रा० ५ क० ( ६ भा० २११ पृ० ) ।

§ तत्पाठाश्वेवम्,—

“मधु वाता ऋतायते मधु चरन्ति सिन्धवः ।

माध्वीनः सन्धोषधीः । १ । मधु नक्त सुतोषसो मधुमत्

पार्थिवं रजः । मधु व्यौरस्तु नः पिता । २ । मधुमान् नो

वगसतिर्मधुमां वसु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु नः । ३ ।”

इच्छतीति ऋतायन् यजमानः । व्यत्ययेनाकारः । तस्मै 'वाताः' वायवो 'मधु' मधुररसं 'क्षरन्ति' स्त्रावयन्ति । 'सिन्धवः' समुद्राश्च नद्यश्च 'मधु क्षरन्ति' । 'ओषधीः' ओषधयोऽपि । "वाच्छन्दसि"—इति \* पूर्वसवर्णदीर्घः । 'नः' अस्मात्सम्बन्धि यजमानार्थं 'माध्वीः' मधुररसोपेताः 'सन्तु' । "ऋच्यवास्त्व्यवास्त्येत्यादिना † माध्वी-शब्दो निपातितः । किञ्च 'नक्तम्' रात्रिरपि 'मधु' मधुररसोपेता भवतु । अपि च 'उषसः' मधुररसोपेता भवन्तु । तथा यत् 'पार्थिवं रजः', तत् सर्वं 'मधुमत्' अस्तु । 'नः' अस्माकं यजमानस्य 'पिता' पिष्टस्थानीया 'द्यौः' 'मध्वन्तु' मधुररसोपेता भवतु । 'वनस्पतिः' अश्वत्यादिर्यज्ञसाधनभूतः 'नः' अस्माद्यजमानार्थं 'मधुमान्' अस्तु । 'सूर्यः' अपि 'मधुमान्' सन्तापराहृत्यलक्षणमाधुर्यरसोपेतः 'अस्तु' । तथा 'गावः' 'नः' अस्माद्यजमानार्थं 'माध्वीः' मधुरक्षीरोपेताः 'भवन्तु' ॥ ४ ॥

अथ कूर्म इति नाम्नः प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयति— "स यत् कूर्म इति । 'एतत्' कूर्मसम्बन्धि 'रूपम्' आत्मनः 'कृत्वा' 'प्रजापतिः प्रजा असृजत' । असृजतेत्यस्य व्याख्यानम्— "यदसृजताकरोदिति । असृजतेति यत्, तदकरोदित्यर्थः । 'तत्' तेन कूर्मरूपेण 'अकरोत्'—इति 'यत्', तस्माद् अकरोदिति 'कूर्मः'—इति, कूर्मशब्दो नामधेय मित्यर्थः । करोतेरौणादिके मक्-प्रत्यये "बहुलं छन्दसि"—इत्युत्वे ‡, 'हलि च'—इति § दीर्घं च

\* पा० सू० ६. १. १०६ ।

† पा० सू० ६. ४. १७५ ।

‡ पा० सू० ७. १. १०३ ।

§ पा० सू० ८. २. ७७ ।



कृते, कूर्म इति रूपम् भवति । “कश्यपो वा”-इत्यादिक-  
स्याय मर्थः,— कूर्मशब्दस्य करणे प्रवृत्तिनिमित्तकत्वात्, कश्य-  
पस्य च प्रजापतित्वेन प्रजाकारकत्वात्, ‘कश्यपः कूर्मः खलु’;  
अत एव ‘सर्वाः प्रजाः काश्यप्यः’ इति ‘आहुः’ जनाः । अतश्च  
कूर्मस्य कश्यपात्मकत्वात् तदुपधानम् प्रशस्त मिति ॥ ५ ॥

अथ त मेव कूर्म मादित्यात्मनापि स्तौति— “स य इति ।  
‘सः’ प्रकृतौ ‘यः’ ‘कूर्मः’ अस्ति, ‘सः’ ‘असौ’ विप्रकृष्टः ‘आदित्यः’ ।  
आदित्यात्मकत्वम् मण्डलाकारसाम्यात्, यथा ‘आदित्यो यूषः’-  
इति । एतस्योपधाने आदित्यस्यैवोपधानं कृतम् भवति । उक्त  
मादित्यात्मकत्वं सुपजीव्य, तस्य चयनप्रदेशे एव पूर्वभागे प्रत्यङ्-  
मुखस्योपधानं माह— “तं पुरस्तादिति ।

ननु कूर्मस्यादित्यात्मकत्वेन पुरस्तात् \* प्रत्यगुपधानेनादि-  
त्यस्य पुरस्तात् प्रत्यङ्निधानं मित्यन्योन्याश्रयता-दोष इति  
चेत्, मैवम् †; कारकज्ञापकयोर्हेतुहेतुमज्ञावैपरीत्यं भूषण  
मेव, न तु दूषणम् । यथा अग्निर्धूमस्य कारको हेतुः,  
धूमश्चाग्नेर्ज्ञापक इति; तथात्रापि कूर्मस्य पुरस्तात् प्रत्य-  
गुपधानं मादित्यस्य पुरस्तात् प्राङ्निधाने कारकम्,  
आदित्यस्य पुरस्तात् प्रत्यगवस्थानं कूर्मस्यैवंविधोपधाने ज्ञाप-  
कम् । पुरस्तात् प्रत्यगुपधानम्, अषाढायाः पुरस्तादुत्तरतो  
वापि स्यादित्यत आह— “दक्षिणत इति । ‘अषाढायै’-

\* “प्रत्यगुपधानम्, एतस्य च पुरस्तात्”— इत्यधिकः पाठो; न छ-पुस्तके ।

† ‘मैवम्’—इत्यस्य स्थाने “नेष दोषः”—इति छ-पाठः ।

इति, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी\*। उक्त्यर्थे उपपत्ति माह— “वृषा वा इति। वृषशब्देन सेचनसमर्थत्वात् पुमानुच्यते; अषाढा-  
शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वाद् अषाढा योषा खलु। “उत्तरतो हि स्त्री पुमांश्च सुपशेते”—इति श्रुतेः † पुमान् दक्षिणभागे योषा सुपशेते। उपशयनेन ईप्सिततमत्वात् योषा मिति द्वितीया ‡; अतश्चास्य कूर्मस्य अषाढायाः दक्षिणभागे उपधानं सुपपन्नमित्यर्थः। दक्षिणभागे विप्रकृष्टेऽप्युपधानं स्यादित्यत आह—  
“अरन्निमात्रे इति। उखाया अपि पुरस्ताद् अषाढायाः शिष्टत्वेन सर्वेष्टकानां मपि प्रशस्तत्वात् तद्दक्षिणभागे उपधानेन सर्वेष्टकानां मपि दक्षिणभागे उपशयनं सिद्धम् भवतीति दर्शयति— “सैषेति ॥ ६ ॥

अथ त मेव कूर्मं प्राणात्मनापि स्तौति— “यद्देवेति। “प्राणो होमा इति। ‘प्राणः’ खलु ‘हमाः सर्वाः प्रजाः करोति’; प्राणिभिरेव प्रजानां मुत्पादनात्। अतश्च कर्त्तव्यत्वसामान्यात् ‘प्राणः कूर्मः’ इति। तदुपधाने प्राणस्यैवोपधानं भवति। “तं पुरस्तादिनोक्तम् प्राणात्मकत्वं सुपजीव्य ‘पुरस्तात्’ प्रत्यक्षुखत्वेनोपधानं सुपपाद्यते। “तस्मादिति। यत एवम्, तस्मात् कारणात् ‘पुरस्तात्’ सुखे प्राणवायुः प्रत्यङ्मुखत्वेन ‘धीयते’ ध्रियते।

कूर्मस्य प्राणात्मकत्वादिरण्यपुरुषाभिमुख्येन तस्योपधाने

\* पा० २. ३. ६२ सु० १ वा०।

† पुरस्तात् १का० १प्र० १त्रा० २०का० (१भा० ६८०) दृश्यम्।

‡ पा० छ० १. ४. ४६।

पुरुषस्य यजमानरूपत्वाद् यजमाने प्राणनिधानं भवत्याह—  
 “पुरुष मभ्यावृत्त मिति । कूर्मस्य प्राणत्वादषाढायाः वाक्कात्  
 तस्य दक्षिणत उपधानं युज्यत इति दर्शयति — “दक्षिणत इति ।  
 स्त्रीत्वसामान्यादषाढायाः वागात्मकत्वम् । ‘प्राणः’ ‘वाचः’ ‘वृषा’  
 पतिः खलु ; प्राणोपजीवनेन वाचः प्रवृत्तेः । अतः प्राणो  
 वागित्युभय मपि ‘मिथुनम्’ । एवञ्च वागात्मिकाया अषाढाया  
 दक्षिणभागे प्राणात्मकस्य कूर्मस्योपधानं सुपपन्न मित्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ तदुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे— “अपां गन्ध-  
 न्नित्यादिना \* । “यत्रेति । ‘यत्र’ स्थाने ‘एषः’ सूर्यः ‘एतत्’ तपनं  
 करोति, ‘एतत्’ खलु ‘अपां’ ‘गन्धिष्ठं’ गन्धीरतमम् , ऋद इत्यर्थः ।  
 सूर्यस्य वृष्टिहेतुत्वात् तस्यावस्थानप्रदेशस्य ऋदत्त्वं सुच्यते ।  
 ततश्च कूर्मस्यापा मन्तरेणावस्थानाद् ‘अपां गन्धन्’ सूर्यावस्थान-  
 समीपदेशलक्षणे अपां ऋदे ‘सौद’ उपविशेति मन्त्र आह ।  
 “गन्धन्निति । गन्धीरशब्दस्य छान्दसो गन्धन्नादेशः †, तत  
 उत्तरस्याः सप्तम्याः “सुपां सुलुक्”—इत्यादिना ‡ लुकि रूपम् ।  
 “गन्धिष्ठ मिति । गन्धन्-शब्दादतिशायने इष्ठनि कृते §, “टेः”—  
 इति ॥ टिलोपे कृते, रूपम् । “मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्  
 मान्निर्वैश्वानरः”—इत्यत्राभिताप्सीदित्येतत्पदार्थं माह— “मैव

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २८ ।

† “समुद्र इव वासि गच्छना”—इति तै० ब्रा० ७. ७. ६ ।

‡ पा० सू० ७. १. ३६ ।

§ पा० सू० ५. ३. ५५ ।

॥ पा० सू० ६. ४. १४३ ।

त्वेति । ‘अच्छिन्नपत्राः’-इति । पत्रशब्देनात्रावयवो लक्ष्यते ,  
तेनात्राच्छिन्नावयवो इत्ययं मर्थः स्यात् । ‘या इमाः’  
उपहिताः ‘इष्टकाः’, ‘ताः’ इमा एव ‘सर्वाः प्रजाः’ खलु ।  
इष्टकानां प्रजापत्यात्मकत्वेन , प्रजापतेश्च सर्वप्रजाकारणत्वेन ,  
तदात्मकत्वादित्यर्थः । रिष्ट-शब्देनानिष्टं व्याधिप्रभृतिकं मुच्यते ,  
तद्रहिता अरिष्टाः ; तस्यैव विवरणम्—‘अनार्त्ताः’-इति ।  
तथा सति अच्छिन्नपत्राः प्रजाः ‘अनुवीक्षस्व’-इत्यनेन एत-  
दुपहितेष्टकारूपाः प्रजाः , यथा ‘अरिष्टा अनार्त्ताः’ भवन्ति .  
तथा ताः ‘अनुवीक्षस्व’ अनुपालयेत्येतदुक्तम् भवतीत्यर्थः ।  
“यथैवैनं मिति । ‘एनं’ कूर्मं मनुलक्ष्य , ‘यथैव’ ‘दिव्या वृष्टिः’  
सम्बन्धीयात् , ‘एवम्’ अनेनाभिप्रायेण ‘एतत्’ अनुत्वेत्यादिकम्  
आह ॥

“अपाङ्गभन्”, “नीन्समुद्रान्”, “मही द्यौः”-इति \* त्रिभिः  
सन्धैः अयं कूर्म उपधीयते । तत्र मध्यमेन तं चालयन्नुपदध्यात् ।  
अत एव कात्यायनः— “अपाङ्गभन्निति तिसृभिर्घट्टयति मध्य-  
मया”-इति † ॥ ८ ॥

तदेतद्दर्शयन्नाचष्टे — “अथेति । ‘एजयति’ कम्पयति ।  
“एजृ कम्पने”-इति ‡ धातुः । “इमे इति । ये ‘इमे त्रयः’  
‘समुद्राः’ समुद्रवन्ति समुद्रच्छन्तीति समुद्रा लोकाः § ।

\* वा० सं० १३. ३०, ३१, ३२ ।

† का० औ० सू० १७. ५. १, २ ।

‡ भ्वा० ण० २३४ घा० ।

§ निरु० २. ३. १ द्रष्टव्यम् ।

‘स्वर्गाः’ सुखहेतुभूताः । ‘तान्’ ‘एषः’ प्रजापतिः ‘कूर्मीं भूत्वा अनुसंसर्प’ ; प्रजापतेर्लोकत्रयात्मकत्वात् \* । “स एष इमे एव लोका इत्यादिना † कूर्मस्य लोकत्रयात्मकत्वाभिधानात्, प्रजापतिः कूर्मरूपेण लोकाननुसंसर्पेति ।

अथ मन्त्राभिसन्धिः, — अपाम्पतित्वं कूर्मस्य ; तत्रैव सर्वदा-  
वस्थानात् । वृषभशब्देन श्रेष्ठं लक्ष्यते, तच्च लोकत्रयात्मकत्वादिना  
द्रष्टव्यम् । अथ वा इष्टकात्मनां स्त्रीणां ‘वृषभः’ पुमान् । पुरीष-  
शब्देन पशवोऽभिधीयन्ते, तान् ‘वसानः’ आच्छादयन्, यज-  
मानस्य सम्पादयन्नित्यर्थः । अथ वा इष्टकारूपान् पशून्  
आच्छादयन्निति । पूर्वं सुपहिताः कूर्माः ‘एतेन’ उपधानलक्ष-  
णेन कर्मणा ‘यत्र’ ‘परेताः’ मृताः प्राप्नुवन्, तत्र गच्छेत्ये-  
तदुक्तं भवति ॥ ८ ॥

“मही क्षीरिति ‡, अत्र महीपदस्य विवक्षितं मर्थं माह—  
“महतीति । द्वितीयपादे ‘मिमिक्षताम्’-इत्यस्यावन मर्थ इति  
दर्शयति— “इमं यज्ञं भवता मित्येतदिति । अनेकार्थत्वाद्वा-  
तूनां मिमिक्षतिरत्नावने वर्त्तते । तृतीयपादे ‘पिपृताम्’-इत्य-  
स्यार्थं माह— “विभृता मिति ॥

मन्त्रार्थस्तु,— हे कूर्म ! त्वं मया गन्धोदरे देशे उप-  
विश, तत्र सोदन्तं त्वां सूर्यो मा अभितपतु, ‘वैश्वानरः’  
सर्वेषां सुदरस्थः सर्वात्मा च सर्वज्ञः अग्निरपि मा अभितपतु ।

\* वा० सं० १३. ३१ ।

† पुरस्तादिहैव द्वितीया कण्ठौ द्रष्टव्या ।

‡ वा० सं० १३. ३२ ।

तथाविधस्त्व मनवस्त्रुण्डितावयवा इष्टकारूपाः प्रजाः अनु-  
वीक्षस्व । 'त्वा' त्वां 'दिव्या दृष्टिः' चानुसम्बन्धीयता मिति  
प्रथमस्यार्थः \* ॥

हे कूर्म ! त्वं 'त्रीन्' सुखहेतुभूतान् लोकान् 'समस्पृष्ट'  
संस्पृष्टोऽसि । व्यत्ययेन तिवादेशः , लृदित्वात् च्चेरडादेशः † ।  
यतः स त्वम् 'अपाम्यतिः', 'इष्टकानां' च 'वृषभः', अतस्त्वां  
ब्रवामि— 'पुरीषम्' इष्टकारूपान् पशून् 'वसानः' आच्छादयन् ,  
'सुकृतस्य' सुष्ठु सम्पादितस्याग्नेः 'लोके' स्थाने स्थित्वा , 'तत्र'  
गच्छ', एतेन कर्मणा 'पूर्वं' कूर्माः 'यत्र' 'परेताः' परागताः,  
सन्नतिं प्राप्नुवन्निति द्वितीयस्यार्थः ‡ ॥

"मही द्यौरिति मन्त्रस्तु प्रागेव व्याख्यातः § । अन्तिम-  
मन्त्रस्य द्यावापृथिव्यत्वं प्रशंसति— "द्यावापृथिव्य इति ।  
"तस्य यदधरं कपाल मयं स लोकः"—इत्यादिना ॥ कूर्मस्या-  
धस्तनोपरितनयोः कपालयोर्द्यावापृथिवीरूपत्वस्योक्तत्वात् 'कूर्मो

\* अस्य पाठस्त्वैवम्—

"अपाङ्गमनसीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्तीष्माग्निर्वैश्वानरः । अच्छिन्न-  
प्रजाः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिवा दृष्टिः सचताम्"—इति ।

† पा० स० ३. १. ५५ ।

‡ अस्य पाठस्त्वैवम्—

"त्रीन्समुद्राग्नमस्पृष्ट स्वर्गानपाम्यतिवृषभ इष्टकानाम् । पुरीषं  
वसानः सुकृतस्य लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परेताः"—इति ।

§ ३४६ पृ० १३ पङ्क्तितो द्रष्टव्यम् ।

॥ पुरस्तादिष्टेव ३२५ पृ० २१ पं० द्रष्टव्यम् ।

द्यावापृथिव्यः’ ; अतस्तदुपधाने उत्तमाया ऋचो द्यावापृथिव्यत्वं प्रशस्त मिति यावत् । द्यावापृथिव्यशब्दस्तु “द्यावापृथिवीशुना-  
सीरेत्यादिसूत्रेण \* देवतार्थे यत्प्रत्ययान्तः ॥ १० ॥

उपधानमन्त्राणां त्रित्वसङ्ख्या मनूय प्रशंसति— “त्रिभि-  
रिति । ‘इमे’ पृथिव्यादयो ‘लोकाः त्रयः’ ; कूर्मश्च लोकतया-  
त्मकः ; ततश्च तदुपधानं त्रिभिर्मन्त्रैः सम्पाद्यते । अपि च  
अग्निस्त्रिहत्स्वोमात्मकः ; अग्नेस्त्रिहत्स्व मेकस्मादेव संहोत्पत्तेः ।  
तथा च श्रूयते— “स सुखतस्त्रिहत्वं निरमिमौत , त मग्नि-  
र्देवतान्वसृज्यतेति † । आहवनीयादिभेदेन वा अग्नेस्त्रिहत्स्वम् ।  
अथवा षष्ठकाण्डे रुद्रादिनवनामधेयाभिधेयत्वादग्नेस्त्रिहत्स्व सु-  
क्तम् ‡ । तथा सति अत्रोपधानमन्त्राणां त्रित्वात् ‘अग्निः’ ‘यावान्’  
यत्परिमाणविशिष्टः , ‘अस्य’ च ‘मात्रा’ अवयवः ‘यावती’  
यत्परिमाणविशिष्टा , ‘तावता’ तत्परिमाणविशिष्टेन रूपेण  
‘एतदुपधानं’ सम्पादितम् भवति ।

अभ्यञ्जनमन्त्राणां उपधानमन्त्राणां च सङ्ख्याः सम्भूय  
प्रशंसति— “त्रिभिरभ्यनक्तीति । ‘तत्’ तथा सति ‘षट्’ सङ्ख्या  
सम्पाद्यते । तत्सङ्ख्यासम्पादनस्य तु प्रशंसारूपं व्याख्यानम् “षट्  
वा ऋतवः”—इत्यादिना § प्रागुक्त मित्यर्थः ।

कूर्मस्याधस्तादुपरिष्ठाच्चावकाः स्थापयेदित्याह— “अवका

\* पा० ख० ४. २. ३२ ।

† तं सं० ७. १. १. ४ ।

‡ पूर्वस्मिन् काण्डे १. ३. १०—१८ ( ३ भा० १७—२० पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ पुरस्तादिष्वेव २. ३. ३५ द्रष्टव्यम् ।

इति \* । ‘अवका’ शैबालम् । अवकास्थापनं किमर्थं मित्यत आह— “आपो वा इति । ‘अवकाः’ अप्सु जायन्त इति कार्य-कारणभेदाविवक्षया आपोऽप्यवकाः । अतश्चैतनावकास्थापनेन ‘अपा मेव मध्यतः’ ‘एनं’ कूर्मं निहितवान् भवति । “साद-यित्वेत्यादिकन्तु प्रागेव व्याख्यातम् ॥ ११ ॥

कूर्मोपधानानन्तरम् उलूखलमुसलयोरुपधानं विधत्ते— “अथेति । विहितं मुलूखलमुसलयोरुपधानं मन्नादनसाधनतया प्रशंसति— “विष्णुरित्यादिना । ‘येन’ ‘रूपेण’ प्रकारेण ‘यत् कर्म कृत्वा विष्णुरन्नादोऽभवत्’, ‘तेन’ प्रकारेण ‘तत् कर्म कृत्वा’ अहं मपि ‘अन्नादोऽसानोति’ अभिप्रायेण ‘यजमान उलूखलमुसले उपदधाति’ यतः, अतो यथैव विष्णुरभूत्, ‘तथैव’ ‘एतत्’ एतेन यजमानोऽप्यन्नादो भवतीत्यर्थः ।

अन्नादनसाधनता कथं मनयोरिति तदुपपादयति— “तदे-तदिति । यतः ‘उलूखलमुसलाभ्यां मन्नं क्रियते’; ताभ्यां ब्रौह्मादीनां वितुषीकरणात्, वितुषीकृतानां मेवान्नत्वात्, ‘अन्नं मप्युलूखलमुसलाभ्यां क्रियते’ । अतश्च ‘उलूखलमुसले’-इति यदेतत् कृत्स्नं मन्नम्; तथा सति अन्नादनसाधनतानयो-रुपपद्यत इति भावः ॥ १२ ॥

अनयोः स्थानविशेषं विधाय स्तौति— “ते इति । रेतस्त्रिचा-विति, इष्टकाविशेषौ प्राग्विहितौ † । तयोः ‘वेलया’ प्रान्तेन । सप्तम्यर्थे द्वितीया । अत एव कात्यायनः,— “रेतस्त्रिचोर्वेलाया

\* का० श्रौ० सू० १७. ४. २७ ।

† पुरस्तात् १. १. २२ द्रष्टव्यम् ।



मरन्निमात्रमुतेरिति \* । तत्रैते उपदध्यात् । यतो 'रित-  
स्मिचौ' 'पृष्टयः' । पृष्टिशब्देन कटिपार्श्वस्यास्थिविशेषावुच्येते ।  
अवयवापेक्षया च बहुत्वम् । रेतस्त्रेचनसाधनत्वसामान्यात्  
रेतस्मिचोः पृष्टिरूपता । शरीरमध्येऽवस्थानात् पृष्टयो मध्यं  
हि ; अतश्च तत्रान्ते अनयोरुपधानात् मध्यभागे एवास्मिन्  
प्रजापतौ चोयमानाग्निरूपे 'एतत् अन्नं' निहितवान् भवति ।

दिगन्तरेऽपि रेतस्मिवोरुपधानं सम्भवेदित्यत आह—  
“उत्तर इति । स्वयमादृश्याया उत्तरप्रदेशेऽपि । प्रमाणविशेष  
माह— “अरन्निमात्रे इति । लोके हि अरन्निमात्रप्रदेशादन्न  
मादायाभ्यवह्रियते ; अतश्चान्नरूपयोरनयोरुपधानं तावति प्रदेशे  
कर्त्तव्यम् । “उलूखलमुसले स्वयमादृश्या सुत्तरेणारन्निमात्रे”—  
इति हि सूत्रम् † ॥ १३ ॥

प्रकृते उलूखलमुसले प्रादेशमात्रे कर्त्तव्ये इत्याह—  
“प्रादेशमात्रे भवत इति ‡ । परिमाणविशेषोपादाने कारण  
माह— “प्रादेशमात्रो वा इति । 'विष्णुः' यज्ञः , चोयमानाग्नि-  
रूपः । इदानीं मनिष्यन्नत्वेन गर्भः खलु ; अतोऽयं प्रादेशमात्रः ;  
लोके गर्भाणां तावत्-प्रमाणत्वात् । उलूखलमुसलं चान्नम् ;  
तदेतत् सर्वं मन्नं मिल्युक्तत्वात् । ततश्च 'अस्मिन्' गर्भरूपे  
विष्णौ एतेनात्मसदृशप्रमाणं मेव 'अन्नं' दधाति ।

\* “उलूखलस्य रेतस्मिग्वेलाया मरन्निमात्रमुतेः”—इति सुहित-  
पाठः का० श्रौ० सू० १७. ४. २१ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ३६ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. ३६ ।

अत्रस्यात्मानुरूपप्रमाणपरिग्रहे को लाभः ? तदतिक्रमे वा कः ? इत्यत आह—“यदु वा इत्यादि । ‘आत्मसम्मित मन्त्रम्’ आत्मानं रक्षति, न तु हन्ति । यत्तु ततोऽधिकं न्यूनं वा ‘तत्’ तथा न करोति । अल्पस्य बलाङ्गयोषानाधायकत्वाद्, अधिकस्य च दुर्ज-रत्वेन पोडाकरत्वादित्यर्थः । “हिनस्तीति, ‘हिसि हिंसायाम्”—इत्यस्य\* रौधादिकस्य तिपि अस्मि “आत्मलोपः”—इति † नकार-लोपे रूपम् । अल्पशब्दादीयसुनि “युवाल्पयोः”—इत्यादिना कन्ना-देशे ‡ कनीय इति भवति ॥ १४ ॥

अनयोर्वृक्षविशेषं विधाय स्तौति—“अदुम्बरे भवत इति । ‘अदुम्बरे’ उदुम्बरविकारे, ततो निष्पन्ने भवतः । “बिल्वा-दित्वाङ्कारे § अण् प्रत्ययः । ‘उदुम्बर ऊर्क’, ‘बलकरो रसः’ खलु । उदुम्बरस्य ऊर्गपत्वं तैत्तिरीयके श्रूयते—“देवा वा ऊर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति ॥ । तथा चैतेन ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ ‘ऊर्जं मेव रसं निदधाति । सर्ववनस्पतीना सुपधान-सिद्ध्यर्थं मुदुम्बरस्य सर्ववनस्पतिरूपता माह—“अथो सर्व एत इति । ‘एते’ उलूखलमुसले ‘उपदधद्’ उपदधानः ‘सर्वान् वनस्पतीन् उपहितवान् भवति ॥

रेतस्मिन्नेलाया सुपधानेन व्यावाष्टिव्योर्वनस्पत्युपधानं प्रति-

\* रु० प० १८ धा० ।

† पा० सु० ६. ४. २३ ।

‡ पा० सू० ५. ३. ६४ ।

§ पा० सु० ४. ३. १३६ ।

॥ तै० ब्रा० १. १. ३. १० ।

पादयति— “रितस्त्रिचोर्वे” लयेति । ‘इमे’ द्यावापृथिव्यौ खलु  
‘रितस्त्रिचो’ इष्टके । ‘तत्’ तेन ‘अनयोः’ द्यावापृथिव्योः ‘वनस्पतीन्’  
उपहितवान् भवति । ‘तस्माद्’ हेतोर्द्यावापृथिव्योः ‘वनस्पतयः’  
सन्तीति शेषः ॥

उलूखलस्य चतुष्कोणत्वाभिधानेन सर्वदिक्षु वनस्पत्यु-  
पधान माह— “चतुःस्त्रतीति । चतस्रः स्त्रतयः कोणा यस्य,  
तदिदं चतुःस्त्रति । यथा ‘मध्मे सङ्गृहीतम्’ मध्यप्रदेशे सङ्गु-  
हितम् । किमर्थम् ? ‘उलूखलरूपतायै’ एवं रूपं हि लोके  
प्रसिद्धं मुलूखलम् । एतस्मादेव च वाक्यशेषादुलूखलं मेव चतुः-  
स्त्रति मध्यसङ्गृहीतञ्च भवति, न सुसलम् । तथा च वक्ष्यते—  
“तद् वृत्तं भिव भवतीति \* ॥ १५ ॥

अथ विश्लिष्टावयवस्य प्रजापतेः प्राणं मन्त्रं मूर्ध्नि मस्त्रिभङ्गी  
प्रतिनिधातुं मितिहास माह— “यदेवेति । ‘मध्यतः’ मध्यप्रदेशात्  
‘प्राणः’ अशेषवृत्तिर्वायुः ‘उदचिक्रमिषत्’ उत्क्रमितुं मैच्छत् । ‘तं’  
प्राणं मुत्क्रमितुं मिच्छन्तम् ‘अन्नेन’ अदनीयेन ‘अगृह्णात्’ गृहीत-  
वान्, प्रजापतिरिति शेषः । ‘तस्मात्’ कारणात् ‘प्राणोऽन्नेन’  
गृहीतः । उक्तं मेवार्थं प्रसिद्धया दृढयति— “यो ह्येवेति ।  
‘यो हि’ अन्ता ‘अन्नम्’ अदनीयम् ‘अस्ति’ भक्षयति, ‘सः’  
‘प्राप्नोति’ चेष्टते ॥ १६ ॥

सिद्धे प्राणग्रहणे अन्नस्योत्क्रमणेच्छा माह— “प्राणे गृहीत  
इति । ‘अस्मात्’ प्रजापतेः ‘अन्नं’ कर्तुं उत्क्रमितुं मैच्छत् ।

‘तत्’ अन्नं ‘प्राणेन’ साधनेन ‘अगृह्णात्’ प्रजापतिः । तस्मादि-  
त्यादि पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १७ ॥

“एतयोरिति । ‘एतयोरुभयोः’ प्राणाश्चयोर्वशीकृतयोः ‘जर्क्’  
बलम् ‘उदचिक्रमिषत्’ । “जर्ज् बलप्राणनयोरिति \* धातुः ।  
जर्जयति बलयतीत्यूर्क् बलम् ; यदा बलहेतुरवरसोऽपि जर्जि-  
त्यभिधीयते । ‘ताम्’ जर्जम् ‘एताभ्या सुभाभ्यां’ प्राणाश्चाभ्याम्  
‘अगृह्णात्’ प्रजापतिः । ‘तस्मात्’ अन्नप्राणाभ्यां सा ‘जर्क्’  
‘गृहीता’ वशीकृता । “यो ह्येवेत्यादि , पूर्ववद् व्याख्येयम् । “त  
मूर्जयतीति । ‘तम्’ अक्षरम् पुरुषम् ‘जर्जयति’ बलयति , भुक्त  
मन्नं कर्तुं इति शेषः ॥ १८ ॥

“जर्जीति । जर्क् ग्रहणानन्तरं सुचिक्रमिषन्तावन्नप्राणी ‘जर्जा’  
अगृह्णात् । “यं हीति । जर्क् बलं य मेव ‘जर्जयति’ बलयति  
‘सः’ ‘प्राणिति’ चेष्टते , ‘सोऽन्नं मत्ति’ च ॥ १९ ॥

“तान्येतानोति । यतस्तावत् ‘तानि’ सर्वाणि अन्योऽन्येन ‘गृही-  
तानि’ , ततः ‘तान्यन्योऽन्येन’ ‘गृहीत्वा’ प्रजापतिः आत्मनि ‘प्रापा-  
दयत्’ प्रापयत् । ‘आत्मन्’-इति , “सुपां सुलुगित्यादिना † सप्तम्या  
लुक् । यत् ‘इदं सर्वम्’ इन्द्रियजातम् ‘अन्नजीवनम्’ । अन्नमेव  
जीवनं यस्य तदन्नजीवनम् ; तदभावे सर्वेषां स्वस्वव्यापारा-  
समर्थत्वात् । अतोऽस्मिन् प्रजापतौ प्रपद्यमानं मन्नं ‘सर्वे देवाः’  
इन्द्रियाणि प्रपन्नान्यभूवन् ॥ २० ॥

\* सु० प० १६ धा० ।

† पा० नृ० ३. १. ३३ ।

उक्तेऽर्थे कश्चिन् मन्त्रं संवादयति — “तदेव इति । ‘तत्’ तत्रार्थे ‘एवः’ वक्ष्यमाणः ‘श्लोकः’ मन्त्रोऽभ्युक्तः । मन्त्रः —

“तच्चै स प्राणोऽभवत्तद्वा भूत्वा प्रजापतिः ।

भुजो भुजिष्या विस्त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि” — इति ॥

त मेतं मन्त्रं पादशो विभज्य व्याचष्टे — “तद् वा इति । ‘तत्’ तच्च तदा अन्नलाभाय \* ‘सः’ वै खलु ‘प्राणोऽभवत्’ । प्राणशब्देन इन्द्रियाण्युच्यन्ते, ततश्च सेन्द्रियोऽभूदित्यर्थः । “महान् भूत्वेति । यदा ‘एनं’ प्रजापतिम् ‘एते देवाः’ इन्द्रियाणि ‘प्रापद्यन्त’, तदा ‘स महान् अभूत्’ खलु । “भुजो भुजिष्या विस्त्वेति । भोगसाधनत्वेन ‘भुजः’ प्राणा उच्यन्ते । ‘भुजिष्या’-शब्देन भोग्यत्वादन्नम् । तदेतत् सर्वं ‘विस्त्वा’ लब्धेत्येतदुक्तं भवति । “यत् प्राणानिति । ‘पुरि’ आत्मनि शरीरे ‘प्राणान्’ ‘प्राणयत्’ स्वस्वव्यापार-समर्थानकरोत् । यत एव प्राणयत्, ‘तस्मात्’ देवाः’ इन्द्रियाणि प्राप्यन्त इति † ( प्राणा इति ) व्युत्पत्त्या प्राणाः अभूवन् । अथ ‘प्रजापतिः’ तान् प्राणयदिति यत्, तस्मात् प्रजापतिरपि प्राणोऽभूत् । अत्र प्राणप्रयोजकत्वात् प्रजापतिः प्राणत्वमुक्तम् । एतावता तदेतदन्नं प्रपद्यमानं सर्वे देवा अमुप्रापद्यन्त अन्नजीवनं हीदं सर्वं मित्ययमर्थः संवादप्रदर्शनेनोपपादितो भवति ॥

प्रजापतेर्विस्वस्तादित्याद्युपक्रमेण प्रकृते किं मायात मित्वत आह — “यो वा इत्यादि । ‘सः’ पूर्वोक्तः प्रजापतिसम्बन्धी

\* ‘अन्नलाभावसरेषु’ — इति ज-पाठः ।

† नेतुं प्रदद्य मस्ति ज-पुस्तकादन्यत्र ।

यः प्राणोऽस्ति, 'सेवा गायत्री' विष्णोः कर्माणीत्यत्र \* यद् गायत्र्यात्मकं हृन्दः, स प्राण एतदित्यर्थः । प्रकृतोपधानमन्त्र-  
रुक्तिहितत्वादेवेति परामृश्यते—“सैवेति । लिङ्गं विधेयापेक्षम् ।  
उत्तरत्राख्येवं द्रष्टव्यम् । प्राणो वृत्तिभेदेन त्रिधा भिद्यते, गाय-  
त्र्यापि पादभेदेन ; अतः सादृश्यात् † 'प्राणो गायत्री'-इत्युक्तम् ।  
'अथ' 'यत्' प्रजापतिसम्बन्धि 'अन्नम्' अस्ति, 'स एष विष्णु-  
देवता' विष्णुरिति यन्नोऽभिधीयते ; भोगसाधनत्वसामान्या-  
दन्नस्य विष्णुरूपत्वम् । 'अथ' 'या सा ऊर्कः', 'स एष उदु-  
म्बरः' । उदुम्बरस्य बलकररसत्वादूर्गात्मकत्वम् ॥ २१ ॥

उदुम्बरोलूखलशब्दौ निर्वृत्ति— “सोऽब्रवीदिति । 'सर्वस्मात्'  
'पाम्नः' कृच्छात् 'मा' माम् 'अयं' हि 'उदभार्षीत्' उद्धृतवान्  
'इति' 'सः' प्रजापतिः 'अब्रवीत्' । कृच्छादुद्धरणस्याऽन्नप्राणयो-  
रवरोधकत्वात् ; अतश्चोदभार्षीत्वा मिति यदब्रवीत्, 'तस्मात्'  
ऊर्कः 'उदुम्बरः' अभूत् । अत एव सुक्तत्वादयः सुदुम्बरः । त  
मेव देवाः 'उदुम्बर इति परोक्ष माचक्षते' । पारोक्ष्येणाभिधानं  
गौरवाय कल्प्यत इति देवानां परोक्षकामत्वम् ।

तथा 'मे' 'उक्' अधिकम् 'अकरत्' अकार्षीदिति यद्-  
ब्रवीत्, 'तस्मात्' उक्करम्, त मेव देवाः 'उलूखल मिति  
परोक्ष माचक्षते' । उदुम्बरस्योर्गात्मकत्वात्, उलूखलस्य च  
औदुम्बरत्वात् उक्करणं पाम्न उदभार्षीदित्युक्तं च सम्पद्यते ।

\* 'कर्माणीत्यर्थः'—इति ज-पाठः ।

† 'एतत्सादृश्यात्'—इति ज-पाठः ।

उदुम्बरोलूखलशब्दौ पृषोदरादित्वाद् \* भवतेः करोतिश्च व्युत्पादनीयौ । ‘अकारत्’-इति, “ऊमृदृक्कृद्भ्यश्चन्द्रसीति चुरङादेशः†, “ऋट्प्रोऽङि गुणः” ‡ । प्रकृतं सुलूखलं शिरोरूपेण प्रशंसति — “सैषेत्यादिना । शिरः ‘सर्वेषां’ ‘प्राणानाम्’ इन्द्रियाणां ‘योनिः’ खलु ; सुखस्यापि शिरःप्रदेशत्वात् तत्रैव सर्वेन्द्रियाणां मृत्युतिः, तथा सति उलूखलं मिति यत्, सैषापि सर्वेषां ‘प्राणानां योनिः’ भवति ॥ २२ ॥

उलूखलस्य शिरस्त्राधर्म्यसम्पादनादेतदुपपद्यत § इत्येतत् प्रदर्शयते — “तदिति । ‘तत्’ उलूखलं ‘प्रादेशमात्रम्’ ‘चतुःस्त्रक्ति’ ‘मध्ये’ च ‘सङ्गृहीतं’ तनूकुतं ‘भवति’, शिरोऽपि तथैवेति सर्वप्राणियोनित्वं सुलूखलस्योपपद्यत इत्यर्थः ॥ २२ ॥

उपसंहरति — “तं यच्च देवा इति । ‘यत्र’ यदा ‘देवाः’ ‘तं’ प्रजापतिं संस्कृतवन्तः, तदैतस्मिन् ‘प्राणं मत्र मूर्जम्’-इत्येतत् सर्वं मध्यप्रदेशे निहितवन्तः ; तस्मात् ‘तथैव’ ‘अयं’ यजमानोऽपि अनेनोपधानेनैतत् सर्वं सम्पादयति । रेतस्मिचोः पृष्टिरूपेण मध्यत्वात् तत्समोपदेशे उपधाने देवा यथा मध्यतोऽदधुः, तथैव ‘अस्मिन् मध्यत एव’ ‘सर्वं’ निदधाति ॥ २४ ॥

विहिते उलूखलमुसलयोरुपधाने मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे — “विष्णोः कर्माणाति ॥ । कर्मशब्देन वीर्यं विवक्ष्यते । अतश्च हे

\* पा० सू० ६. ३. १०६ ।

† पा० सू० ३. १. ५६ ।

‡ पा० सू० ७. ४. १६ ।

§ ‘सम्पादनं तु उपपाद्यत’-इति ज-पाठः ।

॥ वा० खं० १३. ३३ ।

जनाः ! 'विश्वोः' यज्ञस्य 'कर्माणि' वीर्याणि 'पश्यत' इत्येतत्  
उक्तं भवति । "यत इति । 'यतः' वीर्यतः 'व्रत'-शब्देनात्र  
मुच्यते । 'व्रतानि' अन्नानि 'पश्ये' स्थाशयाच्चक्रे, स्पर्शयमानश्च  
स्वजनैर्लभयामासेत्यर्थः । "स्यश्च बाधनस्पर्शनयोः"-इति \* धातुः ।  
"इन्द्रस्येति । 'एषः' यज्ञः 'इन्द्रस्य' 'युज्यः' योग्यः 'सखा हि'  
तस्य दृढिहेतुत्वात् । अत इन्द्रस्य युज्यः सखेत्युक्तं मित्यर्थः ॥

उलूखलमुसलयोर्द्वित्वात् तदुपधानमन्त्रस्य द्विदेवत्वत्वं सुप-  
पन्न मिति दर्शयति — "द्विदेवत्वयेति । उलूखलमुसलयोः  
सादनं पृथगेव कर्त्तव्यं मित्यत आह — "सक्तदिति ।  
यतः 'एतत्' उलूखलं मुसलञ्च अन्नरूपेण 'समानं मेव', अतः  
सादनं मपि सक्तदेव कर्त्तव्यं मिति । अनेनैव लिङ्गेनोपधान-  
मन्त्रस्यावृत्तिर्ज्ञाप्यते ; यदि युगपदुपधानं स्यात्, सक्तत् सादन-  
ञ्चोच्येतेति । उत्तरवाक्यं व्याख्यातम् । अत्र कात्यायनः —  
"उलूखलमुसले स्वयमादृशा मुत्तरेणारत्रिमात्रं ऋदुस्वरे प्रादेश-  
मात्रे चतुरस्रं मुलूखलं मध्यसङ्गृहीतं मूर्ध्वं वृत्तं मुसलं दक्षिण  
मुलूखलादिशोः कर्माणीति † ॥ २५ ॥

उलूखलमुसलोपधानानन्तरं मुखाया उपधानं विधत्ते —  
"अथेति ‡ । इष्टकाचितिषु विधास्यमानस्यान्मरुखायां भृत्योत्पा-  
दनात् उखायाः योनित्वेन § तदुपधाने योनेरेवोपधानं भवती-

\* ३ ब्रा० उ० ८८७ धा० ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ३ ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

§ 'उखायोनित्वेन'—इति ज-पाठः ।



त्वाह— “योनिर्वा इति । विहितं सुपधानं सुलूखले कर्त्तव्यं  
 मित्याह— “ता मिति । तन्नोपधानं प्रशंसति— “अन्तरि-  
 रिक्तं वा इति । ‘यत्’ किं मपि वलु, ‘अस्याः’ पृथिव्याः ‘जर्द्धम्’  
 उपरि अवस्थितम्, तत् सर्वम् ‘अन्तरिक्षं मेव’ ; ‘अन्तरिक्षं’ च  
 द्यावापृथिव्योः अन्तराले अवस्थानात् ‘मध्यं हि’ ; तत्तत्तलू-  
 खलस्यापि पृथिव्या उपर्यवस्थानेन मध्यभूतान्तरिक्षात्मक-  
 त्वात् तन्नोपधाने मध्यभागे एव योनिरुपधानं भवति ।  
 ‘मध्यतः’—इति, सार्वविभक्तिकस्तसीति \* सप्तम्यर्थे तसिः ।  
 दृष्टानुसारेणोक्तं मर्थं प्रमाणयति— “तस्मादिति । ‘वनस्पतीना  
 मपि’ बीजानां मध्यभागं भित्तोपन्नत्वात् † ‘मध्यतो योनिः’  
 इत्यर्थः ॥ २६ ॥

अयोखायाः प्रजापत्यात्मकत्वेनोलूखले उपधानं प्रशं-  
 सति— “यद्देवोखा मिति । “स इति । प्रजासर्जनेनावयव-  
 विस्लेषदशापन्नः परासृश्यते—‘सः यः’ । ‘सः’ प्रजापतिः ‘व्यस्रंसत’  
 विस्त्रस्तावयवोऽभूत् । ‘सा उखा’ । सेति स्त्रीलिङ्गं सुधापेक्षया ।  
 अतः प्रजापतेरेतन्नोक्तत्वात् ‘एषा’ ‘उखा’ अपि, ‘इमे’  
 पृथिव्यादयो ‘लोकाः’ । तथा सति प्रजापत्यात्मिकाया उखाया  
 उलूखले उपधानेन विस्त्रस्ताङ्गं प्रजापतिम् ‘एतस्मिन् सर्व-  
 स्मिन् प्रतिष्ठापयति’ । तदेव प्रदर्शयते— “प्राणेऽन्नं जर्ज्जीति ।  
 उलूखलस्य औदुम्बरत्वेन तस्य चान्नरसात्मकत्वादन्ररसेन च

\* “इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते”—इति पा० सु० ५. ३. १४.१

† ‘मध्यभागत उत्पत्तेः’—इति ज-पाठः ।

प्राणानां धारणात् प्राणात्मकत्वं मनुसन्धेयम् । प्राणात्रोर्जां परस्परं ग्रहणं मुक्तम्, न केवलम् प्रतिष्ठापनमात्रम् ; अपि तु अथर्वधनेन तत्सम्बद्धं मेव कुर्यादित्याह— “अथो इति ॥ २७ ॥

उपशयानामोत्खामेदे सति तत्प्रतिसन्धानार्थं प्रागवशेषिता मन्त्रसंस्कृता सृत् । तां चूर्णीकृत्योखायाः पुरोभागे निदध्यादित्याह— “अथेति । ‘उखां लोक भाजं’ स्थानभाजं उलूखलभाजिनीं कृत्वेत्यर्थः । उखामेदप्रतिसन्धानार्थत्वादुपशयायास्तपुरोभागे अवकाशः, अतस्तत्रोपनिवापेन स्वावकाशस्याप्यवहित्ता भवतीत्याह— “एष हैतस्या इति ॥ २८ ॥

इष्टकोपधानप्रदेशे पक्वानां मेवोपधानात्, उपशयायाः स्वापकत्वात् कथं मत्रोपधानं युज्यत इति याज्ञिकानां जिज्ञासां भवतारयति— “तदाहुरिति । “अस्येति । उपधानप्रदेशावकाशस्येत्यर्थः । श्रुतं मिति पाकविशेषाभिधानात् ‘पक्वा श्रुता’-इति न पुनरुक्तिः । अथवा पाकेन श्रुता सतीत्यर्थः । एतस्योत्तरं हेधा दर्शयति— “यदेवेत्यादिना । ‘एषा’ उपशया नाम । ‘यजुश्कृतेति यत्’, तेन असौ पक्वा श्रुता च भवति । मन्त्रेणाहृतैव सृदुपशया क्रियते, अतश्चास्याः मन्त्रेण निष्पादनादेव पाकसम्पत्तिरित्यर्थः । किञ्च ‘यत्’ किञ्चिदपि वस्तु ‘एनं वैश्वानरं मग्निम्’ इष्टकोपधानस्थलात्मकं प्राप्नोति, ‘तत्’ सर्वं ‘तत एव’ तत्प्राप्तेरेव ‘पक्वं श्रुतं’ सदेव ‘उपहितं भवति’ ॥ २९ ॥

उखोपधाने ध्रुवासीति, इषे राय इति च, द्वौ मन्त्री विद-

धानो व्याचष्टे—“ध्रुवासीत्यादिना \* । “ध्रुवासि धरुणेत्यस्य †  
व्याख्यानम्—“ध्रुवासोति स्थिरासि”—इत्यादिना प्रागुक्तम् ‡ ।  
“एभ्य इति । प्रथमतो यदुखायाः जनित्वा, पश्चात् ‘एतेभ्यो  
योनिभ्यः’ लोकेभ्यः ‘जातवेदा अजायत’, अतस्मान्मर्थम् “इत  
इत्यादिमन्त्रभागो ब्रूते इत्यर्थः । ‘एतैः’ गायत्र्यादिभिः ‘छन्दो-  
भिः’ स हैषोऽग्निः स्वाधिकारं जानन्, ‘हव्यं वहति’ खलु ।  
छन्दसां हविर्वहनं तैत्तिरीयके श्रूयते—“छन्दासि देवेभ्योऽपा-  
क्रामन् वो भागानि हव्यम् वक्ष्याम इति § ॥ ३० ॥

“इषे राय इत्यादिना ॥ इट्प्रभृतिभ्यः सर्वेभ्यो रमस्वेत्ये-  
तदुक्तं भवतीति व्याचष्टे—“एतस्मा इति । यत इय मुखे  
सम्यग्वाजते, स्वय मेव राजते, अतः “सम्नाडसि स्मराडसीति  
मन्त्रभागो ब्रूते—इति व्याचष्टे—“सम्नाडसीति । “सारस्वताविति ।  
‘सरस्वान् मनः’ उच्यते, ‘सरस्वतो च वाक्’, ‘एतौ’ ‘सार-  
स्वतौ’—इति स्वार्थिकोऽण् प्रत्ययः । ‘उत्सौ’ वारिप्रवाहौ, वाक्-  
नसात्मकौ । मनसस्तावत् सर्वशास्त्रार्थपरिज्ञानरसाधारत्वात्,  
वाचश्च तत्रतिपादनरसाधारत्वात्, उत्सत्त्व मनयोः । ‘तौ’  
‘त्वा’ ‘प्रावतां’ पालयतां अभिज्ञानवदनव्यापाराभ्यामित्यर्थः ॥

हे उखे ! त्वं ‘ध्रुवा’ स्थिरा ‘असि’, ‘धरुणा’ धारिणी

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

† वा० अं० १३. ३४ ।

‡ पुरस्तादिहेव २७६ पृ० ७ पं० द्रष्टव्यम् ।

§ ते० सं० ५. १. १. ४ ( ५ भा० १ पृ० ) ।

॥ वा० अं० १३. ३५ ।

च 'असि' । 'जातवेदाः' 'इतः' त्वत्तः सकाशात् 'प्रथमम्' 'अधिजज्ञे' ; पश्चात् 'ऐभ्यः' लोकेभ्यः अधिजातः । 'सः' तथा-  
विधौ जातवेदाः गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिः सह स्वाधिकारं  
'प्रजानन्' 'देवेभ्यः' इविः 'बहत्' धारयतु ॥ (१) किञ्च स्वम्  
'इधे' अनाय , 'राये' धनाय , 'सहसे' बलाय , 'द्युन्ने' द्युषं  
वशः तक्षै , 'जज्जे' पयोदध्याद्युपसेचनाय , 'अपत्याय' पुनार्थञ्च  
'रमस्व' , तत् सर्वं सम्पादयितु मभिरतिं कुरु । त्वं सम्यग्  
राजमानाऽसि ; स्वेनैव राजमानासि त्वाञ्च वाक्मनसरूपौ 'उत्तौ'  
प्रकर्षेण पालयताम् ॥ (२) इति मन्त्रद्वयस्यार्थः \* ।

अत्र कात्यायनः— “उलूखले उखां कृत्वोपशयां पिष्ट्वा  
न्युप्य पुरस्तात् ध्रुवासीत्युखा मिति † । अथ “अथोपशयां  
पिष्टेत्यादिश्रुतिक्रमेणानुष्ठानम् ‡ । उपशयोपनिवापोत्तरकालञ्च  
मन्त्रवचनम् । उपधानमन्त्रयोर्हित्वसङ्ग्राया व्याख्यानं प्राशुक्त  
मित्याह— “हाभ्या मिति । किञ्च अङ्गिरेव सित्तया मृदां  
कृतत्वादुखायां मृदापचेति द्विविधं रूपं मस्ति , अतश्च  
तदुपधानमन्त्रयोर्हित्वमुपपद्यत इत्याह— “अथो इति । उत्तर-  
वाक्यं तु व्याख्यातम् ॥ ३१ ॥

उपधानानन्तरं मुख्याया उपरि होमं विधत्ते— “अथेति § ।  
अभिहोमस्योपयोग आह— “इतदा इति । भिन्नं वाक्यं

\* वा० सं० १३. ३४, ३५ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ४ ।

‡ पुरस्तादिहेवाष्टाविंशौ कण्ठी ( ३३४ ७० ) दृष्टव्या ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ५. ५ ।

मेतत् । 'एतत्' खलु समभूत् । तदेवाह— “अस्या मेतत् पूर्वं  
 रेतस्सिक्तं भवति सिकता इति । पूर्वं मस्या सुखाया मेतद्रेतः  
 सिक्तं भवति । सिकता इत्येतदिति निर्दिष्टप्रदर्शनम् । अन्त्युद्वाप-  
 समनन्तरं मेव ह्युखायाः सिकताभिः पूरितत्वात् तद्रेत एते-  
 नाभिहोमेन ‘अभिकरोति’ अभिवर्धयति । यत एवं ‘तस्मात्’  
 इदानीं ‘योनौ सिक्तं रेतः’ ‘अभिक्रियते’ अवयविरूपेण क्रियते  
 इत्यर्थः । विहितोऽभिहोमः ‘आज्येन’, ‘क्षुवेण’, ‘स्नाहा कारेण’  
 ‘हाभ्या मान्नेयीभ्यां गायत्रीभ्यां’ कर्त्तव्य इत्याह— “आज्ये-  
 नेत्यादिना । आज्यसुवादर्थवादसु प्रागुक्त इत्याह— “तस्योक्तो  
 बन्धुरिति । “हाभ्या मित्यादिना ॥ ३२ ॥

उक्ते ऋची प्रदर्शयन् तयोर्युजिधातुसम्बन्धं प्रशंसति—  
 “अग्ने युष्माहीति \* । ‘युक्तवतीभ्यां’ युजिधातुमतीभ्या मित्यर्थः ।  
 ‘एतत्’ एतेनोपधानमन्त्रयोर्युजिधातुसम्बन्धेन ‘योनौ’ सिक्तं  
 ‘रेतः’ ‘युनक्ति’ नियच्छति । ‘तस्मात्’ इदानीं ‘योनौ’  
 सिक्तं ‘रेतः’ अपत्योत्पादनाहं ‘युक्तं’ सत् ‘न निष्पद्यते’ न निष्प-  
 तति, तत्रैवावतिष्ठत इत्यर्थः ॥

मन्त्रयोरर्थसु— हे ‘अग्ने !’ ‘देव’ दानादिगुणविशिष्ट !  
 ‘तव’ ‘ये’ ‘अश्वासः’ अश्वाः ‘साधवः’ जातिगुणसमन्विताः  
 सन्ति । ‘अश्वासः’-इति “आज्यसेरसुक्” † । तान् ‘युष्मा-  
 हि’ युङ्क्ष्व । “बहुलं छन्दसि”-इति ‡ विकरणस्य लुक्,

\* वा० सं० १३. ३६, ३७ ।

† पा० छ० ७. १. ५० ।

‡ पा० छ० १. ३. ७३ ।

‘द्वाचोऽतस्तिष्ठः’-इति \* दीर्घः । एवं च सति ‘ते’ अस्माः  
‘मन्यवे’ यज्ञार्थम् ‘अरम्’ अलं ‘वहन्ति’ वक्ष्यन्ति । वर्तमान-  
सामीप्ये भविष्यदर्थे सट् ॥ (१)

हे ‘अग्ने !’ ‘देवहृतमान्’ देवानाह्वयन्तीति देवह्रुवः । त्रिव-  
न्तस्य सम्प्रसारणे कृते रूपम् । अतिशयेन देवह्रुवः देवहृत-  
स्यस्तान्मान् ‘नियुङ्क्ष्व’ । क इव ? ‘रथीरिव’ रथिक  
इव । ईकारो मत्वर्थीयः । ‘हि’ यस्मादेवम् , अतः ‘सदः’  
सदसि । विभक्तिव्यत्ययः । ‘पूर्व्यः’ अग्निः , यो होता सन्निषी-  
देदिति शेषः (२) ॥ ३३ ॥

उखाया मग्नेः संवत्सरभरणम् , असंवत्सरभरणं वेति पञ्च-  
हय मस्ति , तत्र प्रथमेऽभिहोम इत्याह — “स यदीति । ‘सः’  
अग्निः ‘यदि’ उखायां व ‘संवत्सरभृतः स्यात्’ , ‘अथ’ एतस्याम्  
‘अभिजुहुयात्’ । संवत्सरस्य सर्वावच्छेदकत्वात् संवत्सरभृतोऽपि  
सर्वात्मकः , अभिहोमश्च सर्वः ; तेन कृत्स्नतायाः सम्पादनात् ।  
अतः संवत्सरभरणपक्षेऽभिहोमो युज्यत इति दर्शयति । असं-  
वत्सरभरणपक्षे किं कर्त्तव्य मिति तत्राह — “अथ यदीति ‡ ।  
असंवत्सरभृतस्य पूर्वोक्तविपर्ययेणासर्वात्मकत्वादुपस्थानस्य चाहो-  
मान्नकत्वेनानुकल्पत्व मिति । असर्वात्मकत्वात् तस्मिन् पक्षे  
तदेतदेव युक्त मित्याह — “असर्वं वा इति । अस्मिन् पक्षे-  
ऽभिहोमं विकल्पेनाह — “अभि त्वेव जुहुयादिति । एवकारो-

\* पा० ख० ६. ३. १३५ ।

‡ पा० ख० ३. ३. १३१ ।

‡ का० श्री० १७. ५. ६ ।

ऽत्र विकल्पयितकः । “उपस्थानं वाऽसंवत्सरभूतिनः”—इति \*  
हि सूत्रम् । संवत्सरभूतिनो होमवन्नियमेन तूपस्थानम् ; इतरस्य  
तु विकल्पः । उपस्थानं होमो वेति सिद्धोऽर्थः ॥ ३४ ॥

अथ वित्याग्नेः स्वयमादृशादिषु त्रयोदशस्त्रिष्टकासु कृत्स्न-  
पञ्चाकारत्वं सम्पादयितुम् ( आह— “पशुरेष यदग्निरिति ।  
“स )† एतान् पञ्च पशून् प्राविशत्, स एते पञ्च पशवो-  
ऽभवत्”—इत्युक्त मग्नेः पञ्चात्मकत्वं । ‘सः’ पञ्चाकारोऽग्निः  
‘अत्रैव’ उक्तान्ते स्वयमादृशादाविष्टकाकलापे ‘सर्वः कृत्स्नः संस्त-  
तः’ । कथं मित्यपेक्षायां तं मिष्टकाकलापं मङ्गलेन सम्पादयति,  
—‘तस्यावाङ् प्राणः’—इत्यादिना । ‘स्वयमादृशा’ इष्टका, तस्य  
पञ्चाकारस्याग्नेः ‘अवाङ् प्राणः’ अपानाख्यः ; पञ्चादुभागस्थिति-  
सामान्यात् । ‘द्वियजुः’ इष्टका, ‘श्रोणो’ कटी ; तदानन्तर्यात् ।  
‘रितस्त्रिचो’ इष्टके, ‘पृष्ठयः’ महान्ति पार्श्वस्थीनि । ‘विश्वन्धोतिः’  
इष्टका, ‘कोकसाः’ ऋक्षपार्श्वस्थीनि । ‘ऋतव्ये’, ‘ककुदं’, गल-  
प्रदेशतः पञ्चात् पृष्ठदेशे अवस्थित उन्नतावयवः । ‘अषाढा’,  
‘शीवाः’ कन्धराः । ‘कूर्मः’, ‘शिरः’ । ‘कूर्मे’ ये प्राणाः, ‘ते’  
‘शीर्षेण’ शीर्ष्ण्याः ‘प्राणाः’ ; ‘ते’ चक्षुरादय इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

एव मग्नेः कृत्स्नरूपत्वं प्रतिपाद्य, आदित्यरूपत्वं मूर्ध्वचयनेन  
प्रतिपादयति— “तं वा एतं मिति । ‘तं मेतं’ चित्य मग्निम्  
‘इतः’ अवाचः प्राणादारभ्य आ-शिरसः ‘जडुं’ प्रागपवर्गं ‘चिनो-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ६ ।

† एतावान् पाठः सर्वेष्वेव मद्दृष्टेषु पुस्तकेषु डा०-वेबरदृष्ट-  
पुस्तकेषु च विनष्ट इव प्रतीयते ।

ति' । किं मत इत्येकेनाशिनादित्यता माह— “असी वा आदित्य एषोऽम्बिरिति । “अमुं तदिति । इतो लोकाः भूराद्याः ‘अमु मादित्यम्’ ‘जङ्घं’ ‘प्राञ्चं’ प्रागञ्चनं ‘दधाति’ स्थापयति । ‘तस्माद्’ एव यज्ञानुकरणाद् ‘असावादित्यः’ ‘इतः’ पृथिवीलोकात् ‘जङ्घः प्राङ्’ ‘धीयते’ धार्यते, लोकैरिति शेषः ॥ ३६ ॥

अथ प्रदक्षिणावर्त्तनं विधत्ते— “अथैन मिति । ‘अथ’ अन्तरम् ‘एनम्’ आदित्यभूतं स्वयमादित्याद्यात्मक मग्निं ‘प्रसन्नवि’ प्रदक्षिणं ‘भावर्त्तयति’ आवर्त्तते । अषाढां पूर्वाह्णं उपधाय तस्याः दक्षिणतः कूर्मं सुपपदधाति, ततः स्वयमादित्याया उत्तरतः उलूखलमुसले, तत्रैवोखा सुपदधातीत्येव भावर्त्तयति । ‘तत्’ तेन प्रदक्षिणावर्त्तनेन ‘अमुम्’ आदित्यं प्रदक्षिण भावर्त्तयति । ‘तस्मात्’ यज्ञानुकरणात् ‘असावादित्यः’ ‘इमान् लोकान्’ तथैव सञ्चरति ॥ ३७ ॥

प्रकारान्तरेण उलूखलमुसलयोरौत्तराध्वं प्रशंसति— “उदर मुखेति । उखायाः सकाशात् \* अग्नेरुत्पत्तेः ‘उखां’ ‘उदरम्’, ‘उलूखल’ तु हविर्निष्पादनात् ‘योनिः’ । तथा च लोके, —उदरयोन्योरौत्तराध्वयादनयोरपि तदात्मकयोरौत्तराध्वं सुपपन्न मित्यर्थः । मुसलस्य उदुलूखलदक्षिणभागे उपधानं सोपपत्तिक माह— “शिश्र मिति । शिश्रस्य वृत्ताकारतया तदाकारत्वेन † मुसल मपि ‘शिश्रम्’ । तथाविधम् उलूखलस्य

\* ‘शक्तात्’—इति ज-पाठः ।

† ‘तदाकारवत्त्वेन’—इति ज-पाठः ।



दक्षिणभागे उपदध्यात् । लोके दक्षिणभागे 'वृषा' वर्षण-  
समर्थः पुरुषः 'योषा सुपशेते', अतश्चास्यापि \* वर्षणसमर्थत्वेन  
वृषत्वात्, उलूखलस्य योनिर्त्वेन स्त्रीत्वात्, दक्षिणभागेऽस्य  
उपधानं सुपपन्नम् † ॥

उक्तं निवाग्नेः पशुरूपत्वं प्रकारान्तरेण द्रष्टव्यम् । “यदु  
पशोरिति । “अग्निरिति । ‘यत् यतः, एष पशुः खलु, तथैव  
प्रागुक्तत्वात्; अतश्च पशोः अग्निरूपस्य संस्कृतस्य पञ्चवयव-  
सम्पादनाय ‡ निष्पादितस्य ‘यदन्नम्’, ‘तद् दूर्वेष्टका’ । तस्मात्  
‘तस्य’ दूर्वेष्टकारूपेणाग्नेन सुहितस्यैतस्याग्निरूपस्य पशोरुत्तरभाग  
‘उदाहिततरः’ उन्नततरो भवति; उत्तरभागे एव उलूखल-  
मुसलाद्युपधानात् । उक्तं मर्थं प्रमाणयति — “तस्मादिति ।  
यतोऽग्निरूपस्य पशोः दूर्वेष्टकान्त्वेन सुहिततरस्योत्तरभाग  
उन्नततरोऽभूत्, तस्मादिदानीं मपि लोके दृष्टव्यव्यवहारेण तस्य  
‘पशोरुत्तरः कुचिरुन्नततरो भवति’ ॥ ३८ ॥ १ [५. १.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमेऽध्याये प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

\* ‘वृष्य’—इत्येकं मेव पदं मिह ज-पुस्तके ।

† ‘स्त्रीत्वात्तदुपपन्नम्’—इत्येवैव ज-पाठः ।

‡ ‘सम्पादनाय’—इत्येव पाठो ज-पुस्तके ।

( अथ द्वितीयं ब्राह्मणम्. )

पशुशीर्षाण्युपदधाति । पशवो वै पशुशीर्षाणि  
पशुनेवैतदुपदधाति तान्युखाया मुपदधातीमे वै  
लोका उखा पशवः पशुशीर्षाण्येषु तल्लोकेषु पशून्  
दधाति तस्मादिमु ऽएषु लोकेषु पशवः ॥ १ ॥

यदेवोखायाम् \* । योनिर्त्रा ऽउखा पशवः पशु-  
शीर्षाणि योनौ तत् पशून् प्रतिष्ठापयति तस्मा-  
दद्यमानाः पच्यमानाः पशवो न क्षीयन्ते योनौ  
क्षोनान् प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

यदेव पशुशीर्षाण्युपदधाति । या वै ताः श्रिय  
एतानि तानि पशुशीर्षाण्यथ † यानि तानि कुसि-  
म्भान्येतास्ताः पञ्च चितयस्तद्यास्ताः पञ्च चितय इमे  
ते लोकास्तद्ये त ऽइमे लोका एषा सोखा तद्य-  
दुखायां पशुशीर्षाण्युपदधात्येतैरेव तच्छीर्षाभिरेतानि  
कुसिम्भानि सन्दधाति ॥ ३ ॥

---

\* 'यदेवोखायाम्'—इति क ।

† 'पशुशीर्षाण्यथ'—इति ख ।

तान् पुरस्तात् प्रतीच उपदधाति । एतद्वै  
युचैतान् प्रजापतिः पशूनालिप्सत तऽआलिप्स्य-  
माना उदचिक्रमिषंस्तान् प्राणेषु समगृह्णात्तान्  
प्राणेषु सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन्मधत् ॥ ४ ॥

तदा ऽएतत् क्रियते । यद्देवा अकुर्वन्निदं  
न्वस्मात्ते पशवो नोच्चिक्रमिषन्ति युचैतत् करोति  
यद्देवा अकुर्वन्स्तत् करवाणीत्यथो \* प्राणेष्वेवैनानेतत्  
सङ्गृह्य पुरस्तात् प्रतीच आत्मन् धत्ते ॥ ५ ॥

यद्देव पशुशीर्षाण्युपदधाति । प्रजापतिर्व्या-  
ऽइद मय ऽआसीदेक एव सोऽकामयतान् सृजेय  
प्रजायेयेति स प्राणेभ्य एवाधि पशून्निरमिमीत  
मनसः पुरुषं चक्षुषोऽश्वं प्राणाद्वा श्रोत्राद्विं  
व्याचोऽजं तद्यदेनान् प्राणेभ्योऽधि निरमिमीत  
तस्मादाहुः प्राणाः पशव इति मनो वै प्राणानां  
प्रथमं तद्यन् मनसः पुरुषं निरमिमीत तस्मादाहुः  
पुरुषः प्रथमः पशूनां व्यीर्यवत्तम इति मनो वै

सुर्व्वे प्राणा मनसि हि सुर्व्वे प्राणाः प्रतिष्ठिता-  
स्तद्यन् मनसः पुरुषं निरुमिमीत तस्मादाहुः पुरुषः  
सुर्व्वे पशुव इति पुरुषस्य ह्येवेति सुर्व्वे भवन्ति ॥

॥ ६ ॥

तदेतदन्नं सृष्टा । पुरस्तात् प्रत्यगात्मन्नधत्त  
तस्माद्यः कश्चान्नं सृजते पुरस्तादेवैनत् प्रत्यगात्मन्  
धत्ते तद्वा उत्खाया मुदुरं वा उत्खीदरे तदन्नं  
दधाति \* ॥ ७ ॥

अथैषु हिरण्यशकलान् प्रत्यस्यति । प्राणो वै  
हिरण्यं मय वा ऽएतेभ्यः पशुभ्यः सञ्ज्ञप्यमानेभ्य एव  
प्राणा उत्क्रामन्ति तद्यद्विरण्यशकलान् प्रत्यस्यति  
प्राणानेवैध्वेतद्वधाति ॥ ८ ॥

सप्त प्रत्यस्यति । सप्त वै शीर्षान् प्राणास्तान-  
स्मिन्नेतद्वधात्यथ यदि पुच्छं पशुवः स्युः पुच्छैव कृत्वः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्येत्पुच्छं वा ऽएतान् पशूनुपदधाति सप्त-  
सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तदेषु सुर्व्वेषु  
प्राणान् दधाति ॥ ९ ॥

\* 'दधाति'—इति क ।

तद्वैकेऽपि । यद्येकः पशुर्भवति पञ्चैव कृत्वः  
सप्त-सप्त प्रत्यस्यन्ति पञ्च वा ऽएतान् पशूनुपदधाति  
सप्त-सप्त वा ऽएकैकस्मिन् पशौ प्राणास्तुदेषु सर्वेषु  
प्राणान् दध्म इति न तथा कुर्यादेतस्मिन् वै पशौ  
सर्वेषां पशूनां रूपं तद्यदेतस्मिन् प्रत्यस्यति  
तदेवेषु सर्वेषु प्राणान् दधाति \* ॥ १० ॥

मुखे प्रथमं प्रत्यस्यति । सम्यक् स्रवन्ति सरितो  
न धेना इत्यन्नं वै धेनास्तदिदं सम्यङ्मुख मभि-  
सृष्टवत्यन्तर्हृदा मनसा पूयमाना इत्यन्तर्वै  
हृदयेन मनसा सताम्रं पूतं य ऋजुस्तस्य घृतस्य  
धारा अभिचाकशीमीति या एवैतस्मिन्नग्नावाहुती-  
र्हीष्यन् भवति ता एतदाह हिरण्ययो ज्वेतसो  
मध्ये ऽग्नेरिति य एवैष हिरण्यमयः पुरुषस्त मेत-  
दाह ॥ ११ ॥

ऋचे त्वेतीह । प्राणो वा ऽऋक् प्राणेन ह्यर्चति  
ऋचे त्वेतीह प्राणो वै रुक् प्राणेन हि रोचतेऽथो

प्राणायु ह्रीदं सर्वं रोचते भासे त्वेतीह ज्यो-  
तिषे त्वेतीह भास्वती ह्रीमे ज्योतिष्मती चक्षुषी  
ऽभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिन मनेर्विश्वा-  
नरस्य चेतीहाग्निर्ज्योतिषा ज्योतिष्मान् रक्तो  
वर्चसा वर्चस्वानितीह विश्वावतीभ्यां विश्वं हि  
श्रोत्रम् ॥ १२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मुद्गृह्णाति । मह्यत्वेन देतुं  
सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति सर्वं वै सहस्रं  
सर्वस्य दातासि सर्वस्मै त्वेतत् \* ॥ १३ ॥

अथैनानुपदधाति । पुरुषं प्रथमं पुरुषं तद्  
वीर्येणात्मा दधाति † मध्ये पुरुषं मभित इतरान् पशून्  
पुरुषं तत् पशूनां मध्यतो उत्तरं दधाति तस्मात्  
पुरुष एव पशूनां मध्यतोऽत्ता ‡ ॥ १४ ॥

अश्वं चाविं चोत्तरतु § । एतस्यां तुद्दिश्येतौ

\* 'त्वेतत्'—इति ग, घ ।

† 'वीर्येणात्मा दधाति'—इति ख-पुस्तके, दृष्टञ्च डा०-वेबरमहोदयेनापि ।

‡ 'मध्यतोऽत्ता'—इति ग, घ ।

§ 'चोत्तरतु'—इति क, ख ।

पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ  
॥ १५ ॥

गां चार्जं च दक्षिणतः \* । एतस्यां तदिश्येतौ  
पशू दधाति तस्मादेतस्यां दिश्येतौ पशू भूयिष्ठौ  
॥ १६ ॥

पुयसि पुरुष मुपदधाति । पशवो वै पुयो  
यजमानं तत् पशुषु प्रतिष्ठापयत्यादित्यं गर्भं पुयसा  
समङ्गधीत्यादित्यो वा ऽएष गर्भो यत् पुरुषस्तं  
पुयसा समङ्गधीत्येतत् सहस्रस्य प्रतिमां विश्व-  
रूप मिति पुरुषो वै सहस्रस्य प्रतिमा पुरुषस्य शिव  
सहस्रं भवति परिहृङ्गिध हरसा माभिमंस्था इति  
पर्येनं वृद्ध्यर्द्धिषा मैनः हिंसीरित्येतच्छतायुषं  
कृणुहि चीयमान इति पुरुषं तत् पशूनां शतायुं  
करोति तस्मात् पुरुष एव पशूनां शतायुः ॥  
॥ १७ ॥

अथोत्तरतोऽश्वम् । व्यातस्य जूत मिति व्या-

तस्य वा ऽएष जूतिर्यदुश्वो व्वरुणस्य नाभि मिति  
 व्वारुणो ह्यश्वोऽश्वं जज्ञानुः सरिरस्य मध्य  
 ऽइत्यापो वै सरिर मप्सुजा उ वा ऽअश्वः शिशुं  
 नदीनां हरि मद्रिबुध मिति गिरिर्वा ऽअद्रिर्गिरि-  
 बुधा उ वा ऽआपोऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योम-  
 न्नितीमे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा  
 हिंसीरित्येतत् \* ॥ १८ ॥

अथ दक्षिणतो गाम् † । अजस्र मिन्दु मरुष  
 मिति सोमो वा ऽइन्दुः स हैष सोमो ऽजस्रो  
 यद्गौर्भुरण्य मिति भर्तार मित्येतदग्निमीडे पूर्व-  
 चित्तिं नमोभिरित्याग्नेयो वै गौः पूर्वचित्ति मिति  
 प्राञ्चः ‡ ह्यग्नि सुह्वरन्ति प्राञ्च सुपचरन्ति स पर्वभि-  
 र्ऋतुशः कल्पमान इति यद्वा ऽएष चीयते तदेष  
 पर्वभिर्ऋतुशः कल्पते गां मा हिंसीरदिति व्वि-  
 राज मिति व्विराड् वै गौरुन्नं वै व्विराडन्न मु  
 गौः ‡ ॥ १९ ॥

\* 'रित्वित्'—इति ग, घ ।

† 'गाम्'—इति ग, घ ।

‡ 'गौः'—इति ग, घ ।



अथोत्तरतोऽविम् । व्यरुर्वी त्वष्टुर्वरुणस्य  
 नाभि मिति व्वारुणी च हि त्वाष्ट्री चाविरुविं  
 जज्ञानां रजसः परस्मादिति श्रोत्रं वै परं रजो  
 दिशो वै श्रोत्रं दिशः परं रजो महीं साहस्री  
 मुसुरस्य माया मिति महतीं साहस्री मुसुरस्य  
 माया मित्येतद्गने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती-  
 मे वै लोकाः परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिंसी-  
 रित्येतत् \* ॥ २० ॥

अथ दक्षिणतोऽजम् † । यो अग्निरग्नेरध्य-  
 जायतेत्यग्निर्वा एषो अग्नेरध्यजायत शोकात्  
 पृथिव्या उत्त वा दिवस्परीति यद्वै प्रजापतेः शोका-  
 दजायत तद्विवश्च पृथिव्यै च शोकादजायत येन  
 प्रजा विश्वकर्मा जजानेति वाग्वा अजो वाचो  
 वै प्रजा विश्वकर्मा जजान त मग्ने हृडः परि ते  
 वृणाक्षिति यथैव यजुस्तथा बभूवुः ॥ २१ ॥

\* 'रित्येतत्'—इति ग, घ ।

† 'अजम्'—इति ग, घ ।

तु ऽएते पशवः । तान्नानोपदधाति नाना  
सादयति नाना सूददीहसाधिवदति नाना ह्येते  
पशवः \* ॥ २२ ॥

अथ पुरुषशीर्षं मभिजुहोति । आहुतिर्वै यज्ञः  
पुरुषं तत् पशूनां यज्ञियं करोति तस्मात् पुरुष  
एव पशूनां यजते ॥ २३ ॥

यद्वै नदभिजुहोति । शीर्षंस्तद्वीर्यं दधात्या-  
ज्येन जुहोति व्वञ्चो वा ऽआज्यं व्वीर्यं वै  
व्वञ्चो व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतदधाति स्वाहाकारेण व्वृषा  
वै स्वाहाकारो व्वीर्यं वै व्वृषा व्वीर्यं मेवास्मिन्नेतद्  
दधाति त्रिष्टुभा व्वञ्चो वै त्रिष्टुब् व्वीर्यं वै व्वञ्चो  
व्वीर्यं त्रिष्टुब् व्वीर्येणैवास्मिन्नेतद् व्वीर्यं दधाति ॥  
॥ २४ ॥

स वा ऽअर्द्धं मनुदुत्य स्वाहाकरोति । अस्थि  
वा ऽऋगिदं तच्छीर्षकपालं विहाप्य यदिदं मन्तरतः  
शीर्षां व्वीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २५ ॥

अथोत्तर मर्ध्वर्ध्वं मनुद्रुत्य स्वाहाकरोति । इदं  
तच्छीर्षकपालं सन्धाय यदिद् मुपरिष्ठाच्छीर्षो  
व्यीर्यं तदस्मिन् दधाति ॥ २६ ॥

चित्रं देवानां मुदगादनीकं मिति । असौ वा  
ऽआदित्य एष पुरुषस्तदेतच्चित्रं देवानां मुदेत्यनीकं  
चक्षुर्मितस्य व्वरुणस्याग्नेरित्युभयेषां हेतद्देवमनु-  
ष्याणां चक्षुराग्रा द्यावापृथिवीं ऽअन्तरिक्षं मित्युद्यन्  
वा ऽएष इमाँल्लोकानां पूरयति सूर्य आत्मा जग-  
तस्तस्युषश्चेत्येष ह्यस्य सर्वस्यात्मा युच्च जगद्यच्च  
तिष्ठति ॥ २७ ॥

अथोत्सर्गैरुपतिष्ठते \* । ऽएतद्वै युत्रैतान् प्रजापतिः  
पशूनालिप्सत तं ऽआलिप्स्यमाना अशोचंस्तेषां  
मेतैरुत्सर्गैः शुचं पाप्मानं मुपाहंस्तथैवैषां मय मेतदेतै-  
रुत्सर्गैः शुचं पाप्मानं मुपहन्ति ॥ २८ ॥

तद्वैके । यं य मेव पशुं मुपदधति तस्य  
तस्य शुचं मुत्सृजन्ति नेष्कुचं पाप्मानं मभ्युपदधा-

महा ऽद्विति ते ह ते शुचं पाप्मानं मय्युपदधति  
याः हि पूर्वस्य शुचं मुत्सृजन्ति ता मुत्तरेण सहो-  
पदधति ॥ २९ ॥

द्विपरिक्रामसु हैक ऽउपतिष्ठन्ते । जह्वाः  
शुचं मुत्सृजाम इति ते ह ते शुचं पाप्मानं मनूय-  
न्त्यह्नीं ह्येतेन कर्मणैत्यह्नीं मु शुचं मुत्सृजन्ति ॥  
॥ ३० ॥

बाह्येनैवाग्निं मुत्सृजत् । इमे वै लोका एषो  
ऽग्निरेभ्यस्तृक्लोकैभ्यो बहिर्धा शुचं दधाति बहि-  
र्वेदीयं वै वेदिरस्यै तद् बहिर्धा शुचं दधात्युदङ्  
तिष्ठन्नेतस्याः ह दिश्येते पशवस्तद्युवैते पशव-  
स्तदेवैष्वेतच्छुचं दधाति \* ॥ ३१ ॥

पुरुषस्य प्रथमं मुत्सृजति । तः हि प्रथमं  
मुपदधातीमं मा हिंसीर्दिपादं पशुमिति द्विपादा  
ऽएष पशुर्यत् पुरुषस्तं मा हिंसीरित्येतत् सह-  
स्राक्षो मेधाय चीयमान इति हिरण्यशकलैर्व्या

ऽएष सहस्राक्षो मेधायेत्यन्नायेत्येतन् मयुं पशुं मेध-  
मग्ने जुषस्वेति किम्पुरुषो वै मयुः किम्पुरुष  
मग्ने जुषस्वेत्येतत्तेन चिन्वानस्तन्वोः निषीदेत्यात्मा  
वै तनूस्तेन चिन्वान् आत्मान् संस्करुष्वेत्येतन्  
मयुं ते शुगच्छतु यं द्विषस्तं ते शुगच्छत्विति तन्  
मयौ च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य । इमं मा हिंसोरेकशफं पशु  
मित्येकशफो वा ऽएष पशुर्यदश्वस्तं मा हिंसी-  
रित्येतत् कनिक्रदं व्याजिनं व्याजिनेष्विति कनि-  
क्रदो वा ऽएष व्याज्यु व्याजिनेषु गौर मारण्य  
मनु ते दिशामीति तदस्मै गौर मारण्य मनुदिशति  
तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन चिन्वान् आ-  
त्मान् संस्करुष्वेत्येतद्गौरं ते शुगच्छतु यं द्विषस्तं  
ते शुगच्छत्विति तद्गौरे च शुचं दधाति यं च  
द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३३ ॥

अथ गोः । इमं साहस्रं शतधार मुत्स  
मिति साहस्रो वा ऽएष शतधार उत्सो यद् गौ-  
र्व्यच्यमान् सरिरस्य मध्य ऽद्वतीमे वै लोकाः

सरिरु मुपजीव्यमान मेषु लोकेष्वित्येतद् घृतं दुहा-  
नामदिति जनायेति घृतं वा ऽएषादितिर्जुनाय  
दुहेऽग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः  
परमं व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिंसीरित्येतद्गवय  
मारण्य मनु ते दिशामीति तदस्मै गवय मारण्य  
मनुदिशति तेन चिन्वानस्तन्वो निषीदेति तेन  
चिन्वान आत्मानं संस्कुरुष्वेत्येतद्गवयं ते शुग-  
च्छतु यं द्विषस्तं ते शुगच्छत्विति तद् गवये च शुचं  
दधाति यं च हेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३४ ॥

अथाविः । इमं मूर्णाय \* मित्यूर्णावल मित्येतद्  
व्यरुणस्य नाभि मिति व्यारुणो ह्यविस्त्वचं पशूनां  
द्विपदां चतुष्पदा मित्युभयेषां चैष पशूनां त्वग्  
द्विपदां च चतुष्पदां च त्वष्टुः प्रजानां प्रथमं जनित्र  
मित्येतद् त्वष्टा प्रथमं रूपं त्विचकाराम्ने मा  
हिंसीः परमे व्योमन्निती मे वै लोकाः परमं  
व्योमेषु लोकेष्वेनं मा हिंसीरित्येतद्गवय मारण्य

मनु ते दिशामीति तदस्मा ऽउष्ट्र मारण्य मनुदिशति  
 तेन चिन्वानस्तुन्वो निषीदेति तेन चिन्वान आ-  
 त्मानं संस्करुष्वेत्येतदुष्टं ते शुगच्छतु यं द्विष्यस्तं  
 ते शुगच्छत्विति तदुष्टे च शुचं दधाति यं च द्वेष्टि  
 तस्मिंश्च ॥ ३५ ॥

अथाजस्य । अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकादिति  
 यद्वै प्रजापतेः शोकादजायत तदग्नेः शोकाद-  
 जायत सो ऽअपश्यज्जनितार मय ऽद्विति प्रजा-  
 पतिर्वै जनिता सो ऽपश्यत् प्रजापति मय ऽद्वत्ये-  
 तत् तेन देवा देवता मय ऽचायन्निति \* व्याग्वा ऽअ-  
 जो व्याचो वै देवा देवता मय मायंस्तेन रोह  
 मायन्नप मेध्यास इति स्वर्गो वै लोको रोहस्तेन  
 स्वर्गं लोकं मायन्नप मेध्यास इत्येतच्छरभ मारण्य  
 मनु ते दिशामीति तदस्मै शरभ मारण्य मनु-  
 दिशति तेन चिन्वानस्तुन्वो निषीदेति तेन चिन्वान  
 आत्मानं संस्करुष्वेत्येतच्छरभं ते शुगच्छतु यं

द्विष्मस्तुं ते शुण्ठस्त्विति तच्छरभे च शुचं दधाति  
यं च द्वेष्टि तस्मिंश्च ॥ ३६ ॥

तदाहुः । यां वै तत् प्रजापतिरेतेषां पशूनां  
शुचं पाप्मानं मपाहंस्तु ऽएते पुञ्च पशवो ऽभवंस्तु  
ऽएत ऽउत्क्रान्तमेधा अमेध्या अयज्ञियास्तेषां ब्राह्म-  
णो नाग्नीयास्तानेतस्यां दिशि दधाति तस्मादे-  
तस्यां दिशि पर्जन्यो न वर्षुको यवैते भवन्ति \*  
॥ ३७ ॥

प्रत्येत्याग्निं सुपतिष्ठते । एतद्वा ऽएतदयथा-  
यथं करोति यद्ग्नौ सामिचिते बहिर्व्वेद्येति तस्मा  
ऽएवैतन्निर्ऋते ऽहिंसाया ऽआग्नेय्याग्नयु ऽएवै-  
तन्निर्ऋते गायत्र्या गायत्र्योऽग्निर्यावानग्निर्याव-  
त्यस्य मात्रा तावतैवास्मा ऽएतन्निर्ऋतेऽनिरु-  
क्तया सर्व्वं वा ऽअनिरुक्तं सर्व्वेणैवास्मा ऽएत-  
न्निर्ऋते यविष्ठवत्यैतद्वास्य † प्रियं धाम यदविष्ठ

\* 'भवन्ति'—इति क ।

† 'यविष्ठवत्यैतद्वास्य'—इति क, ख ।



इति यद्वै जातु इदं सर्वं मयुवत तस्माद्यविष्ठः ॥  
। ३८ ॥

त्वं यविष्ठ दाशुष इति । यजमानो वै दा-  
खान् नूः पाहीति \* मनुष्या वै नरः शृणुधी गिर  
इति शृणु न इमां स्तुति मित्येतद्रुक्षा तोक  
मृतत्मनेति प्रजा वै तोकं रक्ष प्रजां चात्मानं  
चेत्येतत् † ॥ ३९ ॥

आरुद्धाग्निं जघनेन स्वयमावृक्षां परीत्यापस्या  
उपदधाति । आप एता यदपस्या अथ वा ऽए-  
तेभ्यः पशुभ्यः आप उत्क्रान्ता भवन्ति तद्यदपस्या  
उपदधात्येवैतत्पशुष्वपो दधात्यनन्तर्हिताः पशुभ्य  
उपदधात्यनन्तर्हितास्तत्पशुभ्योऽपो दधाति पञ्च-पञ्चो-  
पदधाति पञ्च ह्येते पशवः सर्वत उपदधाति  
सर्वत एवैवेतदपो दधाति ॥ ४० ॥

तद्याः पञ्चदश पूर्वाः । ता अपस्या व्यञ्जो

\* 'दाशान् नूः पाहीति'—इति क, ख ; इदं च वेबरमहोदयेनापि ।

† 'चेत्येतत्'—इति क, ख ।

वा ऽद्यापो व्यञ्जः पञ्चदशस्तुम्भाद्येनापो यन्त्यपैव  
तत्र पाप्मानं घ्नन्ति व्यञ्जो हैव तस्यार्द्धस्य पाप्मानं  
मपहन्ति तस्माद्वर्षत्यप्राहतो व्यञ्जो मे व्यञ्जः  
पाप्मानं मपहनदिति \* ॥ ४१ ॥

अथ याः पञ्चोत्तराः । ताश्छन्दस्याः पशवो  
वै छन्दाऽस्यन्नं पशवोऽन्नं मु पशोर्मांसं मय वा  
ऽएतेभ्यः पशुभ्यो मांसान्युत्क्रान्तानि भवन्ति तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधात्येष्वेवैतत् पशुषु मांसानि दधा-  
त्यनन्तर्हिताः पशुभ्यः उपदधात्यनन्तर्हितानि तत्  
पशुभ्यो मांसानि दधात्यन्तरा अपस्या भवन्ति  
वाङ्माश्छन्दस्या अन्तरा द्यापो वाङ्मानि मांसानि  
॥ ४२ ॥

तदाहुः । यदिमा आप एतानि मांसान्यथ  
क्व त्वक् क्व लोमेत्यन्नं व्याव पशोस्त्वगन्नं लोमं तद्य-  
च्छन्दस्या उपदधाति सैव पशोस्त्वक्त्वक्लोमाथो यान्य-  
मून्युखाया मजलोमानि तानि लोमानि वाङ्मोखा

वित्यन्तराणि पशुशीर्षाणि बाह्यानि हि लोमान्य-  
तर आत्मा यदीतरेण यदीतरेणेति ह स्माह  
गण्डव्यः सर्वानिव व्यं कृत्स्नान् पशूनसंस्कुर्म  
इति ॥ ४३ ॥

यदेवापस्या उपदधाति । प्रजापतेर्व्यसस्ता-  
हप आयंस्तास्वितास्वविशद्यद्विशत्तस्माद्विंशतिस्ता  
प्रस्याङ्गुलिभ्यो ऽध्यस्ववन्नन्तो वा ऽअङ्गुलयो ऽन्तत्  
एवास्मात्ता आप आयन् ॥ ४४ ॥

स यः सु प्रजापतिर्व्यसत । अयं मेव स  
योऽयं मग्निश्चीयतेऽयं या अस्मात्ता आप आयन्ने-  
तास्ता अपस्यास्तद्यदेता उपदधाति या एवास्मात्ता  
आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत्पतिदधाति तस्मादेता  
अद्वोपदधाति \* ॥ ४५ ॥

अपां † त्वेमन्सादयामीति । वायुर्वा ऽअपा  
मेम यदा ह्येवेषु द्रुतश्चेतुश्च व्यात्यथापो यन्ति वायौ  
तां सादयति ॥ ४६ ॥

\* 'अद्वोपदधाति'—इति क, ख ।

† 'आपां'—इति ख ।

अपां त्वोद्गन्त्सादयामीति \* । ओषधयो वा  
ऽअपा मोक्ष यत्र ह्याप उन्दन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो  
जायन्त ऽओषधिषु तां सादयति ॥ ४७ ॥

अपां त्वा भस्मन्सादयामीति † । अभः ‡ वा  
ऽअपां भस्माभे तां सादयति ॥ ४८ ॥

अपां त्वा ज्योतिषि सादयामीति । विद्युद्वा  
ऽअपां ज्योतिर्विद्युति तां सादयति ॥ ४९ ॥

अपां त्वायने सादयामीति । इयं वा ऽअपा-  
मुयन मस्यां ह्यापो यन्त्यस्यां तां सादयति  
तद्या अस्थैतेभ्यो रूपेभ्य आप आयस्ता अस्मिन्ने-  
तत् प्रतिदधात्यथो ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति  
॥ ५० ॥

अर्णवे त्वा सुदने सादयामीति । प्राणो वा  
ऽअर्णवः प्राणे तां सादयति ॥ ५१ ॥

समुद्रे त्वा सुदने सादयामीति । मनो वै

\* , † 'यामीति'—इति ग , घ ।

‡ 'अभः'—इति , 'यामीत्यभः'—इति च दृष्टं वेबरमहोदयेन ।

समुद्रो मनुसो वै समुद्राद्वाचाभ्या देवास्त्रयीं  
 विद्यां निरखनंस्तुदेष्ट श्लोको ऽभ्युक्तो ये समुद्रान्नि-  
 रखनन्देवास्तीक्ष्णाभिरभिभिः सुदेवो ऽभ्यदतद्विद्या-  
 द्यत्त निर्व्वपणं दधुरिति मनुः समुद्रो व्याक् तीक्ष्णा-  
 भिस्त्रयीं विद्यां निर्व्वपणं मेतुदेष्ट श्लोकोऽभ्युक्तो  
 मनसि तां सादयति ॥ ५२ ॥

सरिरे त्वा सुदने सादयामीति । व्याम्बै सरिरं  
 व्यसचि तां सादयति ॥ ५३ ॥

अपां त्वा क्षये सादयामीति । चक्षुर्व्वा ऽअपां  
 क्षयस्तत्र हि सर्व्वदैवापः क्षियन्ति चक्षुषि तां  
 सादयति ॥ ५४ ॥

अपां त्वा सधुषि सादयामीति । श्रोत्रं वा  
 ऽअपां सधुषि श्रोत्रे तां सादयति तदा अस्मै-  
 तेभ्यो रूपेभ्य आप आयंस्ता अस्मिन्नेतत् प्रति-  
 दधात्यथो ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ५५ ॥

अपां त्वा सुदने सादयामीति । द्यौर्व्वा ऽअ-  
 पां सुदनं दिवि क्षापः सन्ना दिवि तां साद-  
 यति ॥ ५६ ॥

अपां त्वा सधस्थे सादयामीति । अन्तरिन्त्रं  
वा अपां सधस्थ मन्तरिन्त्रे तां सादयति ॥ ५७ ॥

अपां त्वा योनौ सादयामीति । समुद्रो वा  
ऽअपां योनिः समुद्रे तां सादयति ॥ ५८ ॥

अपां त्वा पुरीषे सादयामीति । सिकता  
वा ऽअपां पुरीषं सिकतासु तां सादयति ॥  
॥ ५९ ॥

अपां त्वा पाथसि सादयामीति \* । अन्नं वा  
ऽअपां पाथोऽन्ने तां सादयति तद्या अस्थैतेभ्यो  
रूपेभ्य आप आयंस्तु अस्मिन्नेतत् प्रतिदधत्यथो  
ऽएतान्येवास्मिन्नेतद्रूपाणि दधाति ॥ ६० ॥

गायत्रेण त्वा कुन्दसा सादयामि । त्रैष्टुभेन  
त्वा कुन्दसा सादयामि जागतेन त्वा कुन्दसा  
सादयाम्यानुष्टुभेन त्वा कुन्दसा सादयामि पाङ्क्तेन  
त्वा कुन्दसा सादयामीति तद्या अस्थैतेभ्यश्चकुन्दोभ्य  
आय आयंस्तु अस्मिन्नेतत् प्रतिदधत्यथो ऽएतान्ये-  
वास्मिन्नेतच्छुन्दांसि दधाति ॥ ६१ ॥

ता एता अङ्गुलयः । ताः सर्व्वत उपदधाति  
 सर्व्वतो हीमा अङ्गुलयो ऽन्तेषूपदधात्यन्तेषु हीमा  
 अङ्गुलयश्चतुर्द्वीपदधाति चतुर्द्धा हीमा अङ्गुलयः पञ्च-  
 पञ्चोपदधाति पञ्च-पञ्च हीमा अङ्गुलयो नानोपद-  
 धाति नाना हीमा अङ्गुलयः सकृत्सकृत्सादयति  
 समानं तत् करोति तस्मात् समानसम्बन्धनाः ॥  
 ॥ ६२ ॥ २ ॥

॥ इति चतुर्थप्रपाठके द्वितीयं ब्राह्मणम् [ ५, २, ] ॥

अथ पशुशीर्षाणां सुपधानं विधाय प्रशंसति— “पशु-  
 शीर्षाणीति \* । पशुशीर्षाणां पञ्चवयवत्वेन पशुत्वम् ; अतश्च  
 तदुपधाने पशूनां मेवोपधानं भवतीत्यर्थः । तेषां सुपधानस्य  
 स्थानविशेषं विधत्ते— “तानीति । “यो वै स प्रजापतिर्व्यसृ-  
 सतैषां सोखिमे वै लोका उखिमे लोकाः प्रजापतिः”—इत्युखाया  
 लोकत्रयरूपत्वस्योक्तत्वात् † तस्यां सुपधाने ‘लोकेषु’ ‘पशून्’  
 निहितवान् भवति । ‘तस्मात्’ इमे ‘पशवः’, ‘एषु लोकेषु’  
 अवतिष्ठन्ते ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेणाप्युखायां सुपधानं प्रशंसति— “यदेवोखाया  
 मिति । उखायाः सकाशादग्न्युत्पत्तेः ‘यीनिः उखा’, अतस्त्वो-

\* का० श्री० सू० १७. ५. १३ ।

† पूर्व्वस्मिन् ब्राह्मणे १७ क० ( ३६४ ए० ) दृश्यम् ।

पधाने योनावेव 'पशून्' निदधाति । 'तस्मात्' 'अद्यमानाः' उपभुज्यमानाः, 'पच्यमानाः' जीर्यमाणा अपि 'पशवः' 'न क्षीयन्ते' । उपभोगात्परिपाकाच्च विनाशे सत्यपि 'योनी' प्रतिष्ठितत्वात् नोच्छिद्यन्ते, किन्तु पुनरुत्पद्यन्त इत्यर्थः । 'पच्यमानाः'—इति कर्षकर्त्तरि यक् प्रत्ययः \* ॥ २ ॥

अथ तानि पशुशीर्षाणि श्रीरूपत्वेन प्रशंसति— “यद्देवेति । 'याः' खलु प्रागुक्ताः † श्रियः, 'ताः' एव 'एतानि' 'पशुशीर्षाणि'; अत एतेषां सुपधाने श्रिया सेवोपधानं भवति । उखायाः परम्परया कबध्वात्मकत्वम् । तत्रोपधाने कबध्वाशिरसां सन्धानं भवतीति दर्शयति— “अथ यानीति । 'तानीति' अश्वःसश्वरणावसरपरामर्शः । 'यानि तानि' 'कुसिन्धानि' कबध्वाणि, तानि 'एताः' अत्र सम्पाद्यमानाः 'पञ्च चितयः' । चित्यात्मकत्वेन कबध्वाणां पञ्चत्वसङ्ख्यासामान्यात् । ततस्तथाविधाः 'याः पञ्च चितयः', 'ताः' 'इमे' पृथिव्यादयो 'लोकाः' । चितीनां प्रजापत्यवयवात्मकत्वात्, लोकानां मपि तथाभावादिति । तथा च 'ये' 'ते' एते 'इमे लोकाः', ते 'एषा उखा' ; तस्याः लोकत्रयात्मकत्वस्य प्रागुक्तत्वात् । अतश्च 'उखायां' पशुशीर्षाणां सुपधानेन ‡ 'एतैः' कबध्वाणि संयोजयति § । 'शीर्षभिः'—इति “शीर्षंश्छन्दसि”—इति ॥ शीर्षवादेशः ॥ ३ ॥

\* पा० सू० ३. १. ८७ ।

† इका० २ अ० १ ब्रा० ७ ख० ( इ भा० ५४ पृ० ) द्रष्टव्याः ।

‡ 'सुपधाने'—इति ज-पाठः ।

§ 'संयोजयति'—इति ज-पाठः । ॥ पा० सू० ३. १. ६० ।



उवाया सुपधानं पुरस्तादारभ्य प्रत्यगपवर्गं कर्त्तव्यं मित्याह —  
 “तानिति । पशुशीर्षाणां मपि पशुत्वात् ‘तान्’-इति पुस्तिङ्गवच-  
 नम् । विहितप्रकारे उपधाने कार ॥ वक्तुं प्रतिजानीते — “एतद्वा  
 इति । तत्रैतत् कारणं खल्वित्यर्थः । तदेव दर्शयति — “यत्रै-  
 तानिति । ‘यत्र’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’ पशून्  
 ‘आलिप्सत’ आलिप्सु मैच्छत् । ततः ‘आलिप्स्यमानाः’ ते पशव  
 उत्क्रमितु मैच्छन् । उत्क्रमिमिषूँश्च ‘तान्’ ‘प्राणेषु’ शीर्षगतेषु \*  
 ‘सर्वप्राणाधारत्वाच्छिरसां प्राणत्वम् । प्राणा इति इन्द्रियाण्यु-  
 च्यन्ते, ‘तान्’ प्राणेषु सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’ पूर्वस्माद्देशात् ‘प्रतीवः’  
 प्रत्यङ्मुखानाकृष्य, ‘आत्मन्’ आत्मनि ‘अधत्त’ स्वाधीनीकृतवान् ।  
 पलायनेच्छूनां † पशूनां शिरांसि गृहीत्वा स्वाभिमुख माकृष्य  
 वशीकृतवानित्यर्थः ॥ ४ ॥

“तद्वेति । तथा सति ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’ एवैतस्मिन्नपि  
 काले ‘क्रियते’ खलु । अतश्च यजमानो ‘देवा यदकुर्वन्’, ‘तत्’  
 ‘करवाणि’-इति अभिप्रायेण ‘एतत्’ उक्तप्रकार सुपधानं ‘करोति’  
 -इति ‘यत्’, ‘इदम्’ ‘अस्मात्’ एव निमित्तात् ‘ते पशवः’ ‘अस्माद्’  
 यजमानात् ‘नोश्चिक्रमिषन्ति’ । न केवलं तेषां मुत्क्रमणेच्छा-  
 भावः, अपि तु ‘एतान्’ पशून् ‘प्राणेषु’ सङ्गृह्य, ‘पुरस्तात्’  
 ‘प्रतीवः’ आकृष्य, स्वस्मिन्निहितवान् भवति ॥ ५ ॥

उवायां पशुशीर्षाणां सुपधाने प्रजापत्युदरे अन्नं दधातीति  
 दर्शयितुं माख्यायिका संवतारयति — “यद्वेवेति । ‘पशुशीर्षा-

\* ‘शीर्षे गतेषु’-इति ज-पाठः ।

† ‘पलायने’-इति ज-पाठः ।

ण्युपदधाति'-इति 'यत्', तत्कारणं सूच्यत इत्यर्थः । 'अग्रे' सृष्टेः पूर्वं 'प्रजापतिः एक एवासीत्' खलु, 'सः' प्रजापतिः 'अन्नं सृजेय', प्रजारूपेण जायेयेति 'अकामयत' । 'प्रजायेय' इति अन्न-सृष्ट्युपायप्रदर्शनम् । 'सः' एवं जातेच्छुः प्रजापतिः 'प्राणेभ्य एव पशून्विरमिमीत' । तदेव विवृणोति— "मनसः पुरुष मिति । "प्राणादिति । प्राणसञ्चारणस्थानत्वाद् प्राणेन्द्रियं सूच्यते । यतः 'एनान्' पशून् 'प्राणेभ्यो निर्मितवान्', 'तस्मात्' लोके 'प्राणाः पशव इत्याहुः' जनाः । किञ्च । सर्वेषां मिन्द्रियाणां 'मनः' खलु 'प्रथमं' श्रेष्ठम् ; तदुपधानादेव सर्वेषां स्वस्वव्यापारक्षमत्वात् । अतश्च मनसः पुरुषस्य निर्माणात् लोके 'पुरुषः पशूनां' मध्ये श्रेष्ठः 'वीर्यवत्तमः'-इति आहुः । अपि च 'मनस्येव सर्वे प्राणाः प्रतिष्ठिताः'-इति, तदेव खलु 'सर्वे प्राणाः' ; अतश्च सर्वप्राणात्मकात् 'मनसः पुरुषं निरमिमोत'-इति 'यत्', 'तस्मादाहुः पुरुषः सर्वे पशवः'-इति । यतः 'पुरुषस्य' ह्येवैते 'सर्वे पशवः' भवन्ति ; सर्वपशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषस्य ; अतः 'पुरुषः सर्वे पशवः'-इति 'आहुः' । सर्वेन्द्रियप्रतिष्ठारूपात् मनसः सकाशात् पुरुषस्य निर्माणेन तस्य पशुसम्पादनक्षमत्वात् पुरुषः सर्वे पशवः इत्याहु-रित्यर्थः ॥ ६ ॥

"तदेतदिति । 'एतत्' पुरुषादिपशुलक्षणम् 'अन्नं सृष्ट्वा', स प्रजापतिः 'पुरस्तात्' प्रतीचीन मात्मनि 'अधत्त' । 'तस्मात्' लोकेऽपि कश्चनापि अन्नं सम्पादयति, एतत् सम्पादनं 'पुरस्तादेव' प्रतीचीन मात्मनि धारयति ; सुखप्रदेशादेवान्नस्य प्रती-

चीन मभ्यवहारात् । अतश्च 'तत्' पुरस्तात् प्रतीचीनं तेषां पशुशीर्षाणां सुपधानं सुखायां क्रियत इति यत्, तेन प्रजापतेरुदररूपायाम् 'उखायां' पुरस्तात् प्रतीचीनं मन्त्रं निहितवान् भवति ॥ ७ ॥

अथ तेषु पशुशीर्षेषु सुवर्णशकलानां प्रक्षेपं विधाय प्रशंसति — "अथैष्विति \* । प्राणसाधनत्वाद्द्विरण्यस्य प्राणात्मकत्वम् । "अथ वा इति । 'अथ' खलु 'सञ्ज्ञाप्यमानेभ्यः' एभ्यः 'प्राणा उत्क्रामन्त्येव' । अतश्च 'द्विरण्यशकलान् प्रत्यस्य'-इति यत्, एतेन 'प्राणानिव' 'एषु' पशुषु नि-दधाति ॥ ८ ॥

सुवर्णशकलानां सञ्ज्ञाविशेषं विधत्ते — "सप्त प्रत्यस्यतीति † । शिरसि, — वागिका, नेत्रे द्वे, श्रोत्रे द्वे, नासाविवरे च द्वे, इति सप्त प्राणाः । तथा सप्तद्विरण्यशकलनिधानेन सप्तप्राणवान् भवतीत्याह — "सप्त वा इति । पञ्चपशुपक्षः, एकपशुपक्षः, इति पक्षद्वयं मस्ति । तत्र पञ्चपशुपक्षे 'पञ्चकृत्वः' 'सप्त-सप्त' द्विरण्यशकलान् प्रतिशीर्षं प्रत्यस्यति ॥ ९ ॥

"तद्वैक इति । 'यदि एकोऽपि पशुर्भवति', तदापि 'पञ्चकृत्व एव' 'सप्त-सप्त' सुवर्णशकलान् प्रत्यस्येदिति 'एके' शाखिन आहुः । तथा वदताश्च तेषां मय माशयः । — पञ्चानां अपि पशूनां स्थाने एकस्योपधानादसावङ्घ्र्युः 'पञ्च' खल्वेतान् 'पशून्' उपदधाति । तथा च 'एकैकस्मिन् पशौ' 'सप्त-सप्त प्राणाः' विद्यन्ते । तस्मात् तावतां द्विरण्यशकलानां प्रत्य-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ ख ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ क ।

सनेन 'एतेषु सर्वेष्वपि प्राणान् दध्मः'-इति दूषयति— “न  
मथा कुर्यादिति ।

कथं तर्हि सर्वेषां पशूनां प्राणसङ्कटनेति तत्राह— “एतस्मिन्  
वा इति । ‘एतस्मिन्’ उपधीयमाने ‘पशौ एकस्मिन्’ एव ‘सर्वेषां  
पशूनां रूपम्’ अस्ति ; तेषां सर्वेषां मपि कार्यं एतस्यैव सामर्थ्याव-  
धारणात् । तस्मात् ‘एतस्मिन्’ समसङ्ग्याविशिष्टहिरण्यशकल-  
प्रत्यसनेन ‘सर्वेष्वपि’ पशुषु प्राणप्रतिसम्भानं सम्पादितवान्  
भवति ॥ १० ॥

तत्र प्रथमं मुखे शकलस्य प्रत्यसनेन विधत्ते— “मुखे प्रथम  
मिति \* । तत्र मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— “सम्यक् स्तवन्तीति † ।  
‘धेना इति अन्नम्’ उच्यते । ‘तदिदम्’ अन्नं ‘मुखम्’ ‘अग्निं’-लक्ष्य  
‘सम्यक् संस्तवति’ । कथं मिव ? ‘सरितो न’ सरित इवेति । अयं  
मर्थो मन्त्रभागेन प्रतिपाद्यत इत्यर्थः । द्वितीयं पादं व्याचष्टे—  
“अन्तर्हृदेति । ‘यः’ ‘ऋजुः’ अकुटिलाङ्गः , ‘तस्य’ ‘अन्तः’  
अरीरमध्ये ‘हृदा’ हृदयदेशेन ‘मनसा’ च ‘सता’ विद्यमानेन  
‘अन्नं’ पूतं भवति , सारासारभेदेन विवेचितं भवति । हृदय-  
देशस्य त्वनावतरणप्रदेशत्वात् शोधकत्वम् । ‘यः’ ‘ऋजुः’ अकु-  
टिलः शोभनवर्णा यजमानः , ‘तस्य’ मनसेति । तृतीयं पादं  
व्याचष्टे— “दृतस्य धाराः”-इत्यनेन । होथ्यमाणाहुत्यभिधान  
मभिप्रेत मित्याह— “दृतस्य धारा इति । चतुर्थपादे

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ ग ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. ७ घ ।

अग्निमध्यवस्थितहिरण्यमयपुरुषाभिधानं क्रियत इति व्याचष्टे—  
“हिरण्यमय इति ॥

तदयं मन्त्रस्यार्थः \* ।— अकुटिलावयवस्य अन्तर्मध्ये शरीरे ,  
हृदयेन विद्यमानेन , मनसा च शोध्यमाना , धेना अन्नानि ,  
हृदं मुखं मभिलक्ष्य स्तवन्ति ; यथा नद्यः समुद्रम् , तदत् ।  
तथाविधे अग्निं मुखे शकलं निदधामि । निहितं शकल-  
च्छेदं ‘अग्नेर्मध्ये यो हिरण्ययो वेतसः इति’ संस्तवन्ती ‘वृत्तस्य  
धाराः’ ‘अभिवाकशीमि’ अभिपश्यति । चाकशीमीति पुरुष-  
व्यत्ययः , यङ्लुगन्तस्य रूपम् † । ‘हिरण्य’-शब्दः ‘ऋत्य-  
वास्त्वोत्यादिना निपातितः ‡ ॥ ११ ॥

अथ दक्षिणनासाविवरे समन्त्रकं शकलनिधानं विधत्ते—  
“ऋचे त्वेतीति § । ‘इय’-इति दक्षिणनासाविवरस्याभिनयेन  
निर्द्दिशः । व्याचष्टे— “प्राणो वा इति । यतः ‘प्राणो वा’  
‘मर्चति’ प्राप्नोति ; प्राणवतैव सर्वस्य प्राप्तेः । अनेकार्थत्वात्  
धातूना मर्चतिरत्र प्राप्त्यर्थः । अतश्च ऋगिति प्राणः । तथा  
सति ‘ऋचे’ प्राणाय सञ्चरमाणाय प्रत्यस्यामीति मन्त्रार्थः ॥ ।  
सव्यनासाविवरं मध्यभिनयेन निर्द्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते—“रुचे त्वेतीति ¶ । ‘इह’-इति सव्यनासाविवरस्याभिनयेन

\* वा० सं० १३. ३८ ।

† पा० छ० २. ४. ७४ ।

‡ पा० छ० ६. ४. १७ ।

§ का० श्रौ० १७. ५. ८, ९ ।

॥ वा० सं० १३. ३८. १ ।

¶ वा० सं० १३. ३८. २ ।

निर्देशः । ‘प्राणो वै’ ‘रक्’ दीप्यमानः ; ‘प्राणेन हि’ शरीरा-  
दिकं दीप्यते । प्राणार्थं मेव ‘सर्वम्’ ‘इदं’ जगत् प्रियं भवति ॥

दक्षिणनेत्रं मभिनयेन निर्दिश्य समन्त्रकं शकलनिधानं  
विधत्ते \* — “भासेत्वेतीति † । ‘इह’ दक्षिणनेत्रे । “ज्योतिषे  
त्वेति ‡ । ‘इह’ सव्ये नेत्रे प्रत्यस्यति । यतः ‘इमे’ चक्षुषी  
‘भास्यती’ अर्थप्रकाशनलक्षणतेजोविशिष्टे, ‘ज्योतिष्मती’ स्वयञ्च  
ज्योतिर्विशिष्टे, अतस्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रयोः ‘भासे’ ज्योतिषे  
इति प्रयुक्तम् ।

आत्रयोः समन्त्रकं शकलप्रत्यसनं विधत्ते § — “अभूदिति ॥ ।  
‘इदं’ दक्षिणश्चोत्रं ‘विश्वस्य भुवनस्य’ समस्तस्य लोकस्य ‘वाजिनं’  
शब्दोपलब्धिसाधनम् ‘अभूत्’ । न केवलं मस्यैवाभूत्, अपि  
तु ‘वैश्वानरस्य’ अभूत् । अपि तु ‘वैश्वानरस्य’ सर्वजनानां  
जनकत्वेन सम्बन्धिनः । “तस्येदम्”-इत्यण् प्रत्ययः ¶, “नरे सञ्ज्ञा-  
याम्”-इति \*\* पूर्वपदस्य दीर्घः । तस्य ‘अग्नेः’ प्रजापतेरपि  
शब्दोपलब्धिसाधनं अभूत् । तादृशे तत्र त्वां प्रत्यस्यामीत्यर्थः ।  
“अग्निर्ज्योतिषेति †† । ‘ज्योतिषा ज्योतिष्मान्’ प्रशस्तज्योति-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १० ।

† वा० सं० १३. ३६. ३ ।

‡ वा० सं० १३. ३६. ४ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ५. ११ ।

॥ वा० सं० १३. ३६. ५ ।

¶ पा० सू० ४. ३. १२० ।

\*\* पा० सू० ६. ३. १२६ ।

†† वा० सं० १३. ३६. ६ ।

स्थानं, प्रशस्त्योतिर्विशिष्टोऽग्निरिव । 'वर्चसा वर्चस्वान्' प्रशस्त-  
वर्चोविशिष्टोऽग्निरिव । 'इव'-शब्दोऽध्याहार्यः । 'इदं' यद्वक्ष्येतरं  
श्रोत्रं प्रकाशते, तथाविधे तत्र त्वां प्रक्षिपामीत्यर्थः ॥

मन्त्रे विश्वपदप्रयोगस्याभिप्राय माह— “विश्ववतीभ्या  
मिति \* । यद्यप्यत्रैकस्या मेव विश्वपदप्रयोगः, तथापि प्राणभृ-  
त्यायेन लिङ्गसमवायादुभयोरपि विश्ववतीभ्या मिश्रभिधानं सुप-  
पद्यते । यतः श्रोत्रं 'विश्वं' विश्वव्यापकाकाशात्मकत्वात् ; अत-  
स्तत्र शकलप्रत्यसनमन्त्रे विश्वपदप्रयोगः ॥ १२ ॥

पशुशीर्षाणां सुपधानम्, तस्य स्थानविशेषम्, उपधाने  
प्रकारभेदम्, तदुत्पत्त्यादिकञ्च प्रदर्शयन्त्यन्तरम्, उपधानार्थं  
पुरुषशिरस उद्ग्रहणं विधत्ते— “अथेति † । उद्ग्रहणस्योप-  
योग माह— “महयत्येवमदेतदिति । एतेनोद्ग्रहणेन 'एतत्'  
पुरुषशिरो 'महयति', पूजयति सत्कृतवान् भवति ; अत-  
एव यजमानदेवत्वत्वाज्जुहुयम्यते, ऋतव्यदेवत्वत्वादुपभृन्नि-  
यम्यते ।

विहिते उद्ग्रहणे मन्त्रं विधाय, व्याचष्टे— “सहस्रदा  
इति ‡ । “सर्वं वा इति । यतः 'सहस्रं सर्वं' ; तस्मिन्नेव शता-

\* तत्पाठस्त्वैवम्—

“अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिन ममेवैवागारस्य च”—  
इत्येका ; अथापरा,—“अग्निर्ज्योतिषा ज्योतिषात् रुक्मो  
वर्चसा वर्चस्वान्”—इति । वा० सं० १३. ३६. ५, ४०. १ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १४ ।

‡ वा० सं० १३. ४०. २ ।

दीना मत्तर्भावात्, अतः 'सर्वस्य दातासि' । तस्मात् 'सर्वस्मै  
त्वा' उद्गृह्णामि 'इत्येतत्' उक्तं भवतीत्यर्थः । "सहस्रदा इति,  
विव्-प्रत्ययान्तं पदम् । "सर्वस्य दातासीति, पुरुषविवक्षया  
पुक्तिङ्गत्वम् ॥ १३ ॥

अथैतेषां पशूना सुपधान मनुष्य, तत्र पुरुषस्य प्राथम्यं  
विधत्ते — "अथेति \* । उपधाने पुरुषस्य प्राथम्यात् वीर्येण  
पुरुष मतिशयितं करोतीत्याह — "पुरुषं तदिति । उक्ताया  
सुपधानस्य विहितत्वात् तस्यां मध्ये पुरुषोपधानं तत्पा-  
र्ययोरितरपशूना सुपधानं कुर्यादित्यर्थः । "मध्ये पुरुषम्"—  
इति विहितस्य सन्निवेशस्य प्रयोजन माह — "पुरुषं तदिति ।  
'तत्' तेन सन्निवेशेनोपधाने पशूनां 'मध्ये' 'पुरुषम्' 'अत्तारं'  
भोक्तारं करोति ; भोक्तुः पार्श्वे भोग्यस्यावस्थानात् । 'तस्मात्'  
सम्प्रत्यपि 'पशूनां' मध्ये 'पुरुष एव' 'अत्ता' भोक्ता भवति ॥ १४ ॥

सामान्येनाभित इतरान् पशूनि १ विधानात् कस्य कुत्र  
पार्श्वे उपधान मिति विशेषजिज्ञासाया माह — "अश्वश्चा-  
विच्छेति ‡ ॥ १५ ॥

"गाञ्चाजच्छेति § ॥ १६ ॥

"मध्ये पुरुष मिति, पुरुषोपधानस्य मध्यस्थानं विहितम् ॥ ,

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. ११—१७ ।

† इतः पूर्वस्या मेव कङ्ठिकायां ( ३७१ पृ० ) दृश्यम् ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १५ ।

§ का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

॥ इहैव चतुर्दशकङ्ठिकायां ( ३७१ पृ० ) दृश्यम् ।



तत्रैव विशेषं विधत्ते — “पयसीति \* । उक्तामध्ये पयःपूर्तिर्युक्ता सुपदध्यात् । एवञ्च सति यजमानस्य पुरुषत्वात् पयसः पशुकार्यत्वेन पशुत्वात् तत्र ‘यजमान’ प्रतिष्ठापयति ।

विहिते उपधाने मन्त्रं विदधानः पदशो विभज्य व्याचष्टे — “आदित्यं गर्भं मिति † । पुरुष इति यत्, ‘एष आदित्यो गर्भः’ खलु, अदितेः सकाशाद्विवस्वदाख्य आदित्योऽजायत । तथा च श्रूयते — “ततो विवस्वानादित्योऽजायतेति ‡ । विवस्वत्सम्बन्धिनश्च सर्वे पुरुषा इति पुरुषस्याप्यादित्यगर्भस्त्वम् । तथा सति ‘पुरुषम्’ एव ‘पपसा समङ्घ्रित्येतत्’ उक्तं भवति । द्वितीयपादेऽपि ‘सहस्रस्य प्रतिमा’-इत्यनेन पुरुष एव विवक्षित इति दर्शयति — “सहस्रस्येति । यतः पुरुषस्यैव पशूनां ‘सहस्रं’ भवति, अतोऽयं सहस्रस्य सदृशः । अत एव तैत्तिरीयके श्रूयते — “सहस्रं वै प्रति पुरुषः पशूनां यच्छतीति § । तृतीयपादे ‘हरः’-शब्देनार्चिरुच्यते । ‘माभिसंस्था इति’ अनेन हिंसन मिति दर्शयति — “परिवृङ्घ्वीति । चतुर्थपादे ‘शतायुष’ कण्वहि-इत्येतदुच्चारणेन पुरुषस्य शतायुषं सम्पादयतीत्याह — “शतायुष मिति ॥

हे अग्ने ! ‘वीयमानः’ त्वं पूर्वोक्तप्रकारेणादित्यगर्भरूपं ‘सहस्रस्य’ ‘प्रतिमां’ सदृशम् ; अत एव ‘विश्वरूपम्’ पुरुषं ‘पपसा’

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १७ ।

† वा० सं० १३ ४१—४५ ।

‡ ते० सं० ६. ५. ६. २ । इहापि ३. १. ३. ४ द्रष्टव्यम् ।

§ ते० सं० ५. २. ६. ५ (५भा० ५१८०) ।

आर्द्राङ्गुल । किञ्च 'एनं' परितो वर्ज्य , 'अर्चिषा मा हिंसीः' ,  
'शतायुषश्च कण्वहि' इति मन्त्रार्थः \* ॥ १७ ॥

उत्तरतोऽश्वस्योपधान मनुष्य , तत्र मन्त्रं विदधानो व्याचष्टे  
— “अथेति † । ‘अश्व इति यत् , एष वा तस्य जूतिः’ खलु ।  
‘जूति’-शब्देन वेग उच्यते , तद्रूपत्वात् अश्वोऽपि तच्छब्देन ,  
वायुवेग इत्यर्थः । अपा मधिपतेः ‘वरुणस्य’ सम्बन्धित्वात्  
‘अश्वः’ ‘वरुणस्य नाभिः’ । अत एव श्रूयते— “प्रजापतिर्वरु-  
णायाश्व मनयदिति ‡ । ‘सरिरम्’-इति § आप उच्यन्ते , ‘अश्व-  
स्याप्सुजः’ खलु ; समुद्रमध्ये वडवारूपेणोत्पन्नत्वात् । अत एव  
“अप्सुयोनिर्वा अश्वः”-इत्यन्यत्र श्रुतम् ॥ । “अद्रिबुध मितेति ।  
‘अद्रिः’ इति , ‘गिरिः’ उच्यते ; ‘आपः’ ‘बुध्नाः’ गिरिमूलाः खलु ;  
ततोत्पद्यमानत्वात् । तथा च तथाविधजलसमुद्भूतत्वात् अश्वो-  
ऽपि गिरिबुध इत्यर्थः । “इमे वै लोकाः परमं व्योम”  
-इत्यनेन मन्त्रगतं व्योमपद मितरलोकयोरप्युपलक्षण मिति  
तद्वर्णितम् ।

हे ‘अग्ने !’ वायुवेगविशिष्टम् , ‘वरुणस्य’ ‘नाभिं’ नाभिस्थानी-  
यम् , ‘सरिरस्य मध्ये’ उत्पन्नम् , अत एव ‘नदीनां शिशुम्’ ,

\* वा० सं १३. ४१ ।

† का० औ० ख० १७. ५. १५ । ‘पूर्वं मन्त्रस्यापर मवेः ।

उक्ताया मेवोत्तरभागे शिरसी उपधेये’ ।

‡ तै० सं० २. ३. १२. १ (२भा ४५५८०)

§ ‘शरीरम्—इति’—इति छ-च-पुस्तकयोः ।

॥ उपरिष्ठात् १३क्रा० १प्र० ११क्रा० १६क० दृश्यम् ।

‘अद्रिबुध्नं’ गिरिमूलोत्पत्तिस्थानम्, ‘हरिम्’ भारीदुर्हर्तारम्,  
‘अश्वम्’ परमे व्योमन्\* उत्तमेषु पृथिव्यादिषु ‘लोकेषु’ ‘मा  
हिंसोः’-इति मन्त्रार्थः † ॥ १८ ॥

दक्षिणदेशे गोरुपधानं मनूय, सुतिवत् मन्त्रं विधत्ते—  
“अथेति ‡ । “इन्दुरिति । ‘सोमो हि इन्दुः’-इति, यतः ‘स एषः’  
‘अजस्रः’ सोमो हि ; सर्वदा पयोऽलक्षणस्यामृतस्य स्यन्दनात्,  
इन्दोषु कदाचिदुपपद्यो विद्यत इति तदभिप्रायेणाजस्रं मित्यु-  
क्तम् । ‘भुरण्यु मिति’ दोहनादिभिः ‘भर्तार मित्येतत्’ उक्तं  
भवति, गोजातीयस्य घृतत्वात् । अथ वा ‘गौः’ पुङ्गवः,  
‘अजस्रः’ सोमः, सर्वदा आह्लादकत्वात् ; कृषिसाधनत्वेन  
भर्तृत्वाद् ‘भुरण्यु मिति’ ।

“अग्निं मीढ इति । यतो ‘गौः’ आग्नेयः, ततोऽसावग्निः ।  
यतः ‘अग्निं’ प्राञ्च सुवरन्ति, ‘प्राञ्चम्’ एव होमादिना ‘उप-  
चरन्ति’, अतः अग्निः ‘पूर्वचित्तिः’ पूर्वस्मिन् प्रदेशे ‘चित्तिः’  
अनुष्ठेयस्य प्रतीतिर्यस्य, स तथोक्तः । “यद्वा इति । ‘एषः’  
अग्निः चीयत इति यत्, तेनैषः ‘पर्वभिः’ इष्टकाचित्तिलक्षणेः  
‘ऋतुशः’ तेन तेन ऋतुना ‘कल्पते’ ; चित्तिलक्षणानां पर्वणा  
ऋतुरूपत्वादित्यर्थः ।

“विराड् वा इति । अन्नसाधनत्वाद् विराजोऽन्नत्वम् † ॥

\* वा० सं० १३ ४२ ।

† का० औ० सू० १७. ५. १६ । ‘पूर्वं’ मोरपरं मन्त्रस्य । उखाया  
दक्षिणे भागे ।

‡ ‘तस्ये घृतं तस्ये शरः’-इति ( ३ भा० १६५८० ) इष्टवीर्याभिप्रायम् ।

गोरपि तथैवान्नत्व मिति , 'विराड्'-इति 'गौः' एवेत्यर्थः ।  
 सर्वदाज्ञादकत्वेन 'अजस्र मिन्दुम्' , 'अरुषम्' आरोचमानम् ,  
 कथादिसाधनत्वेन भर्त्तारम् , 'पूर्वचित्तिम्' पूर्वत्वानुष्ठेयप्रतीति-  
 विशिष्टम् , 'अग्निं' तदीयत्वेन तदात्मकं , 'गाम्' अतोपधानाय  
 'नमोभिः' नमस्कारैर्युक्तम् , 'अग्निम्' 'ईडे' । हे अग्ने ! 'पर्वभिः'  
 चितिलक्षणैः 'ऋतुशः कल्पमानः' तथाविधस्त्वं 'अदितिम्'  
 अखण्डनीयं 'विराजम्' , 'अन्नम्' अन्नसाधनम् , 'गां' 'मा हिंसीः'  
 इत्यर्थः \* ॥ १८ ॥

अथोत्तरप्रदेशे अवेरूपधान मनूय मन्त्रं विधत्ते —  
 "अथेति । "वारुणी च हीति । यतोऽविः 'वरुणस्य' अनिष्ट-  
 निवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीया ; रूपाणां निर्माता यः त्वष्टा ,  
 तस्यानुग्रहणायरूपयुक्ता ; अतोऽविः 'त्वष्टुर्वरुणी' , 'वरुणस्य'  
 नाभिः' च ॥

"ओत्रं वा इति । 'ओत्रं' खलु 'परं रजः' उत्कृष्टो  
 लोकः । तदेवोपपादयति — "दिशो वा इति । ओत्रं च  
 दिशः खलु ; तस्य तत्कार्यत्वात् । 'दिशः परं रजः' दिग्भ्य-  
 स्वावय उत्पद्यन्ते ; दिशां सर्वोत्पत्तिमन्निमित्तकारणात् । 'महीं  
 साहस्रीम्'-इत्यत्र , महोपदस्य महतीत्यर्थ इति दर्शितम् —  
 "महती मिति ।

मन्त्रार्थस्तु † , — हे 'अग्ने !' 'त्वष्टुः' वरुणीयरूपयुक्तां ,  
 'वरुणस्य' नाभिस्थानीयां , 'परस्माद्भजसः' दिग्भ्यो जातां ,

\* वा० सं० १३ ४३ ।

† वा० सं० १३. ४४ ।

‘महती’, सहस्रमूर्त्याह्वीम्, ‘असुरस्य मायां’ सुवर्भानोरसुरस्य सख्यश्रित्वेन निर्मिताम् । अत एव तैत्तिरीयके — ‘सुवर्भानुर्वा असुरः सूर्यं तमसाविध्यत्, तस्मै देवाः प्रायश्चित्ति मैष्टवस्य यत् प्रथमं तमोऽपन्नन् सा कृष्णाधिरभवदिति \* श्रूयते । तादृशीम्, ‘अविं’ पृथिव्यादिष्वेतेषु लोकेषु ‘मा हिंसीः’ ॥ २० ॥

अथ दक्षिणदेशे अजस्योपधानं मनूय, मन्त्रं विदधानो व्यावष्टे — “अग्नेति । “अग्निर्वा इति । ‘एवोऽग्निः’ अजः, ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ अग्नेः सकाशादुत्पन्नत्वादजस्याग्नित्वम् । अग्नेः सकाशादुत्पत्तिरेव प्रदर्श्यते — “शोकादिति । ‘यद्दे प्रजापतेः शोकादजायत’, ‘तद् दिवः’, ‘पृथिव्यै’ पृथिव्याश्च ‘शोकादजायत’; प्रजापतेस्तदात्मकत्वात् । अग्निरिति प्रजापतिरेषोच्यते, ‘यत् येनेत्यर्थः । ‘विश्वकर्मा’ प्रजापतिः ‘वाचः’ सकाशात् ‘प्रजाः’ ‘जजान’ । जनिरन्तर्भावितत्वर्यः, उत्पादितवान् । अजश्च वागात्मकः, ततश्च ‘येन’ ‘विश्वकर्मा’ प्रजाः ‘जजान’ । ‘यथैव यजुः तथा बभूवुः’-इति मन्त्रो यथैव, तथैव व्याख्याने स्पष्टार्थ इत्यर्थः ।

हे ‘अग्ने !’ उपधीयमानो ‘अः’ अग्न्यात्मकोऽजः ‘अग्नेः’ प्रजापतेः ‘अध्यजायत’ । तत् कथम् ? यतः ‘पृथिव्याः शोकात्’, अपि च ‘दिवः’ शोकाद्, अध्यजायत । किञ्च, ‘विश्वकर्मा जजान’, ‘येन’ ‘प्रजाः’ उत्पादयामास । तम् अजं ते ‘हिडः’ क्रोपः ‘परिहृणक्तु’ अपकर्णयतु † ॥ २१ ॥

\* ते० सं० २. १. २. ४ ( २भा० २६४८० ) ।

† वा० सं० १३ ४५ ।

प्रकृतानां पशूनां नानात्वात् पृथग्विधोपधानसादनानि कर्त्तव्यानीत्याह— “त एते पशव इति ॥ २२ ॥

उपधानानन्तरं पुरुषशिरसि होमं विधत्ते— “अथेति । अभिहोमस्योपयोग माह— “आहुतिरिति । यत् एषा खलु आहुतिः, तदात्मको ‘यज्ञः’ स्वात्, तथा सत्त्वभिहोमेन ‘पशूनां’ मध्ये ‘पुरुषं’ ‘यज्ञियं’ यज्ञार्हं ‘करोति’ । ‘तस्मात्’ ‘पुरुष एव पशूनां’ मध्ये ‘यजते’ ॥ २३ ॥

न केवलं मभिहोमस्य यज्ञियत्वं मेव प्रयोजनम्, अपि तु तस्य कीर्यत्वं मपीत्याह— “यद्देवेति । ‘एतत्’ पुरुषशीर्षम् ‘अभि-’ सत्त्व ‘लुहोति’ इति ‘यत्’, तेन ‘शीर्षम्’ शीर्ष्णि ‘वीर्यं दधाति’ । “शीर्षं गृह्णतीति \* शिरःशब्दस्य शीर्षवादेशः । तत उत्तरस्याः सप्तम्याः “सुपां सुलुगित्यादिना † लुक् ॥

एतदेव कीर्यनिधानं मभिहोमसाधनभूताज्यसुवादीनां मध्ये प्रत्येकसाध्यतया दर्शयति— “आज्येनेत्यादिना । आज्यस्य वज्रत्वं तैत्तिरीयके श्रुतम्— “वृतं खलु वै देवा वज्रं कृत्वा सोमं मघन्निति ‡ । वज्रस्य ग्रहणरूपत्वाद्दीर्यत्वम् । “वृषा वै सुवः”—इति § वृषा पुरुषः । सुवस्य पुंसिङ्गत्वाद् वृषत्वम् । वृष्णो कीर्यत्वाद्दीर्याधानहेतुत्वं मिति स्वाहाकारस्याप्येव

\* पा० सू० ६. १. ६० ।

† पा० सू० ७. १. ३६ ।

‡ तै० सं० ६. २. २. ७ (६ भा० ३६८०)

§ “वृषा वै सुवः, वृषा सुवः”—इतीहैव १. ३. १. ६ (१ भा० १७६८०) द्रष्टव्यम् ।

मेव वीर्यत्वम् । “वज्रो वै त्रिष्टुबिति । त्रिष्टुभो हननसाध-  
नत्वसादृश्याद् वज्रता । तथा च वज्रस्य वीर्यरूपत्वात्  
त्रिष्टुभोऽपि वीर्यतया त्रिष्टुबात्मकेन ‘वीर्येणैव’ हेतुना ‘अस्मिन्’  
पुरुषशिरसि ‘वीर्यं दधाति’ ॥ २४ ॥

चित्रं देवानां सुदगादित्यस्याभिहोममन्त्रस्य पूर्वेणाहैनैका-  
हुतिः क्रियते, अपरेण चान्या; अत एव कात्यायनः,—  
“चित्रं देवाना मित्यर्द्धर्चेन सुवाहुतिरिति \* । तत्र पूर्वार्द्ध-  
साध्या माहुतिं दर्शयति— “स वा अर्द्धर्च मिति । ‘सः’ खल्वहुयः  
‘अर्द्धर्च मनुदुत्य’, स्वाहाकारेणैका माहुतिं सम्पादयेदित्यर्थः ।  
ननु किमर्थं मर्द्धर्चे स्वाहाकरण मित्यत आह— “अस्थि  
वा ऋगिति । ऋचोऽस्यात्मकत्वं पादबन्धेन दार्ढ्ययोगात् ।  
ऋचो दार्ढ्यं तैत्तिरीयकेऽधीयते— “यदृचा तद् दृढ मिति † ।  
तथाच सति ऋचो विभागेन तद् ‘इदं’ पुरुषसम्बन्धि ‘शीर्ष-  
कपालम्’ ‘विहाप्य’ विभिय । “ओ हाक् त्यागे” ‡, खलन्तस्य  
त्यपि रूपम् । ‘शीर्णः’ शिरसोऽन्तरे ‘यदिदम्’ अत्र विद्यमानं  
‘वीर्यम्’ ‘तदस्मिन्निदधाति’; आन्यखाहाकारयोर्वीर्यात्मकत्वा-  
दित्यर्थः ॥ २५ ॥

अथोत्तरार्द्धसाध्या माहुतिं दर्शयन् तत्राप्युपयोग माह—  
“अथेति । “इदं तदिति । पूर्वम्, अन्तरे वीर्यनिधानार्थं कपाल-

\* का० श्रौ० सू० १७. ५. १८ ।

† तै० सं० ६. ५. १०. १२ ।

‡ जु० प० ८ धा० ।

मेदनात्, पुनः 'तत्' 'कपालं' 'सन्धाय' शिरस उपरितनं  
'वीर्यम्' अत्र निहितवान्, "स वा अर्धर्धं मनुद्बुल्येत्यादिना \*  
सूचितम्॥ ॥ २६ ॥

मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे— "चित्रं देवाना मिति † । 'एषः'  
उपधोयमानः 'पुत्रः', 'असौ' परिदृश्यमानः 'आदित्यः'  
खलु ; आदित्यस्य सर्वात्मकत्वात् । आदित्यमण्डलञ्च 'देवानां'  
रश्मीनां 'चित्रं मनोकं' समुदायः । तथा सति 'अस्य' पुत्र-  
पत्न्योपधाने 'तदेतत् चित्रं देवानां मनोकम्' 'उदेति' ; अत  
उच्यते— "चित्रं देवाना मुदगादनीकम्"—'इति', मन्त्रेणेत्यर्थः ‡ ।  
"चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः"—'इति', एवमित्यादि देवताग्रहण  
मन्त्रेषा मय्युपलक्षणम् । उभयान् प्रत्यस्य प्रकाशकत्वं साधा-  
रण्यादिति दर्शितम्— "उभयेषा मिति । "उद्यन् वा इति ।  
उद्यमानः सन् 'एषः' आदित्यः 'इमान्' पृथिव्यादीन् लोकान्  
'आपूरयति' प्राणैः समर्थयति, चेष्टयतीत्यर्थः । एतच्च तैत्ति-  
रीयके श्रूयते— "असौ य आपूरयति, स सर्वेषां भूतानां प्राणै-  
रापूरयति"—इति § । अत उक्तम्— 'आप्राः'—इति, "प्रा पूरणे" ॥,  
लिटि रूपम् । "सूर्य आत्मा जगत्सुखेष्व"—'इति', अनेन  
स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतोऽयं सूर्यश्चेष्टकत्वेन अन्तर-  
आत्मेति विवक्षित मित्याह— "एष हीति । 'जगत्' गच्छत्, जङ्ग-

\* एतत्पूर्वस्या मेव कण्डिकायां ( ३७५ पृ० ) दृश्यम् ।

†, ‡ वा० सं० १३ ४६ ।

§ तै० आर० १. १४. १. ३ ।

॥ अथाः प० ७७ धा० ।



मात्मकं जगत् ; तिष्ठत् , स्वावरात्मकम् । “अन्तेभ्योऽपि दृश्यते”-  
इत्यत्र \* “युतिगमिषु हीतोनां द्विर्वचनम्”-इत्यनुशासनात् †  
किपि द्विर्वचने जगदिति भवति ॥ २७ ॥

अभिहीमानन्तर सुपहितानां पुरुषशिरःप्रभृतीनां पशु-  
शिरसा सुक्षर्गनामकैर्मन्त्रैरुपस्थानं विधत्ते — “अथेति ‡ । वि-  
हितमन्त्रसाध्यस्योपस्थानस्य प्रयोजनाभिधानं प्रतिजानीते—  
“एतद्वा इति । ‘एतत्’ खलु प्रयोजनं मित्यर्थः । तदेव दर्शयति  
— “यज्ञैतानिति । ‘यज्ञ’ यस्मिन् प्रस्तावे ‘प्रजापतिः’ ‘एतान्’  
पुरुषसुस्थान् ‘पशून्’ आलभ्यु मैच्छत् , तदा ‘आलिप्सामा-  
नास्ते अशोचन्’ ; आलभ्यस्य शोकहेतुत्वात् । ततः ‘तेषां’ ‘शुचं’  
शोकरूपं पापम् ‘एतैः’ वक्ष्यमाणैः उत्सर्गमन्त्रैः अपहतवान् । ‘तथैव’  
‘अथम्’ अपि यजमानः एतेनोपस्थानेन ‘एषां’ शोकरूपं पापम्  
‘अपहन्ति’ । “मयु मारण्य मनु ते दिशामीत्यादिना § आरण्य-  
पशुसर्गप्रतिपादनेन तेषां सुक्षर्गत्वम् ; शोकोत्सर्गहेतुत्वाद्वा ॥ २८ ॥

अथ पञ्चानां मपि शीर्षाणां सुपधानानन्तरम् उत्सर्गमन्त्रैरुप-  
स्थानं मिति स्वकीयं मतम् ; तथैवोक्तत्वात् । अपरे पुनरचा-  
ष्टानकमे किञ्चिद्वैषम्यं माचक्षते । तस्मत् दूषयितुं मनुष्यदिति  
— “तद्वैक इति । तथा कुर्वताश्च तेषां माशय माह—  
“नेदिति । पूर्वं सुपहितस्य पशोः शोकं सुत्सारितं मभिलक्ष्यैवो-

\* पा० सू० ३. २. १७८ ।

† पा० ८. १. १४ सू० वा० ।

‡ का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

§ तै० सं० ४. २. १०. १ ।

त्तरपशोरुपधानं स्यात्, अतस्तस्माभूदिति तथा कुर्वन्ती-  
त्यर्थः । तस्मत्तम् दूषयति — “ते हेति । तथाविधाभिप्राय-  
वत्तस्ते खलु याज्ञिकाः शीकरूपं पापं मभिलक्ष्यैव ‘उप-  
दधति’ । यतः ‘पूर्वस्य’ पूर्वपशोः ‘यां शुचं सुलृजन्ति’, ‘ताम्’  
एव ‘उत्तरेण सह उपदधति’ ; निवृत्तसजातीयानुवृत्तिभावा-  
दित्यर्थः ॥ २८ ॥

अथैतेषां मेवोपस्थाने केषांश्चिच्छास्त्रिणां प्रकारविशेषं  
दूषयितुं मनुवदति — “विपरिक्राम मिति । पशूनां ‘शुचं  
मूर्धां सुलृजाम् इति’, केचिद् विपरिक्रम्य विपरिक्रम्योपति-  
ष्ठन्ते ; उत्क्रमणपूर्वकत्वाद् विपरिक्रमणस्येति । तथोपस्थाने शोकः  
जडं एवोत्सृष्टो भवतीति तेनोपतिष्ठन्त इति भावः । तदपि  
दूषयति — “ते ह ते इति । तथाविधाभिप्रायवन्तः ‘ते’  
शीकरूपं पापम् ‘अनूद्यन्ति’ विपरिक्रमणार्थं मुहमने कृते  
शोकं प्रत्यनुगतवन्तो भवन्ति । अतो न तथा कुर्यात् । कथं  
तर्हि शोकं जडं सुलृष्टो भवतीति तत्राह — “जडं हीति ।  
‘एतेन’ उपधानलक्षणो ‘कर्मणा’ ‘जडः’ अङ्गुर्युरिति ; उत्तरोत्तरं  
मेतेषां शिरसा उपधानात् । अतस्तेनैवम् ‘जडं’ उत्सृजन्ति’ ।  
व्यत्ययेन बहुवचनम्, प्रयोगबहुत्वापेक्षं वा ॥ २९ ॥

अग्नेर्वहिर्देशे शोकं सुलृजदित्याह — “वाहोनेति । अग्ने-  
र्वाहदेशेनोपलक्षिते शुचं सुलृजदित्यर्थः । ‘अग्नि मिति,  
षष्ठ्यर्थे द्वितीया व्यत्ययो द्रष्टव्यः । “इमे वै लोकाः”-इत्य-  
स्यायं मर्थः — अग्नेः प्रजापत्यात्मकत्वेन ‘तत्’ पृथिव्यादिलोका-  
त्मनोक्तत्वात् तस्य बहिर्देशे शोकोत्सर्जनेन ‘लोकेभ्यः’ एव

शोको 'बहिर्द्वा' भवतीति । बाह्येनैवाग्निमित्यनेनाग्नि-  
प्रदेशव्यतिरिक्तदेशे विधानाद् वेदिमध्येऽपि स्यादित्यत आह—  
“बहिर्वेदीति । वेद्या बहिः । “अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या”—  
इति \* अव्ययीभावसमासः । बहिर्वेदि शोकोत्सर्गे वेद्याः कृत्स्न-  
पृथिव्यात्मकत्वात् तस्या बहिरेव शोक उत्सृष्टो भवतीति  
दर्शितम्— “इयं वा इत्यादिना । ‘उदङ्’ उत्तरस्यां दिशि  
वक्ष्यमाणा मयुप्रभृतयः पशवोऽवतिष्ठन्त इति तत्र शोकनिधा-  
नाय उदङ्मुखस्तिष्ठन्नुत्सृज्यदित्याह— “उदङ् तिष्ठन्निति ॥ ३१ ॥

उत्सर्गमन्त्रैरुपस्थानम्, तत्र स्वाभिमतप्रकारं, देशविशेषम्,  
षड्वर्चोर्ववस्थानविशेषञ्च प्रदर्श्य, उपधानक्रमेणैव पुरुषस्य  
शोकं पूर्वं मुक्तृजदित्याह— “पुरुषस्येति † । तत्र मन्त्रविशेषं  
प्रदर्शयन्, पदशो विभज्य व्याचष्टे— “इमं मा हिंसीरिति ‡ ।  
‘द्विपादिति । “सङ्ख्यासुपूर्वस्येति § पादशब्दान्धस्य लोपः ।  
‘हिरण्यशकलैर्वा एष सहस्राक्षः’ इति, सहस्रशब्दो बहुत्व-  
स्योपलक्षणार्थः ; हिरण्यशकलानां मत्र सहस्रसङ्ख्यानां मभा-  
वात् । अथवा उत्तरत्र सहस्रसङ्ख्याकैर्हिरण्यशकलैः प्रोक्ष्य-  
माणत्वात्, तदभिप्रायेण सहस्रसङ्ख्या । हिरण्यशकलानां प्रका-  
शकत्वेनाक्षिप्तोपचारः— “आत्मा वै तनूरिति । तेनाधिष्ठित-  
त्वादित्यर्थः । स्पष्टं मन्यत् ॥

\* पा० सू० २. १. १२ ।

† का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

‡ वा० सं० १३. ४७ ।

मन्त्रस्थाय मर्यः— हे 'अग्ने !' 'हिरण्यशकलैः' 'सह-  
स्राक्षः' 'मिधाय' 'चीयमानः' त्वं पशूनां मध्ये 'दिपादम्' 'इमं'  
पुरुषं 'मा हिंसोः' । वदि तव भक्ष्यापेक्षास्ति , तर्हि 'आरण्यम्'  
'किम्पुरुषम्' उत्सृजामि , 'तेन' किम्पुरुषेण 'आत्मानं' 'पोषयत्'  
'संस्क्रुष्व' । 'ते' सम्बन्धिनी 'शुक्' 'मयु' प्राप्नोतु ॥ ३२ ॥

अथाश्वस्य शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् , पूर्ववद् व्याचष्टे—  
“अथेति \* । “कनिक्रदो वा एष इति । 'एषः' अश्वः 'कनिक्रदः'  
अत्यर्थं क्रान्दिता 'वाजिनेषु' वेगवत्सु 'वाजी' अत्यर्थं वेगयुक्तः ,  
अतो युक्तं कनिक्रद मितौत्यर्थः ॥

'गौरः' सिंहः । स्पष्टार्थं मन्यत् † ॥ ३३ ॥

अथ गोः शोकोत्सर्गमन्त्रं प्रदर्शयन् व्याचष्टे— “अथ गो-  
रिति ‡ । “साहस्रो वा इति । गौरिति यत् 'एषः' 'साहस्रः'  
सहस्राक्षः , सजातीयधेनुद्वारा शतसङ्ख्याकक्षीरधारासम्पन्नः ।  
अत एव 'उत्सः' । कुतः ? तस्यानेकजलधारावाहित्वादस्य चानेक-  
क्षीरधारावाहित्वात् उत्स इवीपचारः । “घृतं वा एषेति ।  
'अदितिः' अखण्डनीया , अदीना वा 'एषा' गौः , 'जनाय' 'घृतं'  
दुहे' क्षीरादिद्वारा तस्य सम्पादनात् । अत्रापि सजातीय-  
धेनुद्वारा घृतदोहनम् । तदपेक्षं बात्र स्त्रीलिङ्गम् । 'दुह इति'  
“लोपस्त आत्मनेपदेष्विति § तकारलोपः । स्पष्टं मन्यत् ॥ ३४ ॥

\* , † का० श्रौ० सू० १७. ५. १६ ।

† वा० सं० १३. ४८ ।

§ पा० सू० ७. १. ४१ ।

॥ वा० सं० १३. ४६ ।

“अथावेरिति । शोकोक्तगमनं प्रदर्शयन् व्याचष्टे — “उभयेषां द्वेष इति \* । ‘द्वेषः’ अविरूपः पशुः ‘उभयेषां पशूनां’ ‘द्विपदां’ मनुष्याणाम्, ‘चतुष्पदाम्’ अश्वादीनाञ्च त्वग्रूपम् भवति; स्वकीयत्वचा तेषां माच्छादनात् । मनुष्यास्तावच्छीतनिवारणयाविजेन कम्बलेन शरीरं माच्छादयन्ति । चतुष्पादोऽश्वा बलीवर्दाश्च स्वभारवहने मार्दवाय पृष्ठे कम्बलेनाच्छादिता भवन्ति । “एतदेति । ‘त्वष्टा’ प्रजानां निर्माणादेव प्रजानां मध्ये ‘एतद्रूपम्’ अविरूपम् पशुं ‘प्रथमं’ ‘विचकार’ उत्पादितवान् । अत उक्तं “त्वष्टुरिति । विशदार्थं मन्यत् † ॥ ३५ ॥

अथाजस्य मन्त्रं दर्शयन् व्याचष्टे — “अथेति । “यद्वै प्रजापतेः शोक्नादजायतेति । ‘यत्’ तेनाग्नेरेव शोकादजायत, तस्य तदात्मकत्वात्; अत एव प्रागुक्तम् — “अग्निर्वा एषेऽग्नेरध्यजायतेति । “प्रजापतिर्वा इति । सर्वोत्पादकत्वात् ‘प्रजापतिर्जनिता’ खलु । स जातो अजः प्राक् प्रजापतिं न पश्यत्, अत उक्तं “सोऽपश्यदिति ‡ । “प्रकृत्यान्तःपादं न व्यपरे”-इति § प्रकृतिभावात्, “यङ्कः पदान्तादतीति ॥ पूर्वरूपत्वं न भवति । “तेन देवा इति । अजस्य वागात्मक-

\* का० औ० छ० १७. ५. १८ ।

† वा० सं० १३. ५० ।

‡ मूले तु ‘सोऽपश्यत्’ इत्येव महृष्टसर्वपुस्तकेषु ।

§ पा० छ० ६. १. ११५ ।

॥ पा० छ० ६. १. १०३ ।

त्वम् ; तज्जन्यत्वात् । तत् पुनः प्रागुक्तम्— “वाचोऽज मिति ।  
‘देवाः’ खलु ‘अग्ने’ वाच मिमा माश्रित्य देवत्व माप्नुवन् ।  
‘वाचः’ इति ख्यलोपे पञ्चमी \* । स्तोत्रशस्त्रादिरूपया वाचा  
यज्ञनिष्पत्तेः, यज्ञस्य च देवत्वप्राप्तिहेतुत्वाद् वाच माश्रित्य  
देवत्वं प्राप्नुवन्नित्यर्थः † ।

“उपमेध्यास इतीति । मेधाहर्ताः यज्ञाहर्ताः इत्यर्थः ।  
“अजसेरसुगिति ‡ अमुगागमः । शरभो नाम सिंहघातकः  
कश्चिन्मृगविशेषः § । स्पष्ट मन्यत् ॥ ३६ ॥

अथानुद्देश्यानां मयुप्रभृतीनां पशूनां शोकादेवोत्पत्तिम्,  
ब्राह्मणस्य तदभख्यताञ्च दर्शयन्, दिग्विशेषे तेषां निधान माह  
— “तदाहु रिति ॥ । ‘तत्’ तदा, पञ्चालम्भानन्तरम्, ‘प्रजा-  
पतिः’ ‘एतेषां’ पुरुषादीनां ‘पशूनां’ ‘यां शुचं’ पशुपापरूपा  
मपहतत्वात्, ‘ते’ एव ‘एते’ मयुप्रभृतयः ‘पञ्च पशवो’ भवन्ति ।  
‘तत्’ तत्र पशुविषये वेदविदः ‘आहुः’, अतः ‘ते’ पशवः  
‘उक्तान्तमेधाः’, तस्यैवार्थप्रदर्शनम् ‘अमेध्या इति, एतस्यैव विव-  
रणम् ‘अयज्ञिया इत्यपि । अतश्च ‘तेषां’ मध्ये क मपि पशुं  
‘ब्राह्मणो नाश्रीयात्’ । तथाविधानमाद्यान् पशून् ‘एतस्यां  
दिशि’ । एतस्या मिति अभिनयेनोत्तरदिशो निर्देशः । तत्र

\* पा० १. ४. ३१ छ० १, २ वा० ।

† वा० सं० ३. ५१. ।

‡ पा० छ० ७. १. ५० ।

§ “शरभोऽष्टापदमृगविशेषः सिंहघाती”—इति वा० सं० भा० महीधरः ।

॥ का० श्री० १७. ५. २० ।

निदधाति । 'तस्मात्' 'एतस्याम्' उत्तरस्यां 'दिशि' 'पर्जन्यः' 'न वर्षुक्तः' न वर्षति, 'यत्र' 'एते' पशवोऽवतिष्ठन्त इति कृत्वैत्यर्थः । उत्तरस्यां दिशि क्वचिन् मरुभूमौ पर्जन्यो न वर्षतीति प्रकृता ऋगा अपि तत्रैव प्रचुरा इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

उपस्थानानन्तरम्, पुनरग्निस्मीप भागत्योपतिष्ठत इत्याह — "प्रत्येत्येति \* । तत्र कारणम् प्रतिजानीते— "एतद्वा इति । "एतदयथेति । 'अग्नौ' 'सामिचिते' अर्हचिते । 'बहिर्वेदेति' 'यत्', 'तत्' कर्म यथायथम्, यथास्वम् ; 'अयथायथम्' यथायथं न भवतीत्यर्थः, तथा कृतवान् भवति । अत उपस्थानेनाहिसार्थं 'तस्मै' 'अग्नये' 'एतत्' निष्कवनं करोति । निष्कवनं मपनयः †, बह्विर्वेदिगमननिबन्धनं मपराधं परिमार्ष्टीत्यर्थः ॥

उपस्थानमन्त्र आग्नेयो गायत्रीऽनिरुक्तो यविष्ठशब्दयुक्तश्च भवेदित्याह— "आग्नेय्येत्यादिना । अग्नेर्गायत्रत्वं षष्ठकाण्डे प्रदर्शितम् ‡ । "अनिरुक्तयेति । अविस्पष्टदेवतया । यत्र देवताविशेषवाचकं पदं नास्ति, तदनिरुक्तम् । 'यविष्ठ'-शब्दसु गुणवचनः, न पुनरिन्द्रादिशब्दवत् कस्यचिद्देवताविशेषस्य वाचकः । अनिरुक्तत्वादेवास्याग्नेयत्वम् । अनिरुक्तो मन्त्र आग्नेयः प्राजापत्यो वा भवतीति अनिरुक्तस्य सर्वत्वम्, साधारण्यात् ; तत् पुनर्देवताविशेषाप्रतिपादकत्वात् ।

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. १ ।

† अत्र नानापुस्तकेषु नानाविधाशुद्धयोऽंशो दृश्यन्ते ।

‡ "तस्मादग्निर्गायत्र इति"— इति ६ का० १. १. १५ ।

“एतच्चेति । ‘अस्य’ अग्नेः ‘यविष्ठ इति यत् एतत्’ पदम् ,  
तत् ‘प्रियं’ ‘धाम’ नामधेयम् । अथान्नौ यविष्ठपदप्रवृत्तिनिमित्तं  
दर्शयति — “यद्वा इति । यतोऽयं मग्निर्विराड् रूपत्वात् ‘इदं सर्वं’  
कृत्स्नं मपि जगत् ‘अयुवत’ मिश्रितवान् , व्याप्तवानित्यर्थः ।  
‘तस्माद्’ असी अग्निः ‘यविष्ठः’ । ‘अयुवतेति “यु मिश्रणामिश्र-  
णयोः”—इत्येतस्य \* लङि व्यत्ययेन शब्दिकरणे रूपम् । ‘यविष्ठ  
इति, “यु मिश्रणे” †, तस्य पचाद्यचि ‡, युवशब्दादिष्ठन्प्रत्यये §  
रूपम् । इष्ठन्प्रत्ययस्य तद्धितत्वात् , तद्धितानाञ्च प्रातिपदिका-  
दित्यधिकारात् , प्रातिपदिकात् स्नाद्युत्पत्तेः । इदं सर्वं मयुवत ,  
तस्माद् यविष्ठ इत्यर्थः । प्रदर्शनमात्रे तात्पर्यम् , यु-धातोरिष्ठनि  
‘यविष्ठ’-शब्द इति ॥ प्रतिपाद्यते ॥ ३८ ॥

मन्त्रं व्याचष्टे—“त्वं यविष्ठेति ॥ । हविरादेर्दाढत्वाद्यजमानो  
‘दाश्नान्’ । “दाश्नान् साह्मनित्यादिना \*\* “दाश्ट दाने”—इत्य-  
स्माद् †† दाश्नान् शब्दो निपातितः । ‘तृः’पादोति “तृन्  
पे”—इति ‡‡ नकारस्य रुः , “अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा”—

\* , † अदा० प० २३ घा० ।

‡ पा० ख० ३. १. ११४ ।

§ पा० ख० ४. ६. १५६ ।

॥ पा० ख० ५. ३. ६४ ।

¶ वा० सं १३. ५२ ।

\*\* पा० ख० ६. १. १२ ।

†† भ्वा० उ० १८२ घा० ।

‡‡ पा० ख० ८. ३. १० ।



इत्यनुनासिकादेशः \* । 'शृणु' धीति , "शृणुपृक्तवभ्यन्कश्चसि"  
-इति † हेर्द्विरादेशः । "रक्षा तोक मिति । 'रक्षेति "इचो-  
ऽतस्तिङः"-इति ‡ दीर्घः । 'क्षनेति "मन्त्रेष्वध्यादेरात्मनः"-  
इत्यादिलोपः § । हे 'यविष्ठ !' अग्ने ! त्वं 'दाशुषे' यजमानस्य ।  
षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ॥ । 'नृन्' मनुष्यान् 'पाहि', 'नः' अस्माकं 'गिरः'  
सुतिरूपा वाचः 'शृणु' । न केवलं यजमानसम्बन्धिमनुष्यपालनं  
त्वया कार्यम्, अपि तु आत्मना सहितं 'तोकं' प्रजासन्ततिं  
'रक्ष' 'इति' मन्त्रार्थः ॥ ३८ ॥

उपस्थानानन्तर मग्निं पश्चाद्भागेनारुह्य, स्वयमाहवां  
प्रदक्षिणीकृत्य, गत्वा, अपस्याख्या इष्टका उपदध्यादित्याह  
— "आरुह्याग्नि मिति ¶ । अपस्योपधाने प्रयोजनं दर्शयितुं  
तावदेतासा मवात्मकत्वं माह — "आप एता इति ।  
तत्प्रयोजनं माह — "अथ वा इति । 'अथ' खलु आलम्भ-  
समये 'एतेभ्यः' पुरुषादिभ्यः 'पशुभ्यः' 'आप उत्क्रान्ता  
भवन्ति', अतश्चापस्थाना उपधाने तासां मवात्मकत्वात् एतेषु  
'पशुष्वेव' 'अपः' निहितवान् भवति । तासां पशुशिरःसु अव्यवधा-  
नेनोपधानं माह — "अनन्तर्हिता इति । एकैकस्मिन् प्रदेशे

\* पा० सू० घ. ३. २ ।

† पा० सू० ६. ४. १०२ ।

‡ पा० सू० ६. ३. १३५ ।

§ पा० सू० ६. ४. १४१ ।

॥ पा० २. ३. ६२ सू० १ वा० ।

¶ का० श्रौ० सू० १७. ६. २ ।

पञ्च-पञ्चोपदध्यादित्याह — “पञ्च-पञ्चेति । पञ्च-पञ्च सर्वास्तु  
दिक्षूपधेया इत्याह — “सर्वत इति ॥ ४० ॥

प्रतिदिशं पञ्चानां सुपधाने विंशतिः सम्पद्यन्ते, तत्र  
याः पञ्चदश पूर्वा इष्टकाः, ता अपस्याख्या भवन्तीत्याह  
— “तथा इति । पञ्चदशसङ्ख्यानां मेवापस्यात्वं सुपपाद-  
यति — “वज्रो वा इत्यादिना । अपां वज्रत्वं नैशित्याद्यर्थं  
तत्त्वेचनात् \* । तदेव श्रूयते — “तस्मादिन्द्रोऽबिभेक्ष प्रजापति  
सुपाधावच्छत्रुर्मैजनीति, तस्मै वज्रं सित्ता प्रायच्छदेतेन  
जहीति † । पञ्चदशस्य वज्रात्मकत्वं वीर्यवत्त्वात् । तत् पुनः  
प्रजापतेर्वीर्यवत्प्रदेशादुत्पत्तेः । अत एव श्रूयते — “उरसो  
बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमौतेत्यारभ्य, “तस्मात्ते वीर्यवन्तो  
(भवन्ति ‡) वीर्याङ्गसृज्यन्तेति § । यत एवम्, तस्माद्येन मार्गेण  
आपो यन्ति, तत्र पाप्मानं घ्नन्त्येव; अपां वज्रत्वात् ।  
वज्र एव खलु तस्य भागस्य पाप्मानं मपहन्ति । ‘तस्मात्’  
पापहननादेव ‘वर्षति’ पर्जन्यः । ‘वज्रः पाप्मानम्’ ‘अपह्नतु’  
मपहन्तु ‘इति’ ‘अप्रावृतः’ एव ‘व्रजेत्’ ॥ ४१ ॥

अपस्याभ्यः पञ्चदशभ्य उत्तराः पञ्चेष्टका विद्यन्ते, ताः छन्दस्या  
इत्याह — “अथेति । छन्दस्यानां सुपधानेन पशुपूक्तान्तमांस-  
प्रतिनिधानं भवतीत्याह — “पशवी वा इत्यादिना । पशूनां

\* अत्र हि सर्वेभ्येव मङ्गरेषु पुस्तकेषु अशुद्धः पाठः ।

† तै० सं० १. ५. २. ३ ।

‡ तत्र संहितायां मेतत् पदं नाधीयत इति ध्येयम् ।

§ तै० सं० ७. १. १. ७ ।

हृन्दस्व' यन्नसाधनत्वात् ; अथवा जगत्यानीतत्वात् । एतत्तैत्ति-  
रीयके श्रूयते— “जगती मुदपतश्चतुर्दशाक्षरा सती, साप्राप्य  
न्यवर्त्तत, तस्यै द्वे अक्षरे अमीषेताः, सा पशुभिश्च दीक्षया चा-  
नच्छदिति \* । “अथ सु पशोर्मांस मित्यनेनान्नं पशव इत्ये-  
तदुपपादितम् । एवञ्च सति हृन्दस्थानां पश्चात्प्रकृतेन मांस-  
रूपत्वात् आलम्भावसरे उक्रान्तानि मांसानि पुनरितेषु  
प्रतिनिहितवान् भवति । तासां मध्यपस्यावदवधानेनोपधानं  
माह— “अनन्तर्हित मिति । अपा मुदरमध्यवर्त्तित्वेन अन्तर-  
त्वात् मांसानां ततो बाह्यत्वम् । तथैवापस्या अन्तराः, हृन्दस्था  
बाह्या भवेयुरित्याह— “अन्तरा अपस्या इति । उक्तप्रकारेण  
पशुश्चापो मांसानि च सम्पादितानि ॥ ४२ ॥

नैतावता तेषां कार्त्तुं सम्पद्यते ; किम्पुनस्ततोऽपि बाह्यो-  
स्वस्त्वोन्मोरपि कारणत्वेनाज्ञत्वात् । हृन्दस्थानां चान्नात्मकत्व-  
स्योक्तत्वात् उपधानेनैव तयोरप्युपधानं सम्पादित मिति,  
तदाह— “तदाहुरित्वादि । तस्मिन्नेव दर्शितम्— “अन्नं वाव  
पशोरिति । प्रकारान्तरेण पशूनां लोमसम्पत्ति माह— “अथो  
इति । कृष्णाजिनलोमानुवक्ष्या मृदा उखाया निर्माणात्,  
उखायाश्चाजालोमानि † सन्तीति, तान्येव पशूनां लोमानि  
भवन्ति । लोमाधारत्वेनोखाया अभिधानात् उखालोमानौत्वमि-  
षेत्त्व “बाह्योखा भवतीत्यादिनोक्तस्यैवार्थस्योपपादनम् ॥

\* ते० ख० ६० १० ६० ४ ।

† ‘उखायां यानि लोमानि’—इति ख-पाठः ।

त्वन्मोमसम्पादने उक्तं पक्षद्वयं मपि अभिमतं मित्याह—“य-  
दीति । ‘यदि’ ‘इतरेण’ अन्येन प्रकारेण तत्सम्पादनं भवति, तर्हि  
तथैवास्तु । अथ वा ‘इतरेण’ प्रकारान्तरेण यदि भवति, तर्हि तथै-  
वास्त्विति, अन्योन्यापेक्षया उभयोरपीतरत्वम् । अपस्याद्युपधानेना-  
न्नादिसम्पादनं केन विवक्षितं मिति, तत्राह—“इति ह स्माह  
श्राष्ट्रित्य इति । केनापि तेनाभिप्रायेणैव मुक्तं मित्यत आह—  
“सर्वानेवेति । ‘सर्वानेव पशून्’ ‘कृत्स्नान्’ कात्कर्त्येन ‘संस्कुर्मः’  
सर्वावयवसम्पादनेन समृद्धान् ‘कुर्मः’ ‘इति’ अभिप्रायेण, तथोक्तं  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

प्रकारान्तरेणाप्यपस्यानां सुपधानं प्रशंसति—“यदेवेति ।  
विस्त्रस्तावयवात् ‘प्रजापतेः’ ‘आपः’ ‘आयन्’ निर्गताः । ततः  
‘तासु’ निर्गतासु ‘अविशत्’ अपविष्टवान् \* । अपां निर्गमनेन  
दौर्बल्याद् गन्तुं मक्षमः †, तथैवापविष्टवानित्यर्थः । ततश्चाप-  
वेशनसाधनत्वात् अपस्या ‘विंशतिः’ सम्पन्नाः । यद्यपि  
“तथाः पञ्चदश पूर्वास्ता अपस्याः”—इत्युक्तम् ‡, तथापि छन्द-  
स्यासाहित्येनात्र विंशतिरित्युक्तम् । सर्वासां वापस्याशब्दे-  
नाभिधानं भूयोलिङ्गात् “खटोरुपदधातीतिवत् § । अथ वा  
“तथा अस्यैतेभ्यश्छन्दोभ्य आप आयन्निति ॥ वक्ष्यमाणत्वात्, सर्वा

\* ‘अपविष्टवान्’—इति ड-पाठः ।

† ‘मक्षमो भूत्वा’—इति ज-पाठः ।

‡ इहैव पुरस्तात् ४१-कण्टिकारम्भे ( ३८२ पृ० ) दृश्यम् ।

§ “खटोरुपदधाति यथाखट मेव व्यवस्ये”—इति तै० सं० ५. ३. ४. १६ ।

॥ इहैवोपरिष्ठात् ६१-कण्टिकां ( ३६७ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

अप्यपस्या भवन्तीति । आपो निर्गमनावसरे 'अस्य अङ्गुलिभ्यो-  
ऽध्यस्त्रवन्' । निर्गच्छन्तीना मया मस्य प्रजापतेः अन्ततो  
निर्गमनाद् , अङ्गुलीनां चान्तत्वादिति ॥ ४४ ॥

एवं सति "स यः स प्रजापतिर्व्यस्त्रंसतेति । 'सोऽय मेव', 'सः'  
इदानीम् 'अग्निश्चोयते' । 'अथ' प्रजापतेः सकाशाद् 'याः' आपः  
निर्गताः , 'ता अपस्याः' । ततश्चैतासा मत्प्रोपधाने ततो निर्गता  
अप एव 'प्रतिदधाति' ॥ ४५ ॥

अथ क्रमेण तासा सुपधाने मन्वान् प्रदर्शयन् व्याचष्टे—  
"अपां त्वेमन्नित्यादिना \* । यदा हि एष वायुरितस्येतश्च वाति ,  
तदा 'आपः' 'यन्ति' चलन्ति ; अतश्च वायुरनेन यन्त्याप इति  
व्युत्पत्त्या 'एम' † । "इण् गतौ"—इत्यस्मात् ‡ "अन्वेभ्योऽपि  
दृश्यन्ते"—इति § मनिन् प्रत्ययः । स च व्यत्ययेन करणे दृष्टव्यः ।  
"एमन्नादिषु कृन्दसि पररूपम् वक्तव्यम्"—इति ॥ पररूप-  
त्वम् ॥ ४६ ॥

"अपां त्वोन्नन्निति ¶ । "यत्र हीति । आपो यत्र प्रदेशे उद-  
त्यस्तिष्ठन्ति , तत्र ओषधयो जायन्ते इति , अधिकरणव्युत्पत्त्या  
'अपा मोन्नन्नोषधयः' । "उन्दो क्लेदने"—इत्यस्मात् \*\* पूर्ववत्

\* का० श्रौ० सू० १७. ६. २ ।

† वा० सं० १३. ५३. १ ।

‡ अदा० प्र० ३५ घा० ।

§ पा० सू० ३. २. ७५ ।

॥ पा० ६. १. ७० सू० वा० ।

¶ वा० सं० १३. ५३. २ ।

मनिन् प्रत्ययः । छान्दसे अनुनासिकलोपे, गुणे च ओझ-  
न्निति भवति । पूर्ववत् पररूपत्वम् \* ॥ ४७ ॥

“अपां त्वा मिति † । “अभ्रं वा अपां भस्मेति । ‘अभ्र’  
मेघः, स चाप्सु निर्गतासु निस्सारत्वादपाभस्मेत्युच्यते । एवं  
भस्म मेघः । “भस्मन्निति “सुपां सुलुगित्वादिना ‡ सप्तम्या  
लुक्, “न डिसम्बुद्धोः”-इति § न-लोपाभावः ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

“अपां त्वायन इति ॥ । “इयं वा अपा मयन मिति । सर्वा  
अप्यापः पृथिवी मधिष्ठायैव प्रवहन्तीति । “तद्या इति ।  
‘तत्’ तदा विस्त्रंसनावसरे खलु ‘अस्य’ प्रजापतेः ‘एतेभ्यः’  
वाय्वादिभ्यो ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः, तथाविधाः ‘ताः’  
अप एव ‘अस्मिन्’ प्रजापतौ प्रतिदधाति । न केवल मपा मेव  
प्रतिधानम्, अपि तु ‘एतेभ्यः’ येभ्यः ‘रूपेभ्यः’ ‘आपः’ निर्गताः,  
तेषां अपि तदा निर्गतत्वात् तान्यपि पुनरस्मिन् योजयति ॥

उक्तमन्त्रसाध्योपधानाः पञ्चेष्टकाः पूर्वस्थां दिशि उप-  
दध्यात् । एवं वक्ष्यमाणमन्त्रसाध्योपधाना अपोष्टकाः पञ्च-  
पञ्च दक्षिणादिषु दिक्षु उपधेयाः ॥ ५० ॥

“अर्णवे त्वेति ¶ । “प्राणो वा अर्णवः इति । अर्णो जलम्,

\* इहेव ४६-कण्ठीभाष्येणो द्रष्टव्यः ।

† वा० सं० १३. ५३. ३ ।

‡ पा० सू० ७. १. ३६ ।

§ पा० सू० ८. २. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ५ ।

¶ वा० सं० १३. ५३. ६ ।

तद्वान् । अर्णःशब्दात् मत्वर्थीये व-प्रत्यये “अर्णसो लोपश्च”-  
इति \* सकारलोपः । अर्णवत्त्वं च प्राणेन जलस्य चीयमान-  
त्वादिति ॥ ५१ ॥

“समुद्रे त्वेति † । “तदेव श्लोकोऽभ्युक्त इति । “मनसः  
समुद्राद्वाचाभ्यां देवास्त्रयीं विद्यां निरखनम्”—इत्यस्मिन्नर्थे  
‘एषः’ वक्ष्यमाणो मन्त्रः ‘अभ्युक्तः’ इति प्रतिज्ञा । तत्र “ये  
समुद्रादित्यारभ्य, यत्र निर्वपणं दधुः”—इत्यन्तो मन्त्रः ‡ । एत-  
स्मिन् मन्त्रे स्वयं मेव प्रकृतोपयोगीनि पदानि व्याचष्टे— “मनः  
समुद्र इति । ‘समुद्रादिति पञ्चम्यन्तस्य पदस्यार्थी ‘मनः’ ।  
तीक्ष्णाभिरन्निभिरित्यस्य वागर्थः— “वाक् तीक्ष्णाभिरिति ।  
‘निर्वपण मित्यस्य च ‘त्रयी’ ऋग्यजुस्सामलक्षणा ‘विद्या’  
अर्थः । पुनः “तदेव श्लोक इत्युपसंहारः । अत उक्तप्रकारेण  
‘समुद्रो मन इति, मनस्येव ‘ताम्’ दृष्ट्वा ‘सादयति’ ॥ ५२ ॥

“सरिरे त्वेति § । “वाग्वै सरिर मिति । सरणवत्त्वेन वाक्  
सलिलं खलु ; अतो वाचि तां सादितवान् भवति ॥ ५३ ॥

“अपां त्वेति ॥ । “तत्र ह्येति । ‘तत्र’ चक्षुषि, ‘सर्वं’ च

\* पा० ५. २. १०६ छ० वा० ।

† वा० सं० १३. ५३. ७ ।

‡ “ये समुद्रान्निरखन् देवास्तीक्ष्णाभिरन्निभिः ।

सुदेवो ऽयं तद् विद्यां यत्र निर्वपणं दधुः ॥”

—इतीहैव मूले ( ३८६ पृ० ) द्रष्टव्यम् ।

§ वा० सं० १३. ५३. ८ ।

॥ वा० सं० १३. ५३. ९ ।

आपः' 'क्षियन्ति' निवसन्ति खलु , अतः 'चक्षुरपां क्षयः' ॥ ४५ ॥

“अपां त्वा सधिषीति \* । अत्र 'अपां सधिः'-इति सधिशब्देन स्थानं सुच्यते ; श्रोत्रस्यान्तरार्द्धाभावात् । एतच्च तैत्तिरीयके श्रूयते— “तस्मादार्द्धा अन्तरतः प्राणा इति † ॥ ५५ ॥ ५६ ‡ ॥

“अपां त्वा सधस्य इति § । 'सधश्छ' इति , “सध मादस्ययो-  
श्छद्सि”—इति ॥ सह-शब्दस्य सधादेशः । आपोऽग्निं सन्भूय तिष्ठन्तीति अन्तरिक्षं मपां सधस्यम् ॥ ५७ ॥

“अपां त्वा योनाविति ¶ । “समुद्रो वा अपां योनिरिति । समुद्रस्य सकाशादपां सुत्वत्तेः 'अपां योनिः समुद्रः' ॥ ५८ ॥

“अपां त्वा पुरीष इति \*\* । “सिकता वा अपां पुरीष मिति । भुक्तस्य निस्सारोऽंशो लोके पुरीषशब्दवाच्यः ; तद्वत् सिकतानां मपि निस्सारत्वादपाम्पुरीषत्वम् ॥ ५९ ॥

“अपां त्वा पाथसीति †† । “अन्नं वा इति । 'पाथः' सारांशः, अन्नस्य तत्सम्पाद्यत्वेन तत्सारत्वादन्नं मपाम्पाथः ॥ ६० ॥

“गायत्रेणेति ‡‡ । “गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामीत्यादिभिः

\* वा० सं० १३. ५३. १० ।

† ते० सं० ६. २. ११. ८ ।

‡ वा० सं० १३. ५३. ११ ।

§ वा० सं० १३. ५३. १२ ।

॥ पा० छ० ६. ३. ८६ ।

¶ वा० सं० १३. ५३. १३ ।

\*\* वा० सं० १३. ५३. १४ ।

†† वा० सं० १३. ५३. १५ ।

‡‡ का० श्री० छ० १७. ६. ३ ।



पञ्चभिर्मन्त्रैः \* उत्तरस्यां दिशि छन्दस्या उपदध्यात् । गायत्रेण-  
त्यादिषु स्वार्धिकोऽण् प्रत्ययः । स्पष्टार्थं मन्यत् ॥ ६१ ॥

अथासा मपस्याना मङ्गुल्यात्मकत्व माह — “ता एता अङ्गु-  
लय इति । “ता अस्याङ्गुलिभ्योऽध्यस्त्रवन्”-इत्युक्तत्वात् † ‘ताः’  
अपस्याः ‘अङ्गुलयः’ इत्यर्थः । उक्त मेवाङ्गुल्यात्मकत्व मुपपाद-  
यति — “ताः सर्वत उपदधातीत्यादिना । तत्र ‘नानोपद-  
धातीति , पृथक्-पृथगुपदधाति , उपधानमन्त्राः पृथक्-पृथग्  
भवेयुरित्यर्थः । “सक्तदिति । पञ्चानां पञ्चानां सक्तत् सादन-  
मन्त्रः ; न तु उपधानमन्त्रवत् प्रतीष्टक मित्यर्थः । एवं च  
सति तदिष्टकानां स्वरूपं , समानसम्बन्धं करोति । ‘तस्मात्’  
अङ्गुलयः पञ्च ‘समानबन्धनाः’ एकस्मिन्नेव हस्ते पञ्च-पञ्च  
सम्बध्यन्त इत्यर्थः ॥ ६२ ॥ २ [५. २.] ॥

इति श्रीसायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशि

माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये

सप्तमकाण्डे पञ्चमेऽध्याये द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

वेदार्थस्य प्रकाशिन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थांश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ५ ॥

\* वा० सं० १३. ५३. १६—२० ।

† इहैव ४४-कण्ठी ( ३८४ पृ० ) द्रष्टव्या ।

ब्रह्माण्डं गोसहस्रं कनकहयतुलापूरुषी स्वर्णगर्भम् ,  
 सप्ताब्धीन् \* पञ्चसीरीं†-स्त्रिदशतरुलताधेनुसौवर्णभूमीः ।  
 रत्नोत्सां रुक्मवाजिद्विपसहितरथौ सायणिः ‡ सिङ्गणार्यो § ,  
 व्यश्राणोद्विष्वचक्रं प्रथितविधिमहाभूतयुतं घटञ्च ॥  
 धान्याद्रिं धन्यजम्भा तिलभव मतुलः स्वर्णजं वर्णसुरथः ,  
 कार्पासीयं कृपावान् गुडकृत मजडो ॥ राजतं राजपूज्यः ।  
 प्राज्योत्थं प्राज्यजम्भा ¶ लवणज मट्टणः शार्करं चार्कतेजाः ,  
 रत्नाढ्यो रत्नरूपं गिरि मकृत मुदा पात्रसाक्षिङ्गणार्यः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-  
 श्रीहरिहरमहाराजसाम्राज्यधुरन्धरेण  
 सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे  
 माध्यन्दिनशतपथब्राह्मणभाष्ये  
 सप्तमकाण्डे पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥ ५ ॥

॥ इति सप्तमकाण्डे चतुर्थप्रपाठकश्च समाप्तः \*\* ॥

- \* 'पञ्चाब्धीन्'—इति ठ-पाठः । † 'सप्तसीरीं'—इति ठ-पाठः ।  
 ‡ 'सायणः' स्यात् ? § स्यात् 'सिङ्गणार्यो' ?  
 ॥ 'मजडं'—इति ठ-पाठः । ¶ 'प्राज्यबुद्धिर्'—इति ठ-पाठः ।  
 \*\* इत उत्तर मिष्ट क-पुस्तके "कण्डिकासङ्ख्या ७५"—इति, ख-पुस्तके-  
 'न्यपत्रं' नास्ति, ग-घ-पुस्तकयोः "कण्डिकासङ्ख्या १००"—इति । तत्र  
 १ ब्रा० ३८ क०, २ ब्रा० ६२ क०; तदासां सङ्कलनयास्मिन् प्रपाठके  
 १०० कण्डिकाः सम्पद्यन्ते ॥

॥ इति हस्तिघट' नाम सप्तमं काण्डं \* समाप्तम् ॥

---

\* अत्र सप्तमे काण्डे ब्राह्मणसंख्या द्वादश । तत्र प्रथमे प्रपाठके ४ ,  
द्वितीये ४ , तृतीये २ , चतुर्थे २ । एषु ब्राह्मणेषु कण्डिकाः ३६८ ।  
तत्र प्रथमे प्रपाठके १०८ , द्वितीये १०५ , तृतीये ८५ , चतुर्थे १०० ।  
तदेतत्सर्वसङ्कलनयान् काण्डे १९ ब्राह्मणानि श्रुतानि , तत्र च ३६८  
कण्डिकाः सन्तीति सिद्धम् ।

|                                            |           |           |     |
|--------------------------------------------|-----------|-----------|-----|
| शकलप्रक्षेपमन्त्रविधिसूद्याख्यानादिकच्च.   | ४. २. ११. | ...       | ३६४ |
| शर्कराभिः परिश्रयणविधानम्.                 | ...       | १. १. १२. | २६  |
| शालाहार्योपस्थानम्.                        | ...       | १. ४. १.  | १०४ |
| कङ्कचे सप्तानां कृन्द्वा मन्त्रभाववर्णनम्. | २. ३. ४१. | ...       | १६४ |
| संस्कृतगाह्यपद्यायतनस्येष्टकाभिश्चयनविधिः. | १. १. १७. | ...       | २७  |
| सत्यसामगानविध्यनुवादादि.                   | ...       | ३. १. ३.  | २४७ |
| समन्तकं सिकताभिर्मर्षणम्.                  | ...       | २. ३. १२. | १७३ |
| समन्तकं सुपोत्थानविधानादि.                 | ...       | १. ३. १८. | ६५  |
| सर्पसामभिः पुरुषस्योपधानविध्यादि.          | ...       | ३. १. २५. | २६४ |
| सापिसिद्धिं क्रतौ सोमक्रयकालविधिः.         | ...       | २. ३. १.  | १६७ |
| सिकतानां निवपनविधिः.                       | ...       | १. १. ६.  | २२  |
| सिकतानिवपनमन्त्रविधिः.                     | ...       | १. १. ११. | २२  |
| सिकतापूर्णाया उखाया मध्ये तूष्णीं पयस      |           |           |     |
| आसेचनविध्यादि.                             | ...       | १. १. ४४. | ४८  |
| सीरयोजनमन्त्रस्य विधियाख्याने.             | ...       | १. ४. ४.  | १०६ |
| सीरयोजनाय काष्ठनिरूपणादि.                  | ...       | १. ४. ३.  | १०६ |
| सीरादनडुद्धिमोचनविध्यादि.                  | ...       | १. ४. २१. | १२० |
| खदहोहसो निषेधोपपादनम्.                     | ...       | १. १. १५. | २५  |
| क्षारणचर्मणोऽनडुद्धिकारत्वादिविधानम्.      | २. ४. २.  | ...       | ३०६ |
| सुचोरुपधानविध्यादि.                        | ...       | ३. १. ३६. | २७१ |
| सुचोरुपधाने मन्त्रविध्यादि.                | ...       | ३. १. ४१. | २७३ |

|                                         |               |     |
|-----------------------------------------|---------------|-----|
| खयमाहसाया मन्त्रविधियाख्याने. ...       | ३. २. ५. ...  | २६३ |
| खयमाहसोपधानविध्यादि. ...                | ३. २. १. ...  | २६३ |
| हिरण्यपुरुषोपधानमन्त्रस्य विधियाख्याने. | ३. १. १६. ... | २६० |

---

## ॥ मूलपाठशुद्धिपत्रम् ॥



| अशुद्धम्           | शुद्धम्           | प्र० | ब्रा० | क०     | पृष्ठे |
|--------------------|-------------------|------|-------|--------|--------|
| सव्यां             | सर्व्यां          | ...  | १.    | १. ८.  | ...    |
| अये-               | अन्ने-            | ...  | १.    | १. १०. | ...    |
| अयं                | अयं               | ...  | १.    | १. १३. | ...    |
| व्यचः              | व्यर्चः           | ...  | १.    | १. २३. | ...    |
| स उदर०             | स उदर०            | ...  | १.    | २. २२. | ...    |
| यम्या              | यम्या             | ...  | १.    | ३. १०. | ...    |
| वीर्ये             | वीर्यं            | ...  | २.    | ३. १८. | ...    |
| उपादीप्ति          | उपादीप्ति         | ...  | २.    | ३. २१. | ...    |
| मात्मन्नु०         | मात्मन्नु०        | ...  | २.    | ३. २१. | ...    |
| ०दृतस्य            | ०दृतस्य           | ...  | २.    | ३. २३. | ...    |
| ०दात्मन्नेतो       | ०दात्मन्नेतो      | ...  | २.    | ३. २८. | ...    |
| मानुनेत्य०         | मानुनेत्य०        | ...  | २.    | ३. २०. | ...    |
| ब्राह्मण           | ब्राह्मण          | ...  | २.    | ३. ४२. | ...    |
| मपश्यन्न सु        | मपश्यन्नसु        | ...  | २.    | ४. १०. | ...    |
| पुरस्ताद् रक्षांसि | पुरस्ताद्रक्षांसि | ...  | २.    | ४. १०. | ...    |
| मेत                | मेतं              | ...  | २.    | ४. १८. | ...    |
| ०पाप्मन            | ०पाप्मान          | ...  | ३.    | १. १.  | ...    |

( ख )

| अशुद्धम्                       | शुद्धम् | प्र० ब्रा० क० |
|--------------------------------|---------|---------------|
| तिष्ठा० ... तिष्ठ०             | ...     | ३. १. २. ...  |
| पुष्कपपर्ण ... पुष्करपर्ण      | ...     | ३. १. १३. ... |
| ०दर मद्यत् ०दरमद्यत्           | ...     | ३. १. ३८. ... |
| ०चिक्र मिषत्तत् ०चिक्रमिषत्तत् | ...     | ४. १. १७. ... |
| तद भव० ... तदभव०               | ...     | ४. १. २१. ... |
| ०ती मे वै ... ०तीमे वै         | ...     | ४. २. ३४. ... |

---

B. & R. 693

Received on...12 MAR 19

Acknowledged on...12 MAR







